श्रीः

राष्ट्रपतिभवन में विघटित पञ्चदिवसीय

व्याख्यानों की

प्रस्तावना

[लेखक—महामहिम राष्ट्रपति श्रीराजेन्द्रप्रसादजी महाभाग
राष्ट्रपतिभवन—नई दिल्ली]

श्रीः

प्रस्तावना

जयपुर के वैदिक विद्वान् स्वर्गीय पं० मधुसूदन ओझा, और उनके शिष्य श्री पण्डित मोतीलालजी शास्त्री के वेद-सम्बन्धी व्याख्या-कार्य का परिचय मुझे जब श्री वासुदेव-शरणजी ने बताया, तो मेरी इच्छा हुई कि मैं पण्डित जी को आमन्त्रित करके उनका दृष्टिकोण सुनूँ। मैंने उनके पाँच व्याख्यान अपने यहाँ कराए। उनमें और भी विद्वानों को बुलाया। पण्डितजी के विषयमें मैंने कल्पना की थी कि भारतीय संस्कृति के विषय में कुछ अच्छी बात सुनूँगा और उससे मुझे लाभ होगा। पर भाषण सुनने के बाद मुझे लगा कि, मैंने जितना अनुमान किया था उससे कहीं अधिक मौलिक यह व्याख्या है। भारतीय संस्कृति के मूल विचारों की इसमें कुँजी है। मेरी दृष्टि में देश के अन्य विद्वानों को भी इसे देखना चाहिए कि, इसमें कितना सार है। श्रीवासुदेवशरणजी ने मुझे बताया है कि देश-विदेश में इस समय कहीं भी वैदिक साहित्य पर इसप्रकार का अनुसन्धान कार्य नहीं हो रहा है। मुझे यह भी ज्ञात हुआ है कि, पण्डित मोतीलालजी ने लगभग अस्सी हजार पृष्ठों

का साहित्य तैयार किया है। यह निधि रक्षा के योग्य है। मुझे आशा है कि, शासन इस सम्बन्ध में अपने कर्त्तव्य का पालन करेगा। पर मेरा अनुरोध जनता से भी है कि, वह इस महत्त्व के कार्य में रुचि ले, और ऐसा प्रबन्ध करे कि यह साहित्य ससार के सामने आ सके।

पण्डित मोतीलालजी ने अपने अध्ययन में बहुत परिश्रम किया है। उन्होंने वेद की सृष्टिविद्या के सम्बन्ध में अनेक नई बातें कहीं, और पुरानी परिभाषाओं का ऐसा अर्थ किया कि आजकल का बुद्धिवादी मानव भी उसमें रुचि ले सके। न केवल वेद की दृष्टि से उनके भाषण महत्त्वपूर्ण रहे, बल्कि उन्होंने पुराणों के साथ भी उन प्राचीन तत्त्वों का समन्वय किया, जैसा अन्तिम भाषण में मैंने सुना।

पण्डितजी को मैंने दिल्ली में बुलाकर जो आयोजन किया वैसा फिर भी किया जा सकता है। इससे सामयिक लाभ होता है। पर मेरी इच्छा है कि, शास्त्र की यह परम्परा आगे चलनी चाहिये। इसलिये पण्डितजी के पास छात्रों को पढ़ना चाहिये। ऐसा प्रबन्ध करना आवश्यक है कि जैसे पं० मधुसूदनजी से इस वैदिक तत्त्व ज्ञान का अध्ययन पं० मोतीलालजी ने किया, उसी प्रकार योग्य मेधावी

छात्र मोतीलालजी के पास पाँच, दस, वर्ष रहकर विधिपूर्वक ऋग्वेद, शतपथब्राह्मण आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का अध्ययन करें जिससे यह परम्परा आगे बढ़े। मुझे श्री वासुदेवशरण जी से यह जानकर प्रसन्नता हुई कि इस कार्य को सफल बनाने के लिये जयपुर में वैदिकतत्त्वशोधसंस्थान की स्थापना की गई है। मैंने इस संस्था का संरक्षण होना स्वीकार कर लिया है और मैं इस कार्य की उन्नति चाहता हूँ। मुझे आशा है कि, शासन और जनता दोनों का सहयोग इस संस्था को प्राप्त होगा। जिस समय ये भाषण हुए, तभी यह विचार हुआ कि, इन्हें प्रकाशित कर दिया जाय जिससे कि वे विद्वान् भी, जो उपस्थित नहीं हो सके थे, इनसे लाभ उठा सकें। मैंने इसे बहुत अच्छा समझा, और मुझे प्रसन्नता है कि अब ये भाषण प्रकाशित हो रहे हैं।

शिवरात्रि, ई० ५ ११
राष्ट्रपतिभवन नई दिल्ली

राजेन्द्रप्रसाद

महामहिम राष्ट्रपति डॉ० श्रीराजेन्द्रप्रसादजी द्वारा प्राप्त
'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान' मानवाश्रम दुर्गापुरा (जयपुर)
का 'प्रधानसंरक्षकतानुगत–प्रमाणपत्र' अत्यन्त सम्मान से यहाँ उद्धृत हो रहा है–

भारत के राष्ट्रपति

डा॰ राजेन्द्र प्रसाद

राजस्थान-वैदिक तत्त्वशोध संस्थान-जयपुर

का

प्रधान संरक्षक

बनने की स्वीकृति प्रदान करते हैं

मिलिटरी सेक्रेटरी ऑफिस राष्ट्रपति भवन नई दिल्ली	भारत के राष्ट्रपति के आदेशानुसार (हस्ताक्षर) (सुजान सिंह) मेजर जनरल

राष्ट्रीय 'संस्कृति' के सम्बन्ध में गम्भीर विचार-विमर्श करते हुए राष्ट्रपति डॉ० श्रीराजेन्द्रप्रसाद महाभाग, एवं संस्थान के मन्त्री डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

श्री

पञ्चादिवसीय व्याख्यानों की भूमिका

[प्रो० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल एम्. ए. पी. एच्. डी.
प्राध्यापक पुरातत्त्वविभाग काशीहिन्दूविश्वविद्यालय]

श्रीः

पञ्चादिवसीय व्याख्यानों की भूमिका

[प्रो० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल एम्. ए. पी. एच् डी.
प्राध्यापक पुरातत्त्वविभाग काशीहिन्दूविश्वविद्यालय]

न्यद्विशतीय व्याख्यानों की

नका

ल एम॰ ए॰ पी॰ एच्॰ डी॰ लिट्॰

ग काशीहिन्दूविश्वविद्यालय]

व्याख्यान मुद्रित हैं, जो पं॰ मोतीलालजी
दिल्ली में १८ दिसम्बर से १८ दिसम्बर तक
ी शास्त्री ने वैदिक सृष्टि-विद्या के अन्वेषण
नका राष्ट्रीय महत्त्व है। वैदिक परिभाषाओं की
श में तो अन्यत्र कहीं भी देखने में नहीं आती,
नहीं है। अतएव जब मैंने पण्डितजी के कार्य के
तो मैंने अपना यह आवश्यक कर्तव्य समझा कि
राष्ट्रपति श्रीराजेन्द्रप्रसादजी से उस कार्य के सम्बन्ध
। सौभाग्य से राष्ट्रपतिजी ने अपनी सहज प्रज्ञा
ी, और शास्त्रीजी को व्याख्यानों के लिए न्त्रित
न उन्हीं की उपस्थिति में हुये और राज अन्य
र भी इनमें उपस्थित थे। सभी ने मुक्तकण्ठ
ा की प्रशंसा की। महामहिम राष्ट्रपति ज
जितना अनुमान किया था,
तान् वेदों की यह व्याख्या
ृति और साहित्य की इसमें कुञ्जी
। उसी समय यह निश्चय

श्री

राष्ट्रपतिभवन में विघटित पञ्चदिवसीय व्याख्यानों की

भूमिका

[ले० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल एम्० ए० पी० एच् डी लिट्
प्राध्यापक पुरातत्त्वविभाग काशीहिन्दुविश्वविद्यालय]

इस संग्रह में वे पाँच व्याख्यान मुद्रित हैं, जो प० मोतीलालजी शास्त्री ने राष्ट्रपतिभवन नई दिल्ली में १४ दिसम्बर से १८ दिसम्बर तक दिये थे। पं० मोतीलालजी शास्त्री ने वैदिक सृष्टि-विद्या के अन्वेषण का जो कार्य किया है, उसका राष्ट्रीय महत्त्व है। वैदिक परिभाषाओं की ऐसी व्याख्या अपने देश में तो अन्यत्र कहीं भी देखने में नहीं आती, और विदेश में भी नहीं है। अतएव जब मैंने पण्डितजी के कार्य के महत्त्व को समझा, तो मैंने अपना यह आवश्यक कर्त्तव्य समझा कि भारत के महामहिम राष्ट्रपति श्रीराजेन्द्रप्रसादजी से उस कार्य के सम्बन्ध में निवेदन करूँ। सौभाग्य से राष्ट्रपतिजी ने अपनी सहज प्रज्ञा से इसमें रुचि ली, और शास्त्रीजी को व्याख्यानों के लिए आमन्त्रित किया। व्याख्यान उन्हीं की उपस्थिति में हुये और राजधानी के अन्य कितने ही विद्वान् भी इनमें उपस्थित थे। सभी ने मुक्तकण्ठ से व्याख्याता और व्याख्यानों की प्रशंसा की। महामहिम राष्ट्रपति जी ने अन्त में कहा—"मैंने जितना अनुमान किया था, उससे कहीं अधिक मौलिक और मूल्यवान् वेदों की यह व्याख्या मुझे विदित हुई। समस्त भारतीय संस्कृति और साहित्य की इसमें कुञ्जी है, एवं यह निधि रक्षा के योग्य है"। उसी समय यह निश्चय हुआ कि, भाषणों को लिखित

रूप में परिवर्तित करके मुद्रित कराया जाय, जिससे देश के अन्य विद्वान्, जिन्हें इस विषय में रुचि है-इनके महत्त्व को समझें, और अपने राष्ट्र की प्रज्ञा को सांस्कृतिक चिन्तन की नई दिशा प्राप्त हो।

पं० मोतीलालजी का दृष्टिकोण, और अध्ययन का कार्य क्या है ?, इस विषय में कुछ जानना आवश्यक है। इसी अर्ध शताब्दी में जयपुर में पं० मधुसूदन ओझा वेदों के विशिष्ट विद्वान हुये। उन्होंनें अपने जीवन के लगभग पचास वर्षों तक एक निष्ठा से वेदों का चिन्तन किया। फलस्वरूप वैदिक विज्ञान के सम्बन्ध में उन्होंनें लगभग दोसौ ग्रन्थों की रचना की, जो दो-एक को छोड़कर प्राय सभी संस्कृत में हैं। अकेले नासदीय सूक्त पर उन्होंनें दस ग्रन्थ लिखे हैं-जिनमें सदसद्वाद, रजोवाद, व्योमवाद, अपरवाद, अम्भोवाद, अमृतमृत्युवाद, अहोरात्रवाद, आदि शीर्षक से प्राचीन तत्त्वज्ञानियों के सृष्टिविज्ञान-सम्बन्धी विचारों की व्याख्या की गई है। और भी ब्राह्मणग्रन्थ, यज्ञविद्या, एवं वैदिक परिभाषाओं के सम्बन्ध में मधुसूदनजी ने प्रभूत रचना की है। उनके लगभग पचास ग्रन्थ अभी छपे हैं, शेष प्रकाशित होने हैं।

पं० मोतीलालजी शास्त्री पं० मधुसूदनजी के मेधावी शिष्य हैं। इन्होंनें लगभग २० वर्षों तक पण्डितजी से वेदशास्त्रों का अध्ययन किया, और ब्रह्मविज्ञान या सृष्टिविद्या सम्बन्धी उन परिभाषाओं को समझा, जो वैदिक साहित्य का मूल आधार है। यों तो वैदिक मन्त्रों का भाष्य कितने ही विद्वानों ने किया है। किन्तु वैदिक शब्दावली, और परिभाषाओं का स्पष्टीकरण बहुत कम देखने में आता है। पश्चिमी विद्वानों नें पिछले सौ वर्षों में जो व्याख्यायें की हैं, उनसे और जो चाहे हुआ हो-वैदिक सृष्टिविद्या की दृष्टि से वे निष्फल ही रही हैं। बार बार उन विद्वानों को यह लिखना पड़ता है कि-ये मन्त्र या प्रतीक अस्पष्ट हैं। जैसा भी ई० जे० टोमस ने लिखा है-"हमारी व्याख्याओं का मार्ग अवरुद्ध है, और

कोई भी दृष्टिकोण सर्वसम्मत नहीं हो पारहा है। लुडविग, केगी, पिशल, गोल्डनर, ओल्डेनबर्ग आदि जर्मन विद्वानों, अथवा बेरगेज, रेग्नो हेनरी आदि फ्रेंच विद्वानों के कार्य को देखकर यही कहना पड़ता है कि, वैदिक अध्ययन की दिशा स्वस्थ नहीं है। हमें पश्चिम में इसका भान हो रहा है कि, यह महती समस्या सुलझी नहीं है। भाषाशास्त्र, अथवा देवताओं के प्राकृतिक रूप को मान कर जो व्याख्याएँ की गईं, वे मृगमरीचिका सिद्ध हुई हैं, यद्यपि कुछ अंग्रेजीभाषी लोग अभीतक उनके पीछे दौड़ रहे हैं।"

ये उद्‌गार एकदम सच्चे हैं। अंग्रेजी पद्धति से वेदों तक पहुँचने वाले भारतीय विद्वानों की भी यही कठिनाई है। और यह कहा जा सकता है कि, अपने विश्वविद्यालयों में जिस आधार पर हम वैदिक मन्त्रों को समझने का प्रयत्न करते हैं, वह मृगमरीचिका के पीछे दौड़ने के समान ही है। इन्द्र को मेघ मान कर उसके स्वरूप की व्याख्या, या भौतिक अग्नि के रूप में अग्नितत्त्व की व्याख्या इसी प्रकार के अधूरे प्रयत्न हैं। इधर भी डॉ० आनन्दकुमार स्वामी ने स्वतन्त्र रूप से वैदिक प्रतीकों की व्याख्या की, जिससे यह सूचित हुआ कि, वैदिक तत्त्वविद्या अन्य देशों की तत्त्वविद्याओं की कुञ्जी है। इसे वे सनातन तत्त्वज्ञान, या 'फिलसोफिया पेरेनिस' (Philsophia perennis) कहते थे। इस समय भारतीय अध्ययन की दशा यह है कि, यहाँ के दार्शनिक विद्वान् उपनिषदों पर तो ध्यान देते हैं, किन्तु वैदिक संहिताओं की ओर से उदासीन हैं। इस सम्बन्ध में श्रीकुमार स्वामी का कथन ध्यान देने योग्य है—

"मैं नहीं मानता कि–उपनिषदों में किसी ऐसे तत्त्व का उपदेश है, जिसका परिज्ञान वैदिक ऋषियों को नहीं था। यह भी नहीं माना जा सकता कि, वैदिक मन्त्रों के कर्त्ताओं ने ऐसे-वैसे ही कुछ कह डाला हो, जिसका अर्थ उन्होंने ठीक न समझा हो। मन्त्रों की अध्यात्म-विज्ञान, परक अविचल संगति सिद्ध करती है कि, उनके रचयिता ऋषियों के मन

रूप में परिवर्तित करके मुद्रित कराया जाय, जिससे देश के अन्य विद्वान् जिन्हें इस विषय में रुचि है-इनके महत्त्व को समझें, और अपने राष्ट्र की प्रज्ञा को सांस्कृतिक चिन्तन की नई दिशा प्राप्त हो।

पं० मोतीलालजी का दृष्टिकोण, और अबतक का कार्य क्या है?, इस विषय में कुछ जानना आवश्यक है। इसी अर्ध शताब्दी में जयपुर में पं० मधुसूदन ओझा वेदों के विशिष्ट विद्वान् हुये। उन्होंने अपने जीवन के लगभग पचास वर्षों तक एक निष्ठा से वेदों का चिन्तन किया। फलस्वरूप वैदिक विज्ञान के सम्बन्ध में उन्होंने लगभग दोसौ ग्रन्थों की रचना की, जो दो-एक को छोड़कर प्राय सभी संस्कृत में हैं। अकेले नासदीय सूक्त पर उन्होंने दस ग्रन्थ लिखे हैं-जिनमें सदसद्वाद, रजो वाद, व्योमवाद, अपरवाद, अम्भोवाद, अमृतमृत्युवाद, अहोरात्रवाद, आदि शीर्षक से प्राचीन तत्त्वज्ञानियों के सृष्टिविज्ञान-सम्बन्धी विचारों की व्याख्या की गई है। और भी ब्राह्मणग्रन्थ, यज्ञविद्या, एवं वैदिक परिभाषाओं के सम्बन्ध में मधुसूदनजी ने प्रभूत रचना की है। उनके लगभग पचास ग्रन्थ अभी छपे हैं, शेष प्रकाशित होने हैं।

पं० मोतीलालजी शास्त्री पं० मधुसूदनजी के मेधावी शिष्य हैं। इन्होंने लगभग २० वर्षों तक पण्डितजी से वेदशास्त्रों का अध्ययन किया, और ब्रह्मविज्ञान या सृष्टिविद्या सम्बन्धी उन परिभाषाओं को समझा, जो वैदिक साहित्य का मूल आधार है। यों तो वैदिक मन्त्रों का भाष्य कितने ही विद्वानों ने किया है। किन्तु वैदिक शब्दावली, और परिभाषाओं का स्पष्टीकरण बहुत कम देखने में आता है। पश्चिमी विद्वानों ने पिछले सौ वर्षों में जो व्याख्यायें की हैं, उनसे और जो चाहे हुआ हो-वैदिक सृष्टिविद्या की दृष्टि से वे निष्फल ही रही हैं। बार बार उन विद्वानों को यह लिखना पड़ता है कि-ये मन्त्र या प्रतीक अस्पष्ट हैं। जैसा की ई० जे० टोमस ने लिखा है-"हमारी व्याख्याओं का मार्ग अवरुद्ध है, और

प्राणविद्या, प्रवर्ग्य या उच्छिष्टविद्या, पर्य्यङ्कविद्या, संवर्गविद्या, पपट्कार विद्या, स्कम्भविद्या, हिरण्यगर्भविद्या, पवमानविद्या, वाजपेयविद्या, पञ्च ज्योतिविद्या, पञ्चाग्निविद्या, उक्थब्रह्मसामविद्या, मनोताविद्या, चाक्षुपपुरुष विद्या, वैराजिकविद्या आदि। ये विद्याएँ एक ओर सृष्टितत्त्व का, और उसी के साथ मानवीय जीवन या शरीररचनातत्त्व की व्याख्या करती हैं। प्रजापति का जो स्वरूप ब्रह्माण्ड में हैं, वही पिण्ड के प्रत्येक पर्व में है। मधुविद्या और उद्गीथविद्या को जाने बिना छान्दोग्य-उपनिषद् का अर्थ स्पष्ट हो ही नहीं सकता। वस्तुतः सूर्यविद्या का नाम ही सामविद्या है, जिसका उपनिषद् छान्दोग्य-उपनिषद् है। प्राण ही सृष्टि का महान् देवता है, प्राण से ही समस्त देवों का स्वरूप बनता है। अग्नि, वायु, आदित्य के रहस्य का परिचय प्राणविद्या का ही परिचय है। इसी प्राण विद्या की बहुविध व्याख्या मधुसूदनजी और मोतीलालजी के ग्रन्थों में पाई जाती है।

अर्वाचीन शती का मानव विश्व की पहेली को वैज्ञानिक दृष्टि से समझना चाहता है। आधुनिक वैज्ञानिक विश्व-रहस्य की मीमांसा करने में सचाई से लगे हुए हैं। सृष्टि का मौलिक तत्त्व क्या है ?, क्यों इसकी प्रवृत्ति होती है ?, इसके मूल में कौनसी शक्ति है ?, उसका स्पंदन किस कारण से हुआ ?, और किन नियमों से आज यह प्रवृत्त है ?, शक्ति की प्राणनक्रिया और स्थूल भौतिक पदार्थों में परस्पर क्या सम्बन्ध है ?, गति और स्थिति सदृश द्विविरुद्ध भावों का जन्म क्यों होता है ?, और उनका स्वरूप क्या है ?, इत्यादि रोचक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न हमारे सामने आ खड़े होते हैं। इनके समाधान का सच्चा प्रयत्न भारतीय ऋषिप्रज्ञा ने किया था। उसी तत्त्वदर्शन की संज्ञा वेद है। विश्व की मूल भूत शक्ति के स्वरूप और रहस्य के विषय में वैज्ञानिक तत्त्ववेत्ताओं ने इतना अब निश्चयपूर्वक जान पाया है कि, स्थूल भौतिक सृष्टि–जिसे हम

में उनके अर्थों की कल्पना स्पष्ट थी। मेरे विचार में भारतीय विद्वानों को उचित है कि, वे विश्वव्यापी सृष्टिविज्ञान का, जो जगत् के साहित्य में विद्यमान है, उपयोग करके वैदिक विज्ञान की व्याख्या और समर्थन करें। वेदों का अर्थ केवल भारतीय अध्यात्मविद्या, की व्याख्या न होकर विश्वव्यापी अध्यात्मविद्या की व्याख्या है। भारतीय आत्मविद्या की सहायता से पश्चिमी धर्मग्रन्थों के भी अनेक अभिप्रायों पर यथार्थ नया प्रकाश डाला जा सकता है। वेदों में मेरी रुचि उनके सत्य होने के कारण है, न कि उनके केवल भारतीय होने से। 'सनातनधर्म' या सनातनी आत्मविद्या किसी एक काल, देश या जनविशेष की सम्पत्ति नहीं है वह तो मानवजाति की जन्मसिद्ध सम्पत्ति है।"

क्या उपनिषद्, क्या वेद, और क्या ब्राह्मण, सभी को हम इसी दृष्टि से समझने की प्रतीक्षा कर रहे हैं, जिससे सनातनी सृष्टिविद्या और आत्म विद्या के प्रतीकों के रूप में हम उनका सच्चा परिचय प्राप्त कर सकें। जो विद्वान् इस दृष्टि से वैदिक तत्त्वार्थ के निकट पहुँचने में अर्थज्ञान का एक नया द्वार खोलता है, उसके कार्य का राष्ट्रीय महत्त्व है। न केवल भारतवर्ष में बल्कि संसार में जहाँ भी विद्वान् सृष्टिविद्या के सम्बन्ध में रुचि लेते हैं, उन सबके लिये पं० मोतीलालजी का यह कार्य मूल्यवान् है।

पं० मोतीलालजी शास्त्री ने अबतक लगभग ८० सहस्र पृष्ठों में वैदिक साहित्य का निर्माण किया है। जिसमें शतपथब्राह्मण का सम्पूर्ण भाष्य, प्रधान उपनिषदों के भाष्य, गीताविज्ञानभाष्य, एवं वेदार्थ को स्पष्ट करने वाले अन्य ग्रन्थ हैं। इनमें से लगभग दस सहस्र पृष्ठ का साहित्य प्रकाशित हो चुका है। शेष को प्रकाशित करने का क्रम चल रहा है। इन ग्रन्थों में आत्मविज्ञान की अनेक विद्याओं की व्याख्या की गई है। ये विद्याएँ सृष्टि की प्रक्रिया को समझने के अनेक दृष्टिकोण ही हैं, जैसे-प्रजापतिविद्या, सम्वत्सरविद्या, अक्षरविद्या, उद्गीथविद्या, मधुविद्या,

प्रजापति, अग्निसोम, दशाक्षर विराट्, सप्तारवसूर्य्य, छन्दःस्वरूप, वाक्-तत्त्व, सत्या, आम्भृणी, सरस्वती, बृहती, अनुष्टुप् भेद वाली वाक, लोक-गायत्री, ब्रह्म और सुब्रह्म, त्रयीवेद और अथर्ववेद का रहस्य, देवयान, पितृमाण, सैषा त्रयी विद्या तपति का रहस्य, एक सहस्र गौविवेचन, पुरोडाशविज्ञान, प्राणलक्षण अध्यात्मयज्ञ, वैश्वानर, वामन, घौम्य-सौम्य-ऐन्द्रविद्युत्, अत्ता-अन्न, कुमेरु-सुमेरु, वेदसूत्रनियति, दक्ष-अर्क-भोग, ज्योति-गौ-आयु, रेता-श्रद्धा-यश, वाक्-गौ-द्यौ, सोलह वलकोश, माया बल आभू, अभ्व, प्रष्टविद्या, स्वाहाविद्या, संस्रव, शंस्रव, पञ्चज्योतिः,-पुष्करपर्ण सरस्वान्, सरस्वती, मन प्राण, अथर्वाङ्गिरा, समुद्रव्योम, शिव वायु, यमवायु मातरिश्वा, अश्वत्थ, शिपिविष्टप्रजापति, कामकर्म्म-शुक्र, महासुपर्ण, हिरण्य अण्ड, स्वर्गेधरुण, मित्रावरुण, इन्द्रियमन, श्वोवसीयस्मन, वृषाकपि, वैवस्वत ब्रह्मसत्य, ऋषिप्राण, यज्ञशिल्प्य आदि। इस प्रकार की और भी सहस्रों परिभाषाओं का विवेचन पं० मोतीलालजी शास्त्री के साहित्य में पाया जाता है।

प्रस्तुत पाँच व्याख्यानों में भी अनेक परिभाषाओं का ही मुख्यरूप से विवेचन है। पहले भाषण में सम्वत्सरमूला अग्निविद्या का स्वरूप बतलाया गया है। सम्वत्सर महाकाल का एक सापेक्ष रूप है। जितने समय में पृथिवी अपने क्रान्तिवृत्त पर एक विन्दु से चल कर पुनः उस विन्दु पर लौट आती है, उसी अवधि की संज्ञा सम्वत्सर है। सृष्टि की आयु, और मानव की आयु सम्वत्सरात्मक गति पर ही निर्भर है। अग्नि ही सृष्टि का मूलभूत गतितत्त्व है। गत्यात्मक अग्नि का ही पूरक भाग आगत्यात्मक सोम है। गति-आगति अग्नि-सोम, प्राण-रयि, ये सब समानार्थक द्वन्द्व हैं। प्राणाग्नि को पिण्डरूप में परिणत कर देने वाला सोमतत्त्व ही रयि है। अग्नि-षोमात्मक सम्वत्सर की समस्त प्रक्रियाएँ तद्वत् मानवजीवन में अभिव्यक्त हो रही हैं। समस्त भूतजगत् को

भूतमात्रा, अर्धमात्रा, या वैदिक परिभाषा में वाक् कहते हैं, अन्ततोगत्वा शक्ति के स्पन्दन का ही परिणाम है। विश्व के सब पदार्थ मूलभूत शक्ति की रश्मियों के स्पन्दन से घनीभूत या व्यक्त हुए हैं। यह शक्ति ही विश्व की प्राणन-क्रिया है। भारतीय ऋषिप्रज्ञा के अनुसार यही प्राणविद्या है। किन्तु उनकी दृष्टि में प्राणनक्रिया का मूलस्रोत या आविर्भाव ब्रह्म तत्त्व से होता है, जो स्वयं अविकृत रहता हुआ भी अपनी शक्ति से इस विश्व का निर्माण और सञ्चालन करता है। भूत–भौतिक पदार्थ, और उनके मूल की प्राणशक्ति को ही वैदिक परिभाषा में क्रमशः क्षर और अक्षर कहा जाता है। इन दोनों का मूलहेतु कोई अव्यय पुरुष है, यही वैदिक दृष्टि-कोण की विशेषता है। हमें उचित है कि, शान्त मन, और जिज्ञासा के भाव से भारतीय दृष्टि, और पाश्चात्य दृष्टि की तुलना करके सृष्टिविद्या के सम्बन्ध में उनके भेद और साम्य को समझने का प्रयत्न करें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पहली आवश्यकता वैदिक परिभाषाओं की बुद्धि परक व्याख्या है, जिसके द्वारा अर्वाचीन मस्तिष्क उन सूत्रों को अपने ज्ञान के साथ जोड़ सकें।

पं० मोतीलालजी शास्त्री के विरचित ग्रन्थों में इन्हीं परिभाषाओं का विवेचन प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—अमृत–मृत्यु–प्रजापति, चन्द्रसोममयी श्रद्धा, अन्न–प्राण–मन का सम्बन्ध, स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य–चन्द्रमा–पृथिवी नामक पञ्चपर्वा, अनेक विध आत्मा, सप्त ऋषि, तैंतीस देवता मन–प्राण–वाक्–चक्षु–श्रोत्र पंच वैदिकविज्ञान-निरूपित इन्द्रियाँ, विज्ञानात्मा (बुद्धि) प्रज्ञानात्मा (मन), स्थिति-गति द्वारा ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र–अग्नि–सोम इन पाँच अक्षरों का निरूपण, विष्णु–इन्द्र की स्पर्धा हृदयविद्या या केन्द्रविद्या, षोडशीपुरुष, व्याहृतिरहस्य, वषट्कार, भृगु–अङ्गिरा–अत्रि का निरूपण, पञ्चाग्निविद्या, कश्यपस्वरूप, सविता–सावित्री–गायत्री और योषा–वृषा–प्राण हिरण्यगर्भ

इसी में हृदयविद्या का भी मार्मिक विवेचन किया गया है। वैदिक परिभाषा में हृदय, उक्थ, गर्भ, नाभि, अक्षर–ये सब केन्द्र की संज्ञाएँ हैं। केन्द्र मे जो स्थिति या प्रतिष्ठा तत्त्व है उसके धरातल पर गतितत्त्व का जन्म होता है। वह गति जब केन्द्र से परिधि की जाती है, तो उसका रूप शुद्ध गति है। वही जब परिधि से केन्द्र की ओर लौटती है, तब वही आगति कहलाती है। वैदिक परिभाषा में स्थिति ब्रह्मा, गति इन्द्र या रुद्र, और आगति की संज्ञा विष्णु है। इन तीनों की समष्टि का नाम हृदय है। हृ–द–यम्–ये तीन अक्षर गतिविद्या के संकेत हैं। 'हृ' अर्थात् आहरण आगति या विष्णु, 'द' अपखण्डन या इन्द्र, और 'यम्' नियमन या ब्रह्मा का उपलक्षण है। इस प्रकार के संकेतों में परिभाषाओं का जानने की युक्ति वैदिक परिभाषा में, विशेषतः ब्राह्मणग्रन्थों में बहुधा पाई जाती है। ब्रह्मा, रुद्र और विष्णु इन्हीं तीनों को अक्षर भी कहा जाता है। प्राण, या गति या तैजस तत्त्व का नाम ही अक्षर है। हृदय, या केन्द्र के विकास पर ही वृत्त का स्वरूप निर्भर करता है। वृत्त, या मण्डल को ही भूतपिण्ड कहते हैं। प्राण, या देवता की शक्ति से भूतपिण्ड का निर्माण होता है। केन्द्र व्यास और परिधि की ही संज्ञाएँ क्रमशः यजुः ऋक् और साम हैं। यही यजु–साम मौलिक वेदतत्त्व है, जिससे सृष्टि का निर्माण होता है। उस तात्त्विक वेद को ही अपौरुषेय कहा जाता है। अक्षरविद्या या हृदयविद्या वेद की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कल्पना है। इसकी संक्षिप्त व्याख्या शास्त्रीजी ने प्रथम व्याख्यान में की है। इसका विस्तार नि॰ पण उनकी उपनिषद् भूमिकाओं में हुआ है। प्रत्येक भूतपिण्ड की मूर्ति का निर्माण व्यास या विष्कम्भ या ऋक् से होता है। व्यास की सीमा उसकी परिधि है। जिसे परिणाह, साम या मण्डल भी कहा जाता है। परिधि व्यास की तिगुनी होती है, जैसे तीन ऋचाओं के विस्तार से एक साम बनता है (ऋचं साम, ऋचि अध्यूढ साम गीयते)। अर्थात् एक ऋचा के पाठ में जो समय आवश्यक है, उसे तिगुना करने से गान बन

इसीलिए अग्निषोमात्मक कहा जाता है। वैदिक तत्त्वज्ञान में सम्वत्सर विद्या का अतिशय महत्त्व है। स्वयं प्रजापति विश्वनिर्माण के लिए सम्वत्सर का रूप धारण करते हैं। तात्पर्य्य यह है कि, प्रजापति की जो अनिरुक्त स्वयंभू शक्ति है—वही निरुक्त व्यक्त गत्यात्मक काल के रूप में विश्वरचना के हेतु सम्वत्सर बनती है। प्रजापति का जो केन्द्रस्थ अव्यय भाग है, जिससे वह स्वस्वरूप में *अविकृत भाव से प्रतिष्ठित रहते हैं,*—वही महौदन कहलाता है। महौदन से कोई सृष्टि नहीं होती, वह तो जिसका अंश है उसी के स्वरूप की रक्षा करता रहता है। महौदन का जो भाग इससे पृथक् हो जाता है उसे वैदिक भाषा में उच्छिष्ट या प्रवर्ग्य कहते हैं उसी से सब पिण्डों का निर्माण होता है। उदाहरण के लिए सूर्य्य का महौदन भाग स्वयं सूर्य्य के स्वरूप की रक्षा कर रहा है। किन्तु रश्मियों के द्वारा उसका जो धर्म्मांश चारों ओर फैलता है, वही उसका उच्छिष्ट या प्रवर्ग्य है जिससे भूतों का निर्माण होता है। इसे ही अथर्ववेद में 'उच्छिष्टात् अधिरे सवम्' कहा गया है। महौदन को सत्य, और प्रवर्ग्य को ऋत कहा जाता है। एवं इन्हीं के समानान्तर अग्नि और सोम हैं। सोम या शीततत्त्व के धरातल पर अग्नि के क्रमशः वसन्त आदि षट् ऋतुओं में क्रमशः बसते या प्रतिष्ठित होते हैं और उत्क्रान्त होते हैं, अथवा बढ़ते और घटते हैं। इसी से षड्ऋतुओं का चक्र, या सम्वत्सर का स्वरूप बनता है। एवं यही सम्वत्सर की गत्यात्मक शक्ति का हेतु है जिससे मेघ, वृष्टि, वायु, आँधी, शीत, उष्ण, आदि वेगवती धाराएँ तरंगित होती हैं। वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, तीन ऋतुओं में अग्नि का विकास, और शरद्, हेमन्त, शिशिर इन तीनों में अग्नि का ह्रास प्रत्यक्ष देखा जाता है। अग्नि का ही प्रतिपक्षीरूप सोम बन जाता है। प्रत्येक शरीर में अग्नि और सोम दोनों भाग अविनाभूत रहते हैं। अग्नि पुरुष और सोम स्त्री है। 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' यह सूत्र ही वैदिक सम्वत्सरविद्या का मूल है, जिसका अत्यन्त ललित व्याख्या प्रथम व्याख्यान में की गई है।

वही नानारूपों में अभिव्यक्त होता है (एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः)। उस अग्नि को ही रुद्र भी कहा जाता है, जिसमें अशनाया, या बुभुक्षा धर्म्म जन्म ले लेता है। अग्नि के उस रूप को ही रुद्र कहते हैं। अशनाया का अर्थ है,-बाहर से केन्द्र में कुछ लाने की कामना। उसे लाने के लिए केन्द्रस्थ प्राणाग्नि धू-धू-करके मानों रुदन करती है, यही रुद्र का रुद्रपना है (यदरोदीत रुद्र)। जहाँ भी प्राणाग्नि का व्यापार जारी है, वहीं रुद्र के इस रूप को हम प्रत्यक्ष देखते हैं। एक-एक बीजांकुर में यह केन्द्रस्थ प्राणाग्नि अशनाया द्वारा बाहर से अपने लिए अन्न लाती है। अन्न ही सोम है। अन्न मिलने से यह रुद्राग्नि शान्त हो जाती है। फिर कुछ समय बाद, जो समय अपने छन्द से नियमित है, यह रुद्राग्नि कुमार शिशु की भाँति पुनः बुभुक्षित हो जाती है। अग्नि-सोम की प्रतिक्षण होने वाली इस प्रक्रिया से सब प्राणात्मक पिण्ड वृद्धि प्राप्त करते हैं। इसी की संज्ञा अग्निचयन है। अग्नि का अग्नि के ऊपर ढेर-यही चित्या कहलाता है। अग्नि में सोम की आहुति, जिसे खाकर अग्नि स्वस्वरूप में सुरक्षित रहता है-सुत्या है। सुत्या और चित्या, दोनों प्रक्रियाएँ सृष्टि के लिए अनिवार्य्यतः आवश्यक हैं और प्रत्येक मानवदेह में इन्हें हम देख सकते हैं। इन्हीं के क्रियाकलाप को अभिव्यक्त करने के लिए अनेक प्रकार की इष्टि, और चयनयज्ञों का वैध कर्म्मकाण्ड विकसित हुआ था।

मानवशरीर में जो प्राणाग्नि है, उसी की संज्ञा वैश्वानर है। प्राणियों की शरीरसंस्था में तापधर्मा वैश्वानर अग्नि ही जीवन है। वैश्वानर शब्द का संकेत है कि भूर्भुवः स्वः, या अग्नि, वायु, आदित्य, इन तीनों के समन्वय से जो प्राण शक्ति स्पन्दित होती है, वही वैश्वानर है। इस स्पन्दन, या संघर्ष को ही पवन कहा जाता है। शतपथब्राह्मण में वैश्वानर की व्याख्या अत्यन्त स्पष्ट है-अयमग्निर्वैश्वानरः योऽयमन्तः पुरुषः, येनेदमन्नं पच्यते (शतपथ १४।८।१०।१)। मानवशरीर ब्रह्माण्ड का ही एक पर्व है। जो द्वन्द्व अखिल ब्रह्माण्ड में है, वही प्रत्येक पर्व में है। तीन अग्नियाँ,

जाता है। इस प्रकार ऋक् और साम, अर्थात् व्यास और परिधि मिल कर आयतन या छन्द बन जाते हैं, जिसकी सीमा में प्राण, या गतितत्त्व केन्द्र से परिधि तक, और परिधि से केन्द्र तक निरन्तर गति-आगति करता रहता है। इसी प्राणन्-अपानन् क्रिया को 'एति च प्रेति च' भी कहते हैं। यही गायत्री-सावित्री का द्वन्द्व है। इस आयतन में प्राण, या देवता की शक्ति से जो भूत भाग पकड़ में आता है, वही उस पिण्ड का रसतत्त्व है, और उसे यजु कहा जाता है। यजु स्वयं गति और स्थिति की समष्टि का प्रतीक है। इसमें 'य' गति का, और 'जू' स्थिति का संकेत माना गया है। किसी भी अमूर्त वस्तु को मूर्तरूप देने के लिए हृदय, या अक्षर या ऋक्-यजुः-साम इस त्रयी का संस्थान आवश्यक है। इसके स्पन्दन या प्राणन से ही सूर्य्य से लेकर तृण पर्य्यन्त विश्व में जितने पिण्ड हैं, उनका निर्माण हुआ है, और रहा है। क्या मानव क्या वनस्पति, दोनों में यह स्पन्दन क्रिया विकास का मूल है, और इसी की संज्ञा अक्षर, या त्रयीविद्या है। सृष्टि से पहले शक्ति का जो महान् समीकरणात्मक विस्तार या, साम्यावस्था थी, उसके किसी केन्द्र में जब कभी सृष्टि की कल्पना हुई, तो इसी प्रकार के गति-आगति स्वरूप स्पन्दन ने जन्म लिया। वैदिक परिभाषा में मूलशक्ति के समान वितरण को आपः' (यदाप्नोत् तस्मादापः), या भृग्वंगिरा, और स्पन्दनात्मक त्रिक को ऋक्-यजु-साम, या त्रयीविद्या कहा जाता है—

> आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्।
> अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः ॥

वेद में परिभाषाओं की ही मुख्य जटिलता है। पदे पदे उनके स्पष्टीकरण की आवश्यकता होती है, 'आपः' संज्ञक व्यापक शक्तितत्त्व को ही समुद्र भी कहा जाता है। किन्तु इनमें से कहीं भी भौतिक जगत् का अब अभिप्रेत नहीं है। विश्व का मूलभूत कारण अग्नि, या गतितत्त्व है।

वही नानारूपों में अभिव्यक्त होता है (एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः)। उस अग्नि को ही रुद्र भी कहा जाता है, जिसमें अशनाया, या बुभुक्षा धर्म्म जन्म ले लेता है। अग्नि के उस रूप को ही रुद्र कहते हैं। अशनाया का अर्थ है,-बाहर से केन्द्र में कुछ लाने की कामना। उसे लाने के लिए केन्द्रस्थ प्राणाग्नि धू-धू-करके मानों रुदन करती है, यही रुद्र का रुद्रपना है (यदरोदीत् तत् रुद्र)। जहाँ भी प्राणाग्नि का व्यापार जारी है, वहीं रुद्र के इस रूप को हम प्रत्यक्ष देखते हैं। एक-एक बीजांकुर में यह केन्द्रस्थ प्राणाग्नि अशनाया द्वारा बाहर से अपने लिए अन्न लाती है। अन्न ही सोम है। अन्न मिलने से वह रुद्राग्नि शान्त हो जाती है। फिर कुछ समय बाद, जो समय अपने छन्द से नियमित है, वह रुद्राग्नि कुमार शिशु की भांति पुनः बुभुक्षित हो जाती है। अग्नि-सोम की प्रतिक्षण होने वाली इस प्रक्रिया से सब प्राणात्मक पिण्ड वृद्धि प्राप्त करते हैं। इसी की संज्ञा अग्निचयन है। अग्नि का अग्नि के ऊपर ढेर-यही चित्या कहलाता है। अग्नि में सोम की आहुति, जिसे खाकर अग्नि स्वस्वरूप में सुरक्षित रहता है-सुत्या है। सुत्या और चित्या, दोनों प्रक्रियाएँ सृष्टि के लिए अनिवार्य्यतः आवश्यक हैं और प्रत्येक मानवदेह में इन्हें हम देख सकते हैं। इन्हीं के क्रियाकलाप को अभिव्यक्त करने के लिए अनेक प्रकार की इष्टि, और चयनयज्ञों का वैध कर्म्मकाण्ड विकसित हुआ था।

मानवशरीर में जो प्राणाग्नि है, उसी की संज्ञा वैश्वानर है। प्राणियों की शरीरसंस्था में तापधर्म्मा वैश्वानर अग्नि ही जीवन है। वैश्वानर शब्द का संकेत है कि भूर्भुवः स्व, या अग्नि, वायु, आदित्य, इन तीनों के समन्वय से जो प्राण शक्ति स्पन्दित होती है, वही वैश्वानर है। इस स्पन्दन, या संघर्ष को ही मथन कहा जाता है। शतपथब्राह्मण में वैश्वानर की व्याख्या अत्यन्त स्पष्ट है-अयमग्निर्वैश्वानरः योऽयमन्तः पुरुषे, येनेदमन्नं पच्यते (शतपथ १४।८।१०।१)। मानवशरीर ब्रह्माण्ड का ही एक पर्व है। जो द्वन्द्व अखिल ब्रह्माण्ड में है, वही प्रत्येक पर्व में है। तीन अग्नियाँ,

तीन लोक, तीन देव इत्यादि त्रिविध भाव जैसे विराट् विश्व में हैं, वैसे ही पिण्ड, या शरीरपर्व में भी हैं। इसका संक्षिप्त स्पष्ट विवेचन प्रथम व्याख्यान में हुआ है। समस्त विश्व त्रिक का ही विकास है। इस त्रिक का ही अर्थ-ज्ञान, और क्रिया कहा है। इनमें अर्थ अग्नि, क्रिया वायु, और ज्ञान इन्द्र का प्रतीक है। इन तीनों से कहीं अधिक महिमाशाली यह ब्रह्मतत्त्व है जिससे विश्व का उद्भव हुआ है। भगवती उमा नाम की चिन्माहिनी शक्ति से उस ब्रह्म का आभास प्राप्त होता है। केन उपनिषत् में इस सुप्रसिद्ध आख्यान का अर्थ स्पष्ट किया गया है।

वैश्वानरविद्या वैदिक विज्ञान की अत्यन्त गूढ़ विद्या है। शरीर में जो एक विलक्षण तापधर्मा अग्नि स्पन्दन करता रहता है वही वैश्वानर है। वही प्राण है। यही जीवनी शक्ति अर्वाचीन विज्ञान की दृष्टि से भी सब से अधिक रहस्यमयी शक्ति है। यह तापमयी शक्ति ही ऊष्मा है, जो किसी महान् ऊष्मा से जन्म लेकर व्यक्तरूप में आती है। प्रत्येक प्राणी, या भूत में वही अग्नि दिखाई पड़ रही है। जैसा महाभारत ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

> ऊष्मा चैवोष्मणो जज्ञे सोऽग्निर्भूतेषु लक्ष्यते ।
> अग्निश्चापि मनुर्नाम प्राजापत्यमकारयत् ॥
> (आरण्य २११।४)

उस अग्नि को ही मनु भी कहा जाता है। वही सृष्टि का मूलभूत ऋषिप्राण है। सरल भाषा में गतितत्त्व ही अग्नि या प्राण, या ऋषि है। 'प्राणो वै समञ्चनप्रसारणम्' (शतपथ, ८।१०।१।४) यही प्राण, या गति, या शक्ति की प्रामाणिक वैज्ञानिक परिभाषा है। फैलना और सिमिटना-यही फड़कन सृष्टि का मौलिक प्राजापत्य रूप है। इसी की व्याख्या वैदिक प्राणविद्या में अनेक प्रकार से की जाती है। शरीरस्थ वैश्वानर

अग्नि प्राण और अपान का एक संयुक्त स्पन्दन ही है। वैश्वानर के स्पन्दन के लिए पृथिवीलोक और द्युलोक का द्वन्द्व अनिर्वायतः आवश्यक है। यही अनाद्यनन्त माता पिता का युग्म है। इनकी जो सन्धि है, वही अन्तरिक्ष है। पृथिवी अन्तरिक्ष, द्यौ, ये तीन विश्व प्रत्येक भौतिक पिण्ड में अवश्य रहते हैं। इन तीनों की अधिष्ठात्री शक्तियाँ इनकी देवता हैं। उन्हें ही अग्नि, वायु और आदित्य कहा जाता है। वस्तुतः अग्नि ही एक देवता है, जो तीन रूपों में कार्यवश प्रकट होता है। एक ही गतितत्त्व के गति, आगति और स्थिति ये तीन भेद देखे जाते हैं। माण्डूक्य उपनिषद् में जिन्हें वैश्वानर तैजस प्राज्ञ कहा गया है और जो तीनों इसी शरीर के चिदंश की संज्ञा है। उनका स्पष्ट और बुद्धिगम्य विवेचन जैसा इस प्रथम व्याख्यान में किया गया है, अन्यत्र देखने में नहीं आता।

इसी प्रसंग में सम्वत्सर का विवेचन भी देखने योग्य है। यह सम्वत्सर दो प्रकार का होता है। एक चक्रात्मक, दूसरा यज्ञात्मक। पृथिवी अपने क्रान्तिवृत्त पर घूमती हुई एक बिन्दु से चलकर जब पुनः उसी बिन्दु पर लौट आती है, तो उसे हम चक्रात्मक, या कालात्मक सम्वत्सर कहते हैं, जो कि पृथिवी के चक्रमण, या परिक्रमा से बनता है। काल की यह अवधि एक आयतन, या पात्र है। उस अवधि के भीतर सूर्य की जो शक्ति रश्मियों के द्वारा उस आयतन, या पात्र में भर जाती है, और उससे सौरमण्डल के समस्त वस्तुओं के जो स्वरूप निर्मित होते हैं, वह यज्ञात्मक सम्वत्सर है। पहला कालात्मक सम्वत्सर तो एक प्रतीति मात्र है। इसीलिए उसे भातिसिद्ध कहते हैं। दूसरा वास्तविक सत्तासिद्ध है, जिसका रूप दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः अग्नि ही पृथिवी की परिक्रमा का कारण है। गर्मी सर्दी का मिथुन भाव ही ऋतु है। ऋतुओं की समष्टि ही सम्वत्सर है। अतएव अग्नि, और सोम का मिथुन ही सम्वत्सर है, जो समस्त भूतों को उत्पन्न करता हुआ उनका नियन्ता भी है। अग्नि में सोम के यजन से जो भूतों का स्वरूप सम्पन्न करता है, वह

सम्वत्सर ही गया यथा मर सम्वत्सर, या प्रजापति सम्वत्सर है। सम्व
त्सर से उत्पन्न पुरुष साक्षात् सम्वत्सर की प्रतिमा है। जो उसमें है, वही
पुरुष में है। अग्नि, वायु आदित्य, इन तीन अग्नियों के परस्पर मिलन
से पुरुष रूपी वैश्वानर का जन्म होता है। यज्ञात्मक प्रजापति सम्वत्सर
भी वैश्वानर का ही रूप है। वैदिक परिभाषायें द्युलोक की उन पुत्रियों
के समान हैं, जिन्हें सनसा-अवसना कहा गया है। अर्थात् जो न
नितान्त प्रकट हैं, और न नितान्त गुप्त हैं। सृष्टिविद्या की इन मूल्यवान
परिभाषाओं के ठीक उद्घाटन की आज सबसे बड़ी आवश्यकता है।

इस प्रसंग में एक बात की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है, यह
ऋक्, यजु साम का स्वरूप है। इन शब्दों से प्राय मन्त्रात्मक, या
शब्दराशियुक्त वेद का ही ग्रहण होता है। किन्तु जैसा विद्वान् व्याख्याता
ने यहाँ, एवं अन्य ग्रन्थों में बताया है, मौलिक वेदतत्त्व केवल ज्ञान
प्रधान कल्पना है। यह सृष्टि का मूलभूत स्वयम्भू प्राणतत्त्व है जिसकी
सत्ता स्वयं सिद्ध है। उसे अपनी सत्ता के लिये और किसी की अपेक्षा
नहीं। प्राणात्मक, या गतितत्त्वात्मक होने के कारण ही उसे ब्रह्मनिःश्व-
सित वेद या ब्रह्म का निःश्वास कहा जाता है। वेद का दूसरा स्वरूप
गायत्रीमात्रिक वेद है, जिसका सूर्य से सम्बन्ध है और जिसमें गति
आगति, और स्थिति की क्रिया वर्तमान रहती है। इसीके आधार पर
तीसरा यज्ञमात्रिक वेद प्रतिष्ठित होता है, जिसे पार्थिव वेद कहा जा
सकता है। पदार्थों का मौलिक रूप इसी से सम्पन्न होता है। शब्दात्मक
वेद इन तीनों की वागात्मिका मूर्त्त अभिव्यक्ति है। ये तीनों वेद मन
प्राण वाक् रूप से प्रत्येक पदार्थों में अन्तर्निहित रहते हैं। प्रत्येक संस्था,
या संस्थान का निर्माण वेदत्रयी से ही होता है। इन तीनों में भी ऋक्
साम केवल छन्द, या आयतनमात्र हैं, उनमें जो वस्तु का स्वरूप, या रस
परिच्छिन्न होता है वही यजु है। वस्तुतः गति का नाम ही यजु है

(सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत । तैत्तिरीय ब्राह्मण) किसी पदार्थ का द्रवित होना किसी घन, या द्रुतिभाव में आना ही गति है । द्रुति, या गति की ही संज्ञा रस है । शुद्ध स्थिति रसातीत अवस्था की संज्ञा है ।

दूसरे व्याख्यान में पञ्चपुण्डीरा विश्वविद्या का विवेचन किया गया है । यह विषय अत्यन्त रोचक और रहस्यपूर्ण है । मनुष्य का शरीर विश्व निर्माता प्रजापति के विश्व रूपी वृक्ष की एक शाखा, या टहनी है । शाखा ही वैदिक भाषा में वल्शा कही जाती है । प्रत्येक प्राणी और पुरुष एक एक प्राजापत्य वल्शा है। यजुर्वेद के पहिले मन्त्र में इषेत्वा ऊर्जेत्वा (इषके लिए तुझे, ऊर्ज के लिए) कह कर जिस शाखा की ओर संकेत किया जाता है वह टहनी यह शरीर ही है । इसी शाखा पर जीव रूपी भोक्ता सुपर्ण बैठा है और उसी के साथ ईश्वर रूपी साक्षी सुपर्ण भी है । वह देवमर्त्य इस भूतमर्त्य के कभी अपेक्षा नहीं छोड़ता । दोनों सदा साथ रहने वाले सयुज सखा हैं । इस शाखा के जीवन के लिए इषू या अन्न लेते हैं । उस अन्न से वैश्वानर अग्नि ऊर्ज, या प्राण उत्पन्न करती है । यही इस शरीर रूपी शाखा के संवर्धन, या जीवन का मर्म है ।

इस शाखा के दो रूप हैं । एक पिण्डगत, दूसरा ब्रह्माण्डगत । दोनों में पाँच पर्व, या पोरियाँ हैं । पोरी को वैदिक भाषा में पुण्डीर कहते हैं । वृक्ष के तने से जो गुद्दा फूटकर पड़ता है, उसमें पाँच पर्व या जोड़ों की कल्पना की जाय तो वैसी एक एक शाखा प्रत्येक प्राणी का शरीर, या विश्व है । शरीर में ये पाँच पोरियाँ कौन सी हैं ?, इसका उत्तर यह है कि शरीर या इन्द्रियों वाला स्थूल संस्थान सबसे इधर की पोरी है । यही केवल दृश्य है । इसके भीतर मन, मन के भीतर बुद्धि, बुद्धि से आगे महान, और उससे भी आगे सबसे पहली पोरी अव्यक्त है । अव्यक्त आत्मा, महान् आत्मा, विज्ञान आत्मा, प्रज्ञान आत्मा, और भूत आत्मा, यही पाँच पोरियों वाली शाखा प्रत्येक प्राणी को मिली हुई है । इसका

सम्वत्सर ही सदा यज्ञात्मक सम्वत्सर, या प्रजापति सम्वत्सर है। सम्व त्सर से उत्पन्न पुरुष साक्षात् सम्वत्सर की प्रतिमा है। जो उसमें है, वही पुरुष में है। अग्नि, वायु आदित्य, इन तीन अग्नियों के परस्पर मिलन से पुरुष रूपी वैश्वानर का जन्म होता है। यज्ञात्मक प्रजापति सम्वत्सर भी वैश्वानर का ही रूप है। वैदिक परिभाषायें द्युलोक की उन पुत्रियों के समान हैं, जिन्हें सनग्ना-अनग्नका कहा गया है। अर्थात् जो न नितान्त प्रकट हैं, और न नितान्त गुप्त हैं। सृष्टिविद्या की इन मूल्यवान परिभाषाओं के ठीक उद्घाटन की आज सबसे बड़ी आवश्यकता है।

इस प्रसंग में एक बात की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है, यह ऋक्, यजु, साम का स्वरूप है। इन शब्दों से प्रायः मन्त्रात्मक, या शब्दराशियुक्त वेद का ही ग्रहण होता है। किन्तु जैसा विद्वान् व्याख्याता ने यहाँ, एवं अन्य ग्रन्थों में बताया है, मौलिक वेदतत्त्व केवल ज्ञान प्रधान कल्पना है। वह सृष्टि का मूलभूत स्वयम्भू प्राणतत्त्व है जिसकी सत्ता स्वयं सिद्ध है। उसे अपनी सत्ता के लिये और किसी की अपेक्षा नहीं। प्राणात्मक, या गतितत्त्वात्मक होने के कारण ही उसे ब्रह्मनिश्व-सित वेद या ब्रह्म का निःश्वास कहा जाता है। वेद का दूसरा स्वरूप गायत्रीमात्रिक वेद है, जिसका सूर्य से सम्बन्ध है, और जिसमें गति, आगति, और स्थिति की क्रिया वर्त्तमान रहती है। इसीके आधार पर तीसरा यज्ञमात्रिक वेद प्रतिष्ठित होता है, जिसे पार्थिव वेद कहा जा सकता है। पदार्थों का भौतिक रूप इसी से सम्पन्न होता है। शब्दात्मक वेद इन तीनों की वागात्मिका मूर्त्त अभिव्यक्ति है। ये तीनों वेद मन, प्राण वाक् रूप से प्रत्येक पदार्थों में अन्तर्निहित रहते हैं। प्रत्येक संस्था, या संस्थान का निर्माण वेदत्रयी से ही होता है। इन तीनों में भी ऋक् साम केवल छन्द, या आयतनमात्र हैं, उनमें जो वस्तु का स्वरूप, या रस परिच्छिन्न होता है वही यजु है। वस्तुतः गति का नाम ही यजु है

तीसरे भाषण में मानव के स्वरूप का परिचय कराया गया है। इसका आधार वेदव्यास का एक अतिविशिष्ट वाक्य है जिसमें मानव को सबसे श्रेष्ठ कहा गया है। पुरुष सम्वत्सररूप प्रजापति की प्रतिमा है। प्रजापति का जैसा स्वरूप है वैसा ही पुरुष का है। अतएव वैदिक साहित्य में पुरुष को प्रजापति के निकटतम, या नेदिष्ठ कहा गया है। पुरुष के स्वरूप की यह कल्पना वैदिक साहित्य का अतिविशिष्ट और उदात्त अङ्ग है। शरीर मन, बुद्धि, आत्मा विशिष्ट प्राणी पुरुष है। यह श्रद्धा और मेधा, ऋत और सत्य, सूत्रात्मा और अन्तर्य्यामी, इन्द्र और इन्द्रपत्नी, मनुतत्त्व और श्रद्धा, अमृत और मर्त्य, अनिरुक्त और निरुक्त भावों की समष्टि और समन्वय की विलक्षण अभिव्यक्ति है। जहाँ एक ओर अधिदैवत और अधिभूत सृष्टि है, वहाँ दूसरी ओर उतनी ही महत्त्वपूर्ण पुरुष रूपी अध्यात्म सृष्टि है। अधिदैवत की शक्ति से, अधिभूत के उपादान से अध्यात्मयज्ञ की सिद्धि ही सच्चा वैदिक दृष्टिकोण है। अतएव इस योजना में पुरुष सृष्टि का केन्द्र, या नभ्य बिन्दु है। पुरुष ही सब यज्ञों की महावेदि है। अव्यय-अक्षर-क्षर, ज्ञान-क्रिया-अर्थ, मन-प्राण-वाक् इनकी समष्टि पुरुष है।

चौथे भाषण में अश्वत्थविद्या का स्वरूप परिचय है। यह भी विश्व विद्या ही है। निर्विशेष, परात्पर, अव्यय, अक्षर, क्षर-इन पाँच पर्वों द्वारा विश्व का विकास हो रहा है। इनमें अव्यय पर, अक्षर परावर, और क्षर अवर कहा जाता है। इन तीनों की समष्टि ही विश्व है। इनसे अतीत महातत्त्व परात्पर कहलाता है। परात्पर से भी अतीत निर्विशेष है, जिसके विषय में कुछ भी कहना कठिन है। यह पंचपर्वा पुरुष ही विश्वातीत और विश्व है। परात्पर 'ब्रह्म' भी कहा जाता है। उसका स्वरूप रसमय है। उसी में महामाया के सीमाबल से अव्ययरूपी अश्वत्थवृक्ष या विश्व का जन्म होता है। ऐसे अनेक विश्व हैं। अश्वत्थ पूरा प्रजापति का रूप है। 'अश्ववत् तिष्ठति इति अश्वत्थ', अर्थात् जो तीन पैरों पर खड़ा रहता है,

सबसे पहला सिरा जहाँ से यह जन्म लेती है अव्यक्त प्रजापति के साथ जुड़ा है। इसलिये उसे भी अव्यक्त कहते हैं। ऐसा ग्रन्थ उपर्युक्त पर उद्धृत कठ उपनिषद् के प्रमाण से ज्ञात होता है।

जब हम शाखा की कल्पना करते हैं, तो वृक्ष की कल्पना उसके साथ जुड़ी है। वृक्ष के साथ वन की कल्पना है, जिसमें अनेक वृक्षों की समष्टि रहती है। वैदिक परिभाषा में वन, वृक्ष और शाखा इनकी कल्पना प्रायः मिलती है। जैसे पुरुष रूपी शाखा के पाँच पर्व हैं, वैसे ही एक एक विश्व महान् अव्यय वृक्ष की एक एक शाखा है। स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, ये उसके पाँच पर्व हैं। स्वयम्भू अव्यक्त आत्मा, परमेष्ठी महान् आत्मा, सूर्य विज्ञान आत्मा, चन्द्रमा प्रज्ञान आत्मा, और पृथिवी भूत आत्मा का रूप है। सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, इन स्थूल पिण्डों की ही संज्ञाएं नहीं, बल्कि पिण्डसृष्टि के विकास की पाँच अवस्था विशेष हैं, जो क्रमशः सूक्ष्म से स्थूलभाव में आविर्भूत होती है। इस प्रकार अनेक प्रमाणों से पञ्चपर्वा विश्वविद्या, या अश्वत्थविद्या की व्याख्या की गई है। यह विश्व एक वृक्ष, या अव्यय अश्वत्थ है जिसका मूल ऊर्ध्व, और शाखाएँ नीचे की ओर फैली हैं। ऊर्ध्व अधः का तात्पर्य ऊपर नीचे नहीं, किन्तु केन्द्र और परिधि से है। जो हिरण्यगर्भ अव्यक्त प्रजापति है, वही ऊर्ध्व है। उसका जो व्यक्त रूप है, वही अधः है।

पंचपर्वा शाखा के प्रसंग में मनोता-विद्या का भी उल्लेख किया गया है। यह वेद की अति गूढ़ रहस्यमयी विद्या है। ऊपर जो पाँच पर्व कहे हैं, उनमें से प्रत्येक पर्व के तीन तीन भेद होते हैं। सृष्टिमूलक अव्यय पुरुष मन, प्राण, वाङ्मय है। अतएव उससे विकसित होने वाला प्रत्येक पर्व भी मन प्राण वाक् के रूप में तीन तीन कुटुम्ब लेता है। मन प्रधान होने के कारण ही इन्हें मनोता कहते हैं। मनोता न हो, तो सृष्टियों का वितान नहीं हो सकता।

श्री

सम्वत्सरमूला—अग्नीषोमविद्या

(प्रथम वक्तव्य)

वाच देवा उपजीवन्ति विश्वे, वाच गन्धर्वाः, पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥१॥

वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माता, अमृतस्य नाभिः ।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु ॥२॥

प्राक्कर्म्मोदयतो हि यस्य मिथिलादेशे शरीरोदयः ।
श्रीविश्वेशदयोदयाच्च समभूत् काश्यां सुविद्योदयः ॥
राज्ञः प्रीत्युदयाद्भूजयपुरे सम्पच्चिमाम्योदयः ।
सिद्धस्तन्मधुसूदनाय गुरवे नित्यं प्रणामोदयः ॥३॥

ओष्ठापिधाना नकुली दन्तैः परिवृता पविः ।
सर्वस्यै वाच ईशाना चारुमामिह वादयेत् ॥४॥

तद्दिव्यमव्ययं धाम सारस्वतमुपास्महे ।
यत्प्रसादात्प्रलीयन्ते मोहान्धतमसच्छटाः ॥५॥

———— ❖ ————

महामहिम राष्ट्रपति महाभाग !

देवियो !

एवं महाशीर्षो व बन्धुओ !

गरिमा-महिमामय भारतराष्ट्र के सर्वैश्वर्य्यसम्पन्न राष्ट्रपतिभवन में महामहिम राष्ट्रपति महाभाग की समुपस्थिति में भारतराष्ट्र की मूलनिधिरूप वेदशास्त्र के 'सृष्टिविज्ञान' को लक्ष्य बना कर आज जो कुछ निवेदन किया जा रहा है वह सम्भवतः अनेक शताब्दियों के अनन्तर साकाररूप धारण करने वाले वैसे सुख-स्वप्न हैं, जिनकी साकाररूपता के लिए भारतीय आस्तिक प्रजा अनेक शताब्दियों

का विश्लेषण ही हमारा उद्देश्य नहीं है। अपितु घोर-आङ्गिरस-अग्नि को शिव-शान्त-भाव में परिणत रखने वाले सोम के सम्बन्ध से ही, इस सम्बन्ध से रुद्राग्नि को सौम्याग्नि बनाते हुए ही अग्नीषोमविद्या की रूपरेखा उपस्थित की जायगी। एवं इस उपस्थिति से पूर्व अग्नि-सोम के मूलाधारभूत 'वेद' के सम्बन्ध में एक ऐसी नवीन धारणा व्यक्त की जायगी, जिसे सुन कर अत्र उपस्थित सभी आस्तिक बन्धु सहसा यह कल्पना करने लग पड़ेंगे कि, 'अरे! वेद के नाम से आज हम ये कैसी भ्रान्त धारणाएँ सुनने आ बैठे।'

वेदशास्त्र के सम्बन्ध में भारतीय आस्तिक प्रजा की ऐसी धारणा है कि, ऋक्-यजुः-साम-अथर्वा-भेद से मन्त्रात्मक संहितावेद चार भागों में विभक्त है। एवं प्रत्येक वेद क्रमशः २१-१०१-१०००-६-इन अवान्तर शाखाओं में विभक्त है, जिनके संकलन से चारों वेदों के शाखाग्रन्थों की संख्या ११३१ संख्या पर विश्रान्त है। प्रत्येक शाखा का एक एक ब्राह्मणग्रन्थ, एक एक आरण्यकग्रन्थ, एवं एक एक उपनिषद्ग्रन्थ और है। ब्राह्मणग्रन्थ-जिसे कि विधिग्रन्थ भी कहा गया है-आरण्यकग्रन्थ-तथा उपनिषद्ग्रन्थ की समष्टि ही सनातनसम्प्रदाय में 'ब्राह्मणवेद' कहलाया है। ब्राह्मणवेद के शाखाग्रन्थों का यदि संकलन किया जाता है, तो ३३६३ ग्रन्थ हो जाते हैं। इनमें ११३१ संहिताग्रन्थों को मिला देने से मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के कुल ४५२४ (चार हजार पाँच सौ चौबीस) वेदग्रन्थ हो जाते हैं, जिनका-'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इत्यादि आर्षवचन से संग्रह हुआ है।

उक्त आस्था के सर्वथा विपरीत आज हम यह निवेदन करने का दुस्साहस कर रहे हैं कि, 'कदापि उक्त शब्दात्मक वेदग्रन्थों का नाम वेद नहीं है'। आस्था अब की इस सम्बन्ध में यही चली आ रही है कि, 'अग्निमीळे पुरोहितम्' इत्यादि वर्णाक्षरपदवाक्य-मन्त्रसमष्टिरूप शब्दात्मक वेदशास्त्र ही 'वेद' है, एवं यह शब्दात्मक वेदशास्त्र किसी भी मानवविशेष की प्रज्ञात्मिका रचना से कोई भी सम्बन्ध न रखता हुआ विशुद्ध ईश्वरीय शास्त्र है, अपौरुषेय शास्त्र है, नित्यकूटस्थ शास्त्र है। ईश्वर की वाणीरूप शब्दात्मक वेदशास्त्र की अपौरुषेयता का भी कुछ रहस्य है, जिसका शब्दार्थ के तादात्म्य-सम्बन्धात्मक औत्पत्तिक सम्बन्ध पर विश्राम माना गया है। एवं इस शब्दनित्यता की दृष्टि से वेदशास्त्र की अपौरुषेयता को भी सुरक्षित रक्खा जा सकता है, रक्खा गया है। तथापि तत्त्वतः 'वेद' शब्दार्थ की वास्तविक पर्य्यवसान की भूमि तो 'मौलिकतत्त्व' ही माना जायगा, जिस तत्त्व की स्वरूपव्याख्या करने के कारण 'तद्धर्म्य' न्याय से शब्दात्मक ग्रन्थ भी आगे जाकर 'वेद' नाम

से प्रतीक्षा-प्रतीक्षा कर रही थी। कविकुलगुरु कालिदास के युग में,—जो कि इतिहासानुबन्ध से आज का युग भी माना जा सकता है,—वेदाभ्यासपरायण भारतीय द्विजातिवर्ग के लिए एक बहुत बड़ा सम्मानित पद नियत था, और वह पद था-'वेदाभ्यासजडमति'। आजकालीन साहित्यिक युग में शिखा-सूत्रधारी वेद-पारायणपाठी द्विजाति को इसी सम्मानित ! पद से आमन्त्रित किया जाता था। और सम्भवतः आज के इस स्वतन्त्रस्वतन्त्रयुग में भी वेदशास्त्र के सम्बन्ध में सर्वसाधारण की कुछ ऐसी ही मान्यतायें प्रक्रान्त हैं।

'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे॰'-'नमस्ते रुद्र मन्यव उतोत इषवे नमः॰'-'अग्निमीळे पुरोहितम्॰' इत्यादि वेदमन्त्रों का पद-घन-जटा-उदात्तादि स्वर-सन्धानपूर्वक पारायण करते रहना, पारलौकिक अदृष्ट फल-प्राप्ति-कामना से इन मन्त्रों के माध्यम से ग्रहशान्ति-स्वस्त्ययन-आदि कर्म्म सम्पादित कर लेना बहुत अधिक हुआ, तो लोकोत्तर किसी अचिन्त्य आत्मब्रह्म की कल्पना कर तद्‌र्थ आत्मचिन्तन नाम की एक विशेष अज्ञात प्रक्रिया में आत्मविभोर बने रहना, और यों अपनी आस्था-श्रद्धा के माध्यम से वेदशास्त्र के प्रति श्रद्धाञ्जलियां समर्पित करते रहना ही भारतीय मानव का वेदशास्त्र के प्रति अनन्य कर्त्तव्य परिसमाप्त है। कब किस युग से इस मूल अभ्युग का उपक्रम हुआ ? इसका कोई ऐतिहासिक मापदण्ड नहीं है। यदि है भी, तो उसका इसलिए कोई महत्त्व नहीं है कि, प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील मन-शरीर-भावों से अनुप्राणित भौतिक इतिहास को ऋषिप्रज्ञा ने कभी कोई भी महत्त्व-प्रदान नहीं किया। भारतीय चिरन्तन प्रज्ञा पर वर्त्तमानयुग के पुरातत्त्ववेत्ताओं, तथा इतिहासमर्म्मज्ञों का यह अभियोग है कि, "इन भारतीयों का कोई मौलिक व्यवस्थित इतिहास रहा ही नहीं।" अभिनन्दन ही करेगा भारतीय मानव इसलिए इस अभियोग का कि मन और शरीर के इतिहास को यह इतिहास ही नहीं मानता। अपितु आत्म-समन्वित बुद्धियुक्त सांस्कृतिक इतिहास ही उसकी दृष्टि में उपयोगी इतिहास रहा है जिन पवित्र सांस्कृतिक आत्मबुद्धिनिबन्धन चिरन्तन इतिहासों के अन्वेष-वाहक निगम-आगम-पुराण-स्मृति-आदि ग्रन्थ सदा से ही भारतीय मानव के लिए उपास्य रहे हैं। इस सांस्कृतिक इतिहास के मूलभूत वेदशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' इस सद्वेतिहास के सम्बन्ध में ही आज हमें भारतराष्ट्र के महामहिम राष्ट्रपति महाभाग के सम्मुख दो शब्द निवेदन करने हैं।

सम्वत्सरप्रजा से सम्बन्ध रखने वाले अग्नि, और सोम के सम्बन्ध में कुछ निवेदन करना है। 'अग्नि' से सम्बन्ध रखने वाली उत्तेजनापूर्ण रौद्री घटनाओं

शक्ति का नाम हुआ 'यम्', तीनों शक्तियों की समुच्चितावस्था का ही नाम हुआ–'हृदयम्'।

विसर्गात्मिका शक्ति के लिए वेद में पारिभाषिक शब्द नियत हुआ 'प्राणन', एवं आहरणशक्ति के लिए शब्द नियत हुआ 'अपानन'। 'जाना' प्राणन है, आना अपानन है। केन्द्र से परिधि की ओर जाना प्राणन है, यही विसर्ग है। परिधि से केन्द्र की ओर आना अपानन है यही आदान है। पीछे हटना अपानन है आगे बढ़ना प्राणन है, दोनों का जिस मूलबिन्दु पर नियमन है, वही मध्यस्थ 'व्यानन' है। श्रुति कहती है—

* न प्राणेन, नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ॥
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥१॥

---

* प्राणनरूप श्वास, एवं अपाननरूप प्रश्वास से ही मरणधर्म्मा प्राणी जीवित रहते हैं ऐसी सर्वसाधारण की मान्यता है। इसी आधार पर 'जब तक साँस, तब तक आस' यह किंवदन्ती प्रचलित हुई है। किन्तु श्रुति इस लोकधारणा के सर्वथा विपरीत हमें यह बतला रही है कि, न तो मर्त्य प्राणी प्राण (श्वास) से जीवित रहता, न अपान (प्रश्वास) से जीवित रहता। अपितु वे तो उस किसी तीसरे ही (व्यान) तत्व से जीवित रहते हैं, जिस (व्यान) के आधार पर प्राण और अपान स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहते हैं। शिरोऽन्त स्थानात्मक शिखान्त स्थान से अनुप्राणित ब्रह्मरन्ध्र स्थान से प्रविष्ट होने वाला सौर इन्द्रप्राण अध्यात्म में प्रतिष्ठित रहता है। यह हृदयस्थ व्यान पर्य्यन्त पहुँच कर यहां से प्रत्याहित होकर पुनः उसी मार्ग से परावर्तित हो जाता है। आगमनदशा में यही 'प्राण' है गमनदशा में यही 'उदान' है। एवमेव ब्रह्मग्रन्थिद्वार से प्रविष्ट होने वाला पार्थिव आग्नेय प्राण आगमनदशा में 'समान' है, निर्गमन दशा में 'अपान' है। हृदयस्थ व्यान से प्रत्याहित होकर ही यह पार्थिवप्राण भी सौरप्राणवत् दो अवस्थाओं में परिणत हो रहा है। यों प्राण और अपान के प्राणोदान, समानापान, दो दो विवर्त्त हो जाते हैं। यह गमनागमन मध्यस्थ व्यानप्राण पर ही अवलम्बित है। द्वितीय मन्त्र ने इसी की स्वरूपव्याख्या करते हुए कहा है कि–हृदयस्थ व्यान ही प्राण को उदान रूप से ऊपर ले जाता है, अपान को अपान रूप से नीचे फैंकता है। मध्यस्थ इस वामनरूप यज्ञिय वैष्णव व्यान प्राण को आधार बना कर ही पार्थिव अपान (आग्नेय) देवता, एवं सौर प्राण (ऐन्द्र) देवता स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित हैं।

से प्रसिद्ध हो गए हैं। उसी प्रकार, जैसे कि पितृतत्त्व का प्रतिपादक ग्रन्थ लोक में 'पितृग्रन्थ' कहलाने लग पड़ा है। पितृग्रन्थ तत्प्रतिपादक पुस्तक है, स्वयं पितृ नहीं। एवमेव वेदग्रन्थ वेदतत्त्व की पुस्तक है, स्वयं वेदतत्त्व नहीं, जिस इत्थंभूत तात्त्विकवेद की ओर विगत अनेक शताब्दियों से भारतीय प्रज्ञा का ध्यान गया ही नहीं। अतएव वैदिक तत्त्वधारा के समन्वय में, वेदार्थसमन्वय में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो पड़ीं। वेदतत्त्व के माध्यम से सर्वप्रथम इसी भ्रान्ति का निराकरण अभीष्ट है। तदनन्तर ही वेदात्मक यज्ञतत्त्व से सम्बन्ध रखने वाली अग्नीषोमविद्या का दिग्दर्शन कराया जायगा।

क्या तात्पर्य है तत्त्वात्मक वेद का ?, प्रश्न के सम्बन्ध में हमें यह समाधान करना पड़ेगा कि, ऋषिप्रज्ञा की एक यह विशिष्ट शैली, किंवा चिरन्तन पद्धति रही है कि, 'जिस तत्त्व को समझाने के लिए ऋषि ने जो शब्द नियत किया है, उस शब्द में ही तद्वाच्य तत्त्व की मौलिक स्वरूपव्याख्या ज्यों की त्यों निहित कर दी गई है'। अतएव वेदार्थपरिशीलन के लिए किसी स्वतन्त्र व्याख्या का अन्वेषण करना सर्वथा व्यर्थ है। 'वेद क्या है ?,' प्रश्न का समाधान स्वयं 'वेद' शब्द के ही गर्भ में अन्तर्निगूढ़ है, जैसा कि आगे चलकर स्पष्ट होने वाला है। प्रकृत में तत्कथित शैली के स्पष्टीकरण के लिए उदाहरणरूप से 'हृदयम्' शब्द ही आप के सम्मुख रक्खा जा रहा है। यह शब्द सभी सहृदयों के लिए सुपरिचित है। शब्द 'हृदय' नहीं है, अपितु 'हृदयम्' है अर्थात् नपुंसकलिङ्गान्त है। इस शब्द में 'हृ' इत्येकमक्षरम्, 'द' इत्येकमक्षरम् एवं 'यम्' इत्येकमक्षरम् इस क्रम से तीन अक्षर हैं। यद्यपि यद्यपि अनेक हैं इस शब्द में। किन्तु 'स्वरोऽक्षरम्। सहाद्यैर्व्यञ्जनैः०' इत्यादि प्रातिशाख्य-सिद्धान्तानुसार अक्षरात्मक स्वर तीन ही हैं। व्याकरण के सुप्रसिद्ध 'हृञ् हरणे' धातु से लिया गया 'हृ' नामक प्रथम अक्षर। 'दो अवखण्डने' धातु से लिया गया 'द' नामक द्वितीय अक्षर। एवं 'यम्' नामक तृतीय अक्षर बना दोनों का नियामक, किंवा नियन्ता। तात्पर्य तीनों का क्रमशः हुआ आहरण–खण्डन, एवं नियमन। 'हृ' इत्याहरणभाव आदानभाव संग्रहभावः। 'द' इति व्यवखण्डनभावः विसर्गभावः, त्यागभावः। 'यम्' इति उभयोः संयमनम्, नियमनम्। तात्पर्य–जो शक्ति वस्तु का संग्रह करती है लेती रहती है, उसका नाम हुआ 'हृ'। जो शक्ति प्राप्त हुए पदार्थों का विसर्जन करती रहती है, फैंकती रहती है, उसका नाम हुआ 'द'। एवं जिस नियामक–तीसरी शक्ति के आधार पर यह आदान, और विसर्ग–क्रिया प्रक्रान्त रहती है दोनों की नियामिका शक्ति–प्रतिष्ठा

शक्ति का नाम हुआ 'यम्', तीनों शक्तियों की समुच्चितावस्था का ही नाम हुआ–'हृदयम्'।

विसर्गात्मिका शक्ति के लिए वेद में पारिभाषिक शब्द नियत हुआ 'प्राणन', एवं आहरणशक्ति के लिए शब्द नियत हुआ 'अपानन'। 'आना' प्राणन है, आना अपानन है। केन्द्र से परिधि की ओर जाना प्राणन है यही विसर्ग है। परिधि से केन्द्र की ओर आना अपानन है यही आदान है। पीछे हटना अपानन है आगे बढ़ना प्राणन है, दोनों का जिस मूलकेन्द्र पर नियमन है, वही मध्यस्थ 'व्यानन' है। श्रुति कहती है—

* न प्राणेन, नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ॥
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥१॥

---

* प्राणनरूप श्वास, एवं अपाननरूप प्रश्वास से ही मरणधर्मा प्राणी जीवित रहते हैं, ऐसी सर्वसाधारण की मान्यता है। इसी आधार पर 'जब तक साँस, तब तक आस' यह किंवदन्ती प्रचलित हुई है। किन्तु श्रुति इस लोकधारणा के सर्वथा विपरीत हमें यह बतला रही है कि, न तो मर्त्य प्राणी प्राण (श्वास) से जीवित रहता, न अपान (प्रश्वास) से जीवित रहता। अपितु वे तो उस किसी तीसरे ही (व्यान) तत्त्व से जीवित रहते हैं, जिस (व्यान) के आधार पर प्राण और अपान स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहते हैं। शिरोऽन्त स्थानात्मक शिखान्त स्थान से अनुप्राणित ब्रह्मरन्ध्र स्थान से प्रविष्ट होने वाला सौर इन्द्रप्राण मध्यात्म में प्रतिष्ठित रहता है। यह हृदयस्थ व्यान पर्य्यन्त पहुँच कर यहाँ से प्रत्याहित होकर पुनः उसी मार्ग से परावर्तित हो जाता है। आगमनदशा में यही 'प्राण' है गमनदशा में यही 'उदान' है। एवमेव ब्रह्मग्रन्थिद्वार से प्रविष्ट होने वाला पार्थिव आग्नेय प्राण आगमनदशा में 'समान' है, निर्गमन दशा में 'अपान' है। हृदयस्थ व्यान से प्रत्याहित होकर ही यह पार्थिवप्राण भी सौरप्राणवत् दो अवस्थाओं में परिणत हो रहा है। यों प्राण और अपान के प्राणोदान, समानापान, दो दो विवर्त हो जाते हैं। यह गमनागमन मध्यस्थ व्यानप्राण पर ही अवलम्बित है। द्वितीय मन्त्र ने इसी की स्वरूपव्याख्या करते हुए कहा है कि–हृदयस्थ व्यान ही प्राण को उदान रूप से ऊपर ले जाता है, अपान को अपान रूप से नीचे फेंकता है। मध्यस्थ इस वामनरूप यज्ञिय वैष्णव व्यान प्राण को आधार बना कर ही पार्थिव अपान (आग्नेय) देवता, एवं सौर प्राण (ऐन्द्र) देवता स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित हैं।

से प्रसिद्ध हो गए हैं। उसी प्रकार, जैसे कि विद्युत्‌ का प्रतिपादक ग्रन्थ लोक में 'विद्युद्ग्रन्थ' कहलाने लग पड़ा है। विद्युद्ग्रन्थ तत्प्रतिपादक पुस्तक है स्वयं विद्युत् नहीं। एवमेव वेदग्रन्थ वेदतत्त्व की पुस्तक है, स्वयं वेदतत्त्व नहीं, जिस इतर्थभूत तात्त्विकवेद की ओर विगत अनेक शताब्दियों से भारतीय प्रजा का ध्यान गया ही नहीं। अतएव वैदिक तत्त्ववाद के समन्वय में, वेदग्रन्थसमन्वय में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो पड़ीं। वेदतत्त्व के माध्यम से सर्वप्रथम इसी भ्रान्ति का निराकरण अभीष्ट है। तदनन्तर ही वेदात्मक तत्त्वपरम्परा से सम्बन्ध रखने वाली अग्नीषोमविद्या का दिग्दर्शन कराया जायगा।

क्या तात्पर्य्य है तत्त्वात्मक वेद का ?, प्रश्न के सम्बन्ध में हमें यह समाधान करना पड़ेगा कि, ऋषिप्रज्ञा की एक यह विशिष्ट शैली, किंवा चिरन्तन पद्धति रही है कि, 'जिस तत्त्व को समझाने के लिए ऋषि ने जो शब्द नियत किया है, उस शब्द में ही तद्वाच्य तत्त्व की मौलिक स्वरूप व्याख्या ज्यों की त्यों निहित कर दी गई है'। अतएव वेदार्थपरिशीलन के लिए किसी स्वतन्त्र व्याख्या का अन्वेषण करना सर्वथा व्यर्थ है। 'वेद क्या है ?,' प्रश्न का समाधान स्वयं 'वेद' शब्द के ही गर्भ में अन्तर्निगूढ़ है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होने वाला है। प्रकृत में तथाकथित शैली के स्पष्टीकरण के लिए उदाहरणरूप से 'हृदयम्' शब्द ही आप के सम्मुख रक्खा जा रहा है। यह शब्द सभी सहृदयों के लिए सुपरिचित है। शब्द 'हृदय' नहीं है, अपितु 'हृदयम्' है अर्थात् नपुंसकलिङ्गान्त है। इस शब्द में 'हृ' इत्येकमक्षरम्, 'द' इत्येकमक्षरम् एवं 'यम्' इत्येकमक्षरम्, इस रूप से तीन अक्षर हैं। वर्ण यद्यपि अनेक हैं इस शब्द में। किन्तु 'स्वरोऽक्षरम्। सहाद्यैर्व्यञ्जनैः०' इत्यादि प्रातिशाख्य-सिद्धान्तानुसार अक्षरात्मक स्वर तीन ही हैं। व्याकरण के सुप्रसिद्ध 'हृञ् हरणे' धातु से लिया गया 'हृ' नामक प्रथम अक्षर। 'दो अवखण्डने' धातु से लिया गया 'द' नामक द्वितीय अक्षर। एवं 'यम्' नामक तृतीय अक्षर बना दोनों का नियामक किंवा नियन्ता। तात्पर्य्य तीनों का क्रमशः हुआ आहरण—खण्डन, एवं नियमन। 'हृ' इत्याहरणभाव आदानभावः, संग्रहभावः। 'द' इति खण्डनभावः, विसर्गभाव, त्यागभाव.। 'यम्' इति उभयोः संयमनम्, नियमनम्। तात्पर्य्य—जो शक्ति वस्तु का संग्रह करती है, लेती रहती है, उसका नाम हुआ 'हृ'। जो शक्ति आए हुए पदार्थों का विसर्जन करती रहती है, फैंकती रहती है, उसका नाम हुआ 'द'। एवं जिस नियामक—तीसरी शक्ति के आधार पर यह आदान, और विसर्ग—क्रिया प्रक्रान्त रहती है दोनों की नियामिका शक्ति—प्रतिष्ठा

शक्ति का नाम हुआ 'यम्', तीनों शक्तियों की समुच्चितावस्था का ही नाम हुआ-'हृदयम्'।

विसर्गात्मिका शक्ति के लिए वेद में पारिभाषिक शब्द नियत हुआ 'प्राणन', एवं आहरणशक्ति के लिए शब्द नियत हुआ 'अपानन'। 'आना' प्राणन है, आना अपानन है। केन्द्र से परिधि की ओर आना प्राणन है, यही विसर्ग है। परिधि से केन्द्र की ओर आना अपानन है यही आदान है। पीछे हटना अपानन है आगे बढ़ना प्राणन है, दोनों का जिस मूलबिन्दु पर नियमन है, वही मध्यस्थ 'व्यानन' है। श्रुति कहती है—

> * न प्राणेन, नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ॥
> इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥१॥

---

* प्राणनरूप श्वास, एवं अपाननरूप प्रश्वास से ही मरणधर्मा प्राणी जीवित रहते हैं, ऐसी सर्वसाधारण की मान्यता है। इसी आधार पर 'जब तक साँस, तब तक आस' यह किंवदन्ती प्रचलित हुई है। किन्तु श्रुति इस लोकधारणा के सर्वथा विपरीत हमें यह बतला रही है कि, न तो मर्त्य प्राणी प्राण (श्वास) से जीवित रहता, न अपान (प्रश्वास) से जीवित रहता। अपितु वे तो उस किसी तीसरे ही (व्यान) तत्त्व से जीवित रहते हैं, जिस (व्यान) के आधार पर प्राण और अपान स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहते हैं। शिरोऽन्त स्थानात्मक शिखान्त स्थान से अनुप्राणित ब्रह्मरन्ध्र स्थान से प्रविष्ट होने वाला सौर इन्द्रप्राण अध्यात्म में प्रतिष्ठित रहता है। यह हृदयस्थ व्यान पर्य्यन्त पहुँच कर वहाँ से प्रत्याहित होकर पुनः उसी मार्ग से परावर्त्तित हो जाता है। आगमनदशा में यही 'प्राण' है गमनदशा में यही 'उदान' है। एवमेव ब्रह्मग्रन्थिद्वार से प्रविष्ट होने वाला पार्थिव आग्नेय प्राण आगमनदशा में 'समान' है, निर्गमन दशा में 'अपान' है। हृदयस्थ व्यान से प्रत्याहित होकर ही यह पार्थिवप्राण भी सौरप्राणवत् दो अवस्थाओं में परिणत हो रहा है। यों प्राण और अपान के प्राणोदान, समानापान, दो दो विवर्त्त हो जाते हैं। यह गमनागमन मध्यस्थ व्यानप्राण पर ही अवलम्बित है। द्वितीय मन्त्र ने इसी की स्वरूपव्याख्या करते हुए कहा है कि—हृदयस्थ व्यान ही प्राण को उदान रूप से ऊपर ले जाता है, अपान को अपान रूप से नीचे फैंकता है। मध्यस्थ इस वामनरूप यज्ञिय वैष्णव व्यान प्राण को आधार बना कर ही पार्थिव अपान (आग्नेय) देवता, एवं सौर प्राण (ऐन्द्र) देवता स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित हैं।

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति, अपानं प्रत्यगस्यति ॥
मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते ॥२॥
—कठोपनिषत् ५।५,३।

प्राण–अपान–व्यान, तीनों शब्द सुप्रसिद्ध हैं। प्राण 'द' है, अपान 'ह' है, व्यान 'यम्' है। इस प्राणत्रयी की समष्टि ही 'हृदयम्' है। सौरजगत् को लक्ष्य बनाइए। सम्पूर्ण प्रकाशमण्डल सौररश्मियों का समूहमात्र है, जो सहस्रधा महिमान सहस्रमावापभा रश्मयाँ सूर्य्यकेन्द्र में आबद्ध हैं, नियन्त्रित हैं। नियन्ता ही व्यान है, जिससे नियन्त्रित सौररश्मियाँ प्राणत्–अपानत्–रूप से गतिशीला बनी हुई हैं। प्रत्येक रश्मि पीछे हटती हुई अग्रगामिनी है। यही सर्पणप्रक्रिया है, यही प्राणापानमय विसर्गादान व्यापार है। धूप, और छाया के मध्य में एक रेखा खींच दीजिए। आप देखेंगे कि, रश्म्यवच्छिन्न प्रकाश पीछे हटता हुआ ही आगे बढ़ रहा है। पीछे हटना ही अपानन है, आगे बढ़ना ही प्राणन है। जो पीछे नहीं हट सकता, वह कदापि अग्रगामी नहीं बन सकता। वर्त्तमानरूप मध्यस्थ व्यान केन्द्र पर प्रतिष्ठित मानव भूतरूप अपानन के इतिहास के आधार पर ही भविष्यद्रूप प्राणन के इतिहास–सर्जन में सफलता प्राप्त करता है। जो भूत को विस्मृत कर देता है, उसका भविष्यत् भी अन्धकार पूर्ण है, एवं उभयमध्यस्थ वर्त्तमान भी अव्यवस्थित है। विशाल प्राङ्गण (मैदान) में अनुधावन करने वाले मल्ल को पहिले बद्धाम्फोष्ठ का ताड़न करते हुए (ताल ठोकते हुए) पीछे ही हटना पड़ता है, तभी वह अग्रानुधावन में विजयकाम करता है। वाष्पशकटी (ट्रेन) के इञ्जिन का अग्ररूप धुर पीछे हटता हुआ ही तो अग्रगामी बनता है। सर्वत्र गतितत्त्व इस विसर्गादानात्मक प्राणापानद् भाव से ही नित्य समन्वित है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखते हुए ऋषि ने कहा है—

* आयङ्गौः पृश्निरक्रमीदसदन् मातरम्पुरः ॥
पितरञ्च प्रयन्त्स्वः ॥१॥

---

*—'पृश्नि', अर्थात् स्वतर्वांशमण्डलात्मक अग्निवाग्निमय सूर्य्यनारायण 'माता' नामक पृथिवीलोक, 'पिता' नामक द्युलोक, एवं उभयोरन्तर्वित अन्तरिक्षलोक, इन तीनों लोकों में अपने रश्मिमण्डलरूप महिमामण्डल से व्याप्त हो रहे हैं (१)। सूर्य्यनारायण की ज्योतिर्म्मयी ये गौएं (रश्मियाँ) अपने स्वरूप प्राणरूप

अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती ॥
व्यख्यन्महिषो दिवम् ॥२॥
त्रिंशद्धाम विराजति वाक्पतङ्गाय धीयते ॥
प्रति वस्तोरह द्युभिः ॥३॥

—ऋक्संहिता १०।१८९।१,२,३।

इति च प्रोक्ति च लक्षणा सुप्रसिद्धा 'गायत्रीविद्या' के द्वारा भी इसी आदानविसर्गात्मिका क्रिया का स्वरूपविश्लेषण हुआ है। पार्थिव आग्नेय प्राणात्मक अन्नादधर्म्मा देवताओं ने यह अनुभव किया कि, अन्नसोम की आहुति के बिना अपने स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकते, जीवित नहीं रह सकते। सोम तथा पार्थिव आग्नेय देवताओं से अत्यन्त विदूर तीसरे द्युलोक में, जो कि तृतीय लोक सूर्य्य से भी ऊपर 'परमेष्ठी' नाम से प्रसिद्ध है। 'तृतीयस्यां वै इतो दिवि सोम आसीत्' (शत ३।२।४।१।) इत्यादि के अनुसार पारमेष्ठ्य तृतीय लोक में वहाँ के स्वपणरूप से धोधूयमान कर्षणशील वायु के द्वारा, तथा आप्यप्राणरूप गन्धर्वों के द्वारा सुगुप्त था। उसे ही भूलोक पर लाने की इच्छा की देवताओं ने। चार पैर वाली जगती ने कहा, मैं सोम का अपहरण करूँगी। जगती गई केवल प्राणन ही करती हुई। इसी निर्बलता से अपने तीन पैर सोमरक्षक गन्धर्वों से कटवा कर एक पैर से जगती निराश बनती हुई लौट आई। अनन्तर चार पैर वाली त्रिष्टुप् गई। प्राणन के साथ इसने अपानन तो किया, किन्तु अन्तरिक्षाकर्षण से अपानन पूर्णरूप से व्यक्त न हो सका। फलतः अपना एक पैर कटवा कर तीन पैरों से त्रिष्टुप् भी निराश ही लौट आई। अब गायत्री चली

(गतिरूप) से सम्पूर्ण पदार्थों के अन्तः—गर्भ में प्रविष्ट रहती हुई प्राणत्-अपानत् रूप से व्याप्त हैं। इन प्राणापानलक्षणा रश्मियों से महिमामय बनते हुए महिष सूर्य्य सम्वत्सरमण्डलात्मक त्रैलोक्यरूप सम्पूर्ण द्युलोक को प्रकाशित कर रहे हैं (२)। वषट्कारविज्ञान के अनुसार एक सहस्र भागों में परिणत सौररश्मियाँ १०—१ अहर्गणों के अनुपात से २१ अहर्गणात्मक वषट्कारमण्डल की स्वरूप समर्पिका बनी हुई हैं। १ —१ —रश्मिरूप एक एक रश्मिव्यूह एक एक विश्राम धाम बना हुआ है सूर्य्य का, यही सम्बन्ध है। इत्थंभूत केन्द्रस्थ पतङ्ग (सूर्य्य) के लिए १ —१०—धामों से समन्वित २१ अहर्गणात्मक वाङ्मय वषट्कार मण्डल व्यवस्थित रूप से आहुतिप्रदाता बना हुआ है (२)।

पवि-प्रेतिरूप उभय बल को लक्ष्य बना कर। 'पृति च प्रेति चाम्बाद्' ही चतुष्पदा गायत्री की आधारभूमि बना। परिणामस्वरूप पारमेष्ठ्य गन्धर्व गायत्री के वेग को न सह सके। झपाटा मार कर गायत्री ने सोम का भी अपहरण कर लिया, एवं गन्धर्वों के द्वारा धृत जगती के तीन पैर, तथा त्रिष्टुप् का एक पैर, इन चार पैरों को भी ले आई। इस आहृत सोम से जहाँ पार्थिव देवता तीन टाँगों वाली त्रिष्टुप् माई अपना एक पैर माँगने, तो गायत्री ने कहा, अब तो मेरा स्वरूप बन चुका है। तुम चाहो, तो मुझ में मिल सकती हो। अथवा-त्रिष्टुप् अष्टाक्षरा गायत्री से मिल कर एकादशाक्षरा बन गई। एवमेव एक टाँग वाली जगती इस एकादशाक्षरा त्रिष्टुप् से मिल कर द्वादशाक्षरा बन गई। और यों गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती-नामक छन्दों का स्वरूपसमर्पक यह सोमाप हरणाख्यान अनेक सृष्टितत्त्वों का परोक्षभाषा में विश्लेषण करता हुआ उपरत हुआ, जिसका 'एतद्ध सौपर्णमाख्यानमाख्यानविद आचक्षते' (श्रुति) इत्यादिरूप से ब्राह्मणग्रन्थों में विस्तार से निरूपण हुआ है।

वेदशास्त्र के तथाकथित गायत्री रहस्यात्मक सौपर्णाख्यान का ही पुराणशास्त्र ने 'कद्रूविनता' के आख्यान के द्वारा विस्तार से उपबृंहण किया है। गरुडमाता विनता, तथा सर्पों की माता कद्रू, दोनों की प्रतिद्वन्द्विता से सम्बन्ध रखने वाले इस पौराणिक आख्यान से आस्तिक मानवश्रेष्ठ तो अवश्य ही परिचित होंगे। इस-प्रकार के आख्यान ही पुराण परिभाषा में-'असदाख्यान' कहलाए हैं। (१)-आध्यात्मिक, (२)-आधिभौतिक, (३)-आधिदैविक (४)-आध्यात्मिकाधि दैविक (५)-आध्यात्मिकाधिभौतिक, (६)-आधिदैविकाधिभौतिक (७)-आधिदैविकाधिभौतिकाध्यात्मिक एवं (८)-असत् भेद से पौराणिक आख्यान आठ स्वतन्त्र धाराओं में विभक्त हैं जिनमें से 'कद्रूविनताख्यान' का आठवें असदाख्यानविभाग से ही सम्बन्ध है। कल्पित कथानक ही असदाख्यान है। सम्भवतः जिसे आप अपनी प्रियभाषा में—'माइथालॉजी' कहते हैं, वही हमारा असदाख्यानविभाग है जिसका तात्पर्य है—'मिथ्या ज्ञान—कल्पित ज्ञान, किंवा कल्पित कथानक। ऋषिप्रज्ञा ने अपनी दूरदर्शिता से यह अनुभव कर लिया था कि, मानव का भौतिक शिक्षाप्रद इतिहास पत्रों (कागजों) पर कभी स्थायी नहीं रह सकता। अतएव ऋषिप्रज्ञा ने शिक्षात्मक सांस्कृतिक इतिहास को चिरन्तन बनाने की कामना से नद-नदी, पर्वत, तथा नक्षत्र इन तीन प्राकृतिक स्थायी पत्रों पर इसे लिख डाला। सामान्य श्रेणि के इतिहासों का माध्यम

बनीं नद-नदियाँ, मध्यम श्रेणि के इतिहासों के माध्यम बने पर्वत, एवं विशेषरूप से संरक्षणीय लोकशिक्षक इतिहासों का माध्यम बना नक्षत्रमण्डल। स्मरण रखिए भारतीय संस्कृति, हिन्दूसंस्कृति नदनदियों-पर्वतों-नक्षत्रों पर लिखी हुई है, जिसे पृथिवी का कोई भी आततायी ध्वस्त-विध्वस्त नहीं कर सकता। शाश्वत सनातन संस्कृति के पत्र भी शाश्वत ही बने हुए हैं। यही कारण है कि, यद्यपि अनेक बार यहाँ के ग्रन्थभाण्डार क्रव्यादाग्नि में आहुत कर दिए दुष्टों ने। तथापि यह संस्कृति नदनदियों-पर्वतों-नक्षत्रों के आख्यान-माध्यम से आज तक अक्षुण्ण ही बनी हुई है, अक्षुण्ण ही बनी रहेगी यावच्चन्द्रदिवाकरौ। अवश्य ही कोई वैसा गुप्त अमृतस्रोत उपलब्ध है इस जाति को, जिसके बल पर सब ओर से आक्रमण सहती हुई भी यह जीवित है, जीवित रहेगी। 'अमृतस्य पुत्रा अभूम' यही इस हिन्दूजाति का चिर उद्घोष है, जिसे कौन अभिभूत कर सकता है।

"विश्वामित्र ने किसी अपराध पर अपनी कन्या को शाप दे डाला कि तू आज से पानी बन जा, नदी बन जा। वही अभिशप्ता नदी आज 'गण्डकी' के नाम से प्रसिद्ध है' यह है असदाख्यान का एक उदाहरण। घटना के स्मरणमात्र के लिए नदी के साथ इस आख्यान को जोड़ मात्र दिया है। एवमेव उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव का यद्यपि खगोलस्थ सनातन ध्रुवनक्षत्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। तथापि स्मरणमात्र के लिए ध्रुव का आख्यान ध्रुवादि नक्षत्र विशेषों पर डाल दिया गया है। यही असदाख्यान का तीसरा उदाहरण है। आप कहेंगे—कल्पित कथाएँ क्यों बनाई गई, स्पष्टरूप से सीधी व्यक्त भाषा से ही क्यों नहीं इन तत्त्वों का विश्लेषण कर दिया गया ? । उत्तर स्पष्ट है। सब आप ही जैसे तो प्रज्ञाशील नहीं हैं। हमारे जैसे सामान्यप्रज्ञों की ही संख्या अधिक है, जो मानस उपलालन-नामक आख्यानव्याज से ही तत्त्वसीमा के तट का अवगाहन कर सकते हैं। 'ऋश्यर्जति न मृगव्याधश्चरत्' से प्रसिद्ध प्रजापति का आख्यान—'प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायत्-दिवं वा, उषसमित्यन्ये' इत्यादिरूप से किस सरलता से नाक्षत्रिक मण्डल का विश्लेषण कर देता है, यह तो आख्यान के हृदय का स्पर्श करने वाले श्रद्धालु ही जान सकते हैं। शिक्षण कौशल से सम्बन्ध रखने वाले इसी असन्माध्यम का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् भर्तृहरि ने कहा है—

उपाया शिक्षमाणानां बालानामुपलालना ।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥

—वाक्यपदी

भूगोल–खगोल-शिक्षण के लिए माध्यम बनने वाले पर्युलपुत–विविध रेखाचित्र इन कल्पित मूर्तो-चित्रों के द्वारा ही तो खगोलीय–भूगोलीय–अवस्थितियों का बोध कराते हैं। आप जैसे प्रज्ञाशील भी तो उपमलालनात्मक इन माध्यमों से ही शिक्षा प्रदान कर रहे हैं। फिर पुराण ने ही क्या अपराध किया!, अपने अन्तर्जगत् में ही समन्वय कीजिए वास्तविक स्थिति का। अलमतिपल्लवितेन प्रासङ्गिकेतिवृत्तेन।

'हृदय' शब्द से सम्बन्ध रखने वाले आदान-विसर्ग-स्तम्भन भावों के द्वारा यह स्पष्ट किया गया कि, स्वयं शब्द ही तद्वाच्य अर्थार्थ के स्पष्टीकरण की क्षमता रखता है। यही स्थिति 'वेद' शब्द की है। विद ज्ञाने, विद्लृ लाभे, विद सत्तायाम्–रूप से विद् धातु के ज्ञान, लाभात्मक रस, सत्ता, तीनों अर्थ हैं। ज्ञान चित् है, लाभात्मक रस आनन्द है, सत्ता सत् है, समष्टि सच्चिदानन्द है, यही ब्रह्म है, यही विद्या है, और यही वेद पदार्थ है। यह है 'वेद' शब्द का तटस्थ लक्षण। अब एक वैसे स्वरूपलक्षण की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जा रहा है, जिसमें स्पष्ट ही वेद की तत्त्वरूपता व्यक्त हो रही है। मन्त्र तैत्तिरीय ब्राह्मण का है—

> ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः—
> सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
> सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्—
> सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्॥
>
> —तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१२।९।१।

जितनी भी मूर्त्तियाँ हैं, सब 'ऋक्' तत्त्व से उत्पन्न हुई हैं। पिण्ड मूर्त–भौतिक–पदार्थ मरण धर्म्मा परिवर्त्तनशील–परमूर्त्त्यात्मक द्रव्य' ही मूर्त्ति शब्द की स्वरूपव्याख्या है। आजकल तो वीतराग साधु महानुभाव ही यहाँ 'मूर्त्तियाँ' कहला रहे हैं। प्रश्नोपनिषत् ने–'तस्मान्मूर्त्तिरेव रयिः' के अनुसार 'रयि' को ही मूर्त्ति माना है। प्राणाग्नि की स्व आहुति से जिसे पिण्डरूप में परिणत कर देने वाला स्नेहधर्म्मा मार्गव सोम ही 'रयि' है। इसी आधार पर श्रुति ने रयिरूप सोम को मूर्त्ति मान लिया है। रयिसोम ही वैदिक परिभाषा में 'परमा–सोम' कहलाता है जिसके सम्बन्ध से शिथिलतनधर्म्मा भी प्राणाग्नि चर भूत–परमाणुओं के कूट का विवरण करता हुआ बस्तुपिण्डरूप में परिणत हो जाता

करता है। 'ध्रुवोऽसि-धर्त्रमसि-धरुणमसि' (यजु संहिता १।१८।) के अनुसार भारतीय विज्ञानकाण्ड में पदार्थों का तीन श्रेणियों में वर्गीकरण हुआ है। ध्रुवावस्था ही निबिडावस्था, किंवा घनावस्था है। धर्त्रावस्था ही द्रवावस्था, किंवा सरलावस्था है। एवं धरुणावस्था ही वाष्पावस्था, किंवा विरलावस्था है। जगत् के उपादानमूल भृगु, और अङ्गिरा नामक तत्त्व इन्ही तीन अवस्थाओं के कारण क्रमशः आपः-वायु-सोमः, एवं अग्निः-यम-आदित्यः, इन तीन तीन अवस्थाभावों में परिणत हो रहे हैं। तीनों भार्गव सौम्य तत्त्वों में से, तथा तीनों आङ्गिरस आग्नेय तत्त्वों में से ध्रुवसोम, तथा ध्रुवाग्नि के अन्तर्य्यामसम्बन्धात्मक मिथिसम्बन्ध से ही भौतिक पिण्ड की स्वरूपनिष्पत्ति होती है।

वैदिक विज्ञानपरम्पराओं की विलुप्ति के दुष्परिणामस्वरूप संस्कृत पाठशाला-विद्यालयों का सुप्रसिद्ध पाठ्यग्रन्थ 'तर्कसंग्रह' आज-'सांसिद्धिकं द्रवत्वं जले' रूप से पानी के द्रव धर्म को नित्य मानने की भ्रान्ति कर रहा है, जब कि पानी ध्रुवाग्नि के प्रवेश से तुषार (बर्फ) बन जाता है, धर्त्राग्निप्रवेश से द्रव हो जाता है, एवं धरुणाग्निप्रवेश से वाष्परूप में आकर उत्क्रान्त हो जाता है। पदार्थविज्ञान की परिगणित भौतिक परिभाषाओं का दिग्दर्शन कराने वाले स्वयं महर्षि कणाद अपने वैशेषिकदर्शन में-'अपां संघातो, विलयनं च तेजःसंयोगात्' (वै० सूत्र) इत्यादि रूप से पानी का संघात, तथा विलयन तेजः-संयोग पर अवलम्बित मान रहे हैं, तो तर्कसंग्रहकार ने अपने ही न्यायसिद्धान्त के विपरीत कैसे पानी को नित्य द्रव्य द्रव्य मान लिया? यह एक अचिन्त्य ही प्रश्न है। इन्ही कुछ एक कारणों से संस्कृतविद्या आज उपेक्षा की वस्तु बनी हुई है, जब कि संस्कृतभाषा भाषाविज्ञान की दृष्टि से सम्पूर्ण इतर प्राच्य-प्रतीच्य-भाषाओं के समतुलन में सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित हो रही है।

मान्य राष्ट्रपति महाभाग !

संस्कृतभाषा पर आज सब से बड़ा अभियोग यह है कि, "यह डैन्स भाषा है, पोथीविद्या है, साथ ही विज्ञानशून्या, अतएव मृतभाषा भाषा है"। यथार्थ है। रटना तो अवश्य ही पड़ता है इसे। किन्तु यदि उद्दण्डतापूर्ण यह प्रश्न करने की धृष्टता कर ली जाय, तो क्षमा करेंगे आप मुझे कि, जिस भाषा के शब्दों के साथ साथ अक्षर वर्ण भी रटे जायँ, वह भाषा कठिन है ?, अथवा जिस के केवल शब्द रटे जायें, वह भाषा कठिन है ?। राम-मानवः-मार्जार-आदि

भूगोल-खगोल शिक्षण के लिए माध्यम बनने वाले वर्त्तुलवृत्त-विविध रेखाचित्र इन कल्पित वृत्तों-चित्रों के द्वारा ही तो खगोलीय-भूगोलीय-सत्य-स्थितियों का बोध कराते हैं। आप जैसे प्रज्ञाशील भी तो उपलक्षलालनात्मक इन माध्यमों से ही शिक्षा प्रदान कर रहे हैं। फिर पुराण ने ही क्या अपराध किया है, अपने अन्तर्जगत् में ही समन्वय कीजिए वास्तविक स्थिति का। अलमतिपल्लवितेन प्रासङ्गिकेतिवृत्तेन।

'हृदय' शब्द से सम्बन्ध रखने वाले आदान विसर्ग-स्तम्भन-भावों के द्वारा यह स्पष्ट किया गया कि, स्वयं शब्द ही तद्वाच्य तत्त्वार्थ के स्पष्टीकरण की क्षमता रखता है। यही स्थिति 'वेद' शब्द की है। विद् ज्ञाने, विद्लृ लाभे, विद् सत्तायाम्-रूप से विद् धातु के ज्ञान, लाभात्मक रस, सत्ता, तीनों अर्थ हैं। ज्ञान चित् है, लाभात्मक रस आनन्द है सत्ता सत् है, समष्टि सच्चिदानन्द हैं, यही ब्रह्म है, यही विद्या है, और यही वेद पदार्थ है। यह है 'वेद' शब्द का तटस्थ लक्षण। अब एक वैसे स्वरूपलक्षण की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जा रहा है, जिससे स्पष्ट ही वेद की तत्त्वरूपता व्यक्त हो रही है। मन्त्र तैत्तिरीय ब्राह्मण का है—

> ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः—
> सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
> सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्—
> सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्॥
>
> —तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१२।८।१।

जितनी भी मूर्त्तियाँ हैं सब 'ऋक्' तत्त्व से उत्पन्न हुई हैं। पिण्ड, मूर्त्त—भौतिक-पदार्थ, मरण धर्म्मा परिवर्त्तनशील-क्षरकूटात्मक 'द्रव्य' ही मूर्त्ति शब्द की स्वरूपव्याख्या है। आजकल तो वीतराग साधु महानुभाव ही यहाँ 'मूर्त्तियाँ' कहला रही हैं। प्रश्नोपनिषत् ने-'तस्मान्मूर्त्तिरेव रयिः' के अनुसार 'रयि' को ही मूर्त्ति माना है। प्राणाग्नि की स्व आहुति से घिल्म पिण्डरूप में परिणत कर देने वाला स्नेहधर्म्मा भार्गव सोम ही 'रयि' है। इसी आधार पर श्रुति ने रयिरूप सोम को मूर्त्ति मान लिया है। रयिसोम ही वैदिक परिभाषा में 'अश्मा-सोम' कहलाया है जिसके सम्बन्ध से विशकलनधर्म्मा भी प्राणाग्नि क्षर भूत-परमाणुओं के कूट का विघटन करता हुआ वस्तुपिण्डरूप में परिणत हो जाया

हम अपने सम्मुख रक्खे हुए वस्तुपिण्ड को ही अपने चर्म्मचक्षुओं से देखा करते हैं। किन्तु वस्तुतः ऐसा है नहीं। पिण्ड तो केवल स्पृश्य ही बना करता है, वो कभी दृश्य नहीं बन सकता। जिसका हम स्पर्श करते हैं, उसे देख नहीं रहे, एवं जिसे देख रहे हैं, उसका स्पर्श सम्भव नहीं। मण्डल ही हम देखा करते हैं, पिण्ड को नहीं। महिमारूप पुनःपद को ही हम देख सकते हैं। पिण्डरूप पद कदापि दृष्टि का विषय नहीं बना करता। तात्पर्य्य-प्रत्येक भौतिक वस्तुपिण्ड मे चारों ओर स्वयं इस वस्तुपिण्ड को केन्द्र मानते हुए-बनाते हुए-प्राणात्मक एक स्वतन्त्र रश्मिमण्डल का वितान होता है। इन बहिर्म्मण्डलों के समन्वय मे भी एक दूसरे जड़-चेतन—पदार्थों के गुण दोष एक दूसरे में संक्रमण कर जाया करते हैं, फिर पिण्डों के पारस्परिक स्पर्श की तो कथा ही क्या। प्राणात्मक यही रश्मिवितानमण्डल 'साहस्रीमण्डल' कहलाया है। वर्त्तमान भारतीय *दर्शनशास्त्र में चक्षुरिन्द्रिय के माध्यम से प्राप्यकारित्व*, एवं अप्राप्यकारित्व प्रश्न को लेकर बहुत बड़ा विवाद प्रक्रान्त है, जो तत्वत बालोपलालन ही कहा जायगा अथवा तो प्रौढ़िवादमात्र ही माना जायगा साहस्रीविद्या की अपेक्षा से। हमारी आँख विषय पर जाती है, अथवा विषय आँख पर आते हैं? इस प्रश्न को उठा कर दर्शन ने अन्त में यह निर्णय किया है कि, जैसे श्रोत्र-वाक्-प्राण-त्वक्-आदि इतर इन्द्रियाँ स्व स्थान पर स्थित रह कर विषयग्रहण करती हुई अप्राप्यकारित्वमर्य्यादा से आक्रान्त हैं, वैसे ज्योतिर्म्मय चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्यकारी न होकर प्राप्यकारी है। अर्थात् आँख ही विषय पर जाती है। स्पष्ट है कि, वैदिक साहस्री विज्ञान की दृष्टि से दर्शन का यह सिद्धान्त कोई महत्त्व नहीं रखता। न तो आँख विषय पर जाती, न विषय (स्पृश्य पिण्ड) आँख पर आता। अपितु पुरोऽवस्थित वस्तुपिण्ड का पूर्वोपवर्णित महिमामण्डलरूप रश्मिभाव ही चाक्षुष महिमामण्डल में प्रविष्ट होकर विषयप्रत्यक्ष का कारण बनता है। फलतः वेदान्तदर्शन के तद्विषयक जटिल शास्त्रार्थ का कोई महत्त्व शेष नहीं रह जाता। क्यों यह दार्शनिक कलह चल पड़ा इस वैज्ञानिक देश में? कारण स्पष्ट है। स्पृश्यपिण्ड तथा दृश्यमण्डल से सम्बन्ध रखने वाले ऋक् और साम की स्वरूपव्याख्या दर्शनयुग में अभिभूत ही हो गई थी। दर्शनों के लिए वेदशास्त्र तो केवल अर्चनीय प्रतिमा ही बन गया था।

स्पृश्य पिण्ड पृथक् वस्तुतत्त्व है, एवं दृश्यमण्डल भिन्न वस्तुतत्त्व है। उदाहरण से समन्वय कीजिए। ओषधि-वनस्पत्यादि से आक्रान्त जिस भूपृष्ठ पर

रूप से संस्कृत के शब्द मात्र ही पाये जाते है, यथाक्षर नहीं। जब कि अल्फ-आर-ए-एम्-राम, एम-ए-एन्-मैन, सी-ए-टी-केट, रूप से शब्दों के साथ साथ तद्घटक स्वर-वर्ण भी अनिवार्यरूप से रटने ही पड़ते हैं। रही बात विज्ञान की, तो इस सम्बन्ध में हम आज के युग में कुछ भी निवेदन करने का अधिकार इसलिए नहीं रखते कि, अपनी मूढ़ता से हमने अपनी ज्ञानविज्ञानपरिभाषाओं को शताब्दियों से विस्मृत ही कर दिया है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से संस्कृतभाषा जैसी अर्थगम्भीरा भावगम्य सरला प्राञ्जला भाषा विश्व में सम्भवतः ही कोई अन्य भाषा हो। बिना पारिभाषिक शब्दों के बोध के तो हिन्दीभाषा भी कम जटिल नहीं है। इम्लैण्ड के राजपथ में किसी व्यापाराध्यक्षपणयी से यदि लाल मिर्च माँगी जायगी, तो वह क्या समझेगा इस शब्द से। हम संस्कृतभाषा से बहुत दूर चले गए हैं। अतएव सरलतमा भी परम वैज्ञानिकी यह भाषा आज कठिन प्रमाणित हो रही है।

"यत्संस्कृत किमपि जङ्गमभाषमशुद्ध—
यत्राविदेव इव वेदपुमान् विभाति"।

इत्यादि रूप से उपस्तुता जिस गीर्वाणवाणी सुरभारती के क्रोड़ में वेदशास्त्र जैसा ज्ञानविज्ञानकोश सुगुप्त हो, उस भाषा की उपेक्षा कर बैठना अपने स्वरूप को ही विस्मृत कर देना है। जो विश्व की यच्चयावत् भाषाओं की आद्यजननी है, ऋषिप्रज्ञा ने जिसका 'सरस्वती' रूप से यशोवर्णन किया है, अतएव जो वस्तुतः सब ओर से 'रसवती' ही है रसोपकर्षकारूप वीणावादन जिसके नैदानिक ध्यान से समन्वित है, वह वाग्देवी किस प्रज्ञाशील को आकर्षित न करेगी। सांस्कृतिक अनुकम्पाकर्षणा से सम्भवतः हम विषयान्तर का अनुगमन कर बैठे हैं।

प्रकृत में कहना हम यह रहे थे कि, विश्व के मूलभौतिक पिण्डमात्र ऋग्वेद से बनते हैं। पिण्ड में रहने वाला आदानविसर्गात्मिका जो गति तिर्यक् है, वह यजुर्वेद से ही समुद्भूत है। स्वयं पिण्ड वस्तु की कोई स्वरूपपरिभाषा नहीं है। जब तक पिण्ड क्रियाशील है तभी तक, पिण्ड पिण्ड है। क्रिया के उपरान्त होते ही वस्तुपिण्डस्वरूप उच्छिन्न हो जाता है। सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्' इत्यादि मन्त्रभाग में यजुर्वेदानुबन्धिनी इस गति का ही स्वरूपविश्लेषण हुआ है। तैत्तिरीय वाक्य है—'सर्वं-तेज सामरूप्यं ह शश्वत्'। इसके यथार्थ-समन्वय के लिए थोड़ा-प्रकाश अपेक्षित होगा। सामान्य धारणा ऐसी है कि,

मण्डलावच्छिन्न साम ही बना करते हैं। प्रत्येक वस्तुपिण्ड ऋङ्मूर्ति है, एवं वस्तुपिण्ड का प्राणमयमण्डलात्मक तेजोमयमण्डल ही साम है, इसी अभिप्राय से श्रुति ने कहा है—'सर्वं तेज सामरूप्यं ह शश्वत्'।

दृष्टिपथ का विषय न तो पिण्डात्मक ऋग्वेद ही बनता, न गत्यात्मक यजुर्वेद ही। अपितु विभूतिलक्षण तेजोमय सामवेद ही दृष्टि का आलम्बन बनता है। अतएव ईश्वरीय विभूति-गणना के प्रसङ्ग में भगवान् वासुदेव कृष्ण ने- 'वेदानां सामवेदोऽस्मि' (गीता) यह सिद्धान्त स्थापित किया है। कदापि इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि, ऋक् और यजु प्रतिष्ठा में न्यून हैं साम की अपेक्षा से।

किस तत्त्व के सहयोग से पिण्डात्मक ऋग्वेद, गत्यात्मक यजुर्वेद, तथा मण्डलात्मक सामवेद का स्वरूप विकास हुआ ?, अब एकमात्र यही प्रश्न शेष रह जाता है। इसी शेष प्रश्न का समाधान करते हुए अन्त में श्रुति कहते हैं- 'सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्'। अत्यन्त पारिभाषिक अनुगममायात्मक यहाँ के 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ है- अथर्ववेद'। पारमेष्ठ्य अथर्वा तत्त्व-जो स्वयम्भू ब्रह्मा का ज्येष्ठपुत्र माना गया है,—तत्त्वसृष्टिपरम्परा में सोमात्मक तत्त्व है। पिण्डस्वरूप-सम्पादक ऋग्वेद का सम्बन्ध है अग्नि से, गतिस्वरूपसम्पादक यजुर्वेद का सम्बन्ध है वायु से, एवं मण्डलस्वरूपसम्पादक सामवेद का सम्बन्ध है आदित्य से। साम का आदित्य से सम्बन्ध है, सूर्य्य से नहीं, यह विशेष रूप से ध्यान में रखिए। सूर्य्य और आदित्य पर्य्याय नहीं है विज्ञानभाषा में। सूर्य्य वहाँ एकाकी चरति, वहाँ आदित्य प्राण १२ मार्गों में विभक्त हैं, जैसाकि निम्न लिखित आप्तवचन से प्रमाणित है-

> इन्द्रो-धाता-भग -पूषा-मित्रोऽथ-वरुणोऽर्य्यमा ।
> अंशु-विवस्वान्-त्वष्टा च, सविता-विष्णुरेव च ॥

इसी वेदस्वरूपप्रसङ्ग में हम एक स्मृतिवचन और उद्धृत कर रहे हैं। राजर्षि मनु कहते हैं—

> अग्नि-वायु-रविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
> दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थं ऋग्-यजु -सामलक्षणम् ॥
>
> —मनु १।२३।

हम बैठे हैं, चलते फिरते हैं, इसका नाम है–'भूपिण्ड,' यही है स्थूलपिण्ड। पुराणशास्त्र जब भी सृष्टिविद्या का विश्लेषण करेगा, इस स्थूल भूपिण्ड को का लक्ष्य न बना कर पृथिवीमण्डल को ही अपना प्रधान लक्ष्य बनाएगा। भूपिण्ड, और पृथिवीमण्डल, दोनों विज्ञानजगत् में सर्वथा भिन्न भिन्न विभक्त वस्तु तत्त्व हैं। भूपिण्ड उसका नाम है, जिस पर आप-हम-सब बैठे हैं। पृथिवीमण्डल उसका नाम है, जो भूपिण्ड से चतुर्दिक् बाहिर की ओर निकल कर व्याप्त होने वाला प्राणात्मक साम्नी भाग है, जिसका कि फैलाव सूर्यपिण्ड से भी कुछ ऊपर तक माना गया है। 'आदित्यो वै देवरथ' इस श्रुति के अनुसार सूर्य 'देवरथ' कहलाया है। पार्थिव प्राणरस क्योंकि इस रथात्मक सूर्य की भी सीमा का तरण-अतिक्रमण-कर जाता है, अतएव पार्थिव मण्डलसीमात्मक व्यवमानात्मक यह साममण्डल 'रथन्तरसाम' कहलाया है। पुराण कहता है-'पृथिवी के पुष्कर द्वीप में सूर्य्य प्रतिष्ठित है'। क्या भूपिण्ड के किसी द्वीप पर सूर्य प्रतिष्ठित है ?। नहीं। मानना पड़ेगा कि भूपिण्ड अन्य तत्त्व है एवं पृथिवीमण्डल कोई अन्य ही तत्त्व है। भूपिण्ड को आधार बना कर जो भूगर्भस्थ प्राणाग्नि उक्थरूप से केन्द्र में आबद्ध रहता हुआ अर्कात्मक प्राणरश्मिरूप से बहि: आसमन्तात् वितत होता हुआ अपना एक स्वतन्त्र महिमामण्डल बना लेता है, वही इस वितानरूप विस्तार-फैलाव-के कारण 'पृथिवी' कहलाया है, जैसा कि-'यदप्रथयत्-तस्मात्-पृथिवी' इत्यादि पृथिवी शब्द के निर्वचन से ही स्पष्ट है। यह पार्थिव प्राण मण्डल ही साम है तत्सम्बन्धा विद्या ही 'सामविद्या' है, जिसे अनुबन्ध भेद से पुनःपदविद्या-अर्कविद्या-महिमाविद्या-विभूतिविद्या-ऐश्वर्यविद्या-आदि अनेक नामों से व्यवहृत किया गया है।

तात्पर्य्य निवेदन करने का यही है कि, प्रत्येक वस्तुपिण्ड में से निकलने वाला सुतीक्ष्ण-सुसूक्ष्म प्राणरश्मिरूप जो तेजोमण्डल है, वही सामवेद है। किंवा सामवेद ही इस तेजोमय बहिर्मण्डलात्मक विभूतिमण्डल का सर्जक बना हुआ है। मण्डल उत्तरोत्तर ज्यों ज्यों बड़ा होता जाता है, वस्तुपिण्ड के पार्श्वांशु द्युम के उत्तरोत्तर ह्रस्व बनते जाने का कारण मूर्तिभाव उत्तरोत्तर छोटे होते जाते हैं किंवा इस सुसूक्ष्म रहस्य का इस सामयिक वक्तव्य से कथमपि स्पष्टीकरण सम्भव नहीं है। साममण्डलान्तर्वर्ती मूर्तिभावों के उत्तरोत्तर ह्रसीमान् बनते जाने के कारण वस्तुपिण्ड से हम ज्यों ज्यों दूर हटते जाते हैं त्यों त्यों वस्तुपिण्डानुगत मण्डल मात्र हमें छोटा दिखलाई देने लगता है। समीप से वस्तु क्यों बड़ी, दूर से वस्तु क्यों छोटी दिखलाई देती है ?, इसका एकमात्र कारण पिण्डावच्छिन्न अर्क्, तथा

—

भी इतना तो जानते ही हैं कि, सूर्य्य साक्षात् तीनों विद्याओं–वेदों–का समूह है"–यह है श्रुति का अक्षरार्थ, जिसके तत्त्वार्थ के लिए तो स्वतन्त्र ग्रन्थ ही अपेक्षित है।

लक्ष्य बनाना चाहिए हमें श्रुति के-'तद्धै तदप्यविद्वांस आहुः' वाक्य को, और पश्चात्ताप करना चाहिए हमें आज की अपनी पतनावस्था पर। उस युग में जहाँ मूर्ख भी राष्ट्रीय व्यापक शिक्षासंस्कारों के अनुग्रह से सूर्य्य को वेदत्रयीमूर्त्ति मानते थे, वहाँ आज के युग के विद्वान् भी इस तात्त्विक वेदपरिज्ञान से पराङ्मुख ही बने हुए हैं। 'अग्निमीळे पुरोहितम्' इत्यादि लक्षण अकार-ककारादि वर्ण-शब्द-वाक्यादि संग्रहरूपा शब्दराशि का नाम क्या सूर्य्य है ?, क्या वेदग्रन्थ सब खड़े हैं पिण्ड–मण्डल–एवं अग्निरूप से ?। मुकुलितनयन बन कर स्वयं विद्वानों को अपने अन्तर्जगत् में हीं इन प्रश्नों की मीमांसा करनी चाहिए।

पूर्वोक्त तत्त्वात्मक वेद किसी मानव की रचना नहीं है, अपितु वह तो ईश्वरीय तत्त्व है। अतएव अवश्य ही तत्त्वात्मक इस वेद को नित्यकूटस्थ, अतएव अपौरुषेय ही कहा जायगा। रही बात शब्दात्मक वेद की, तत्सम्बन्ध में तो भगवान् कणाद का–'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' वचन ही पर्य्याप्त होगा। इस तत्त्वात्मक अपौरुषेय वेद की केवल बुद्धिपूर्वा व्याख्या ही नहीं है यह शब्दात्मक वेदशास्त्र, जैसा कि विद्वद्ग्रन्थरूप से पूर्व में हमनें सङ्केत किया था। अपितु वेदशास्त्र वेदतत्त्व का प्रतिमान शिल्प है। अतएव यह उससे अभिन्न बना हुआ है जिस इस अभिन्नता का साक्षात्कृतधर्म्मा ऋषियों की निर्भ्रान्ता तत्त्वदृष्टि से ही सम्बन्ध है। यही अभिन्न सम्बन्ध शब्दार्थ का औत्पत्तिक सम्बन्ध है, जिसके माध्यम से पूर्वमीमांसादर्शन के स्रष्टा भगवान् जैमिनि ने तत्त्वात्मक वेद से अभिन्न शब्दात्मक वेद को भी अपौरुषेयकोटि में हीं ला खड़ा किया है, जैसा कि उनके निम्न लिखित सूत्रसन्दर्भ से स्पष्ट है—

> "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्य अनपेक्षत्वात्"।
>
> —पूर्व मी० सू० १।१।५।

भारतीय प्रज्ञा एक ओर 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' कहती हुई भी शब्दात्मक वेदग्रन्थ को कैसे, और क्यों अपौरुषेय मान रही है ?, किस आधार पर इसका—

"प्रजापति ने यज्ञस्वरूपसिद्धि के लिए, यज्ञ के स्वरूपनिर्म्माण के लिए अग्नि–वायु–आदित्य तीन देवताओं से क्रमशः–ऋग–यजु–साम–इन तीन वेदों को, तथा चोथ सनातनरूप ब्रह्म–अर्थात अथर्व का दोह लिया,' यह है उक्त वचन का अक्षरार्थ। अथर्वरूप ब्रह्मवेद,–जिसे गायत्र ने 'सुब्रह्म' कहा है–त्रयीब्रह्म की अपेक्षा से–ही सोमवेद है जिसकी आहुति से अग्नित्रयी के द्वारा अग्नीषोमात्मक मौलिक यज्ञ का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। ऋक्, अर्थात् अग्नि। यजु–अर्थात् वायु। साम–अर्थात् आदित्य। अग्नि–वायु–आदित्य से दोह हुए स्वरूप इन ऋक्–यजु सामों की समष्टि का नाम है–त्रयीवेद'। यह त्रयीवेद स्वस्वरूप से विकसित कब तक रहता है ?, जब तक कि इसके साथ अथर्व नामक सोमब्रह्म की आहुति का सम्बन्ध प्रक्रान्त रहता है। ध्यान रहे, अब इसी वेदचतुष्टयी के माध्यम से हम शनैः शनैः अग्नीषोमविद्या के सन्निकट पहुँच रहे हैं, जो आज का मुख्य विषय है। क्या पूर्वप्रतिपादित वेद वेदभाष्य है ?। अब भी सन्तोष न हुआ हो, तो एक वचन और लीजिए, जो विस्पष्टरूप से त्रयीवेद की तत्त्वरूपता का दिग्दर्शन करा रहा है। अग्निरहस्य का प्रतिपादन करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

यदेतन्मण्डलं तपति–तन्महदुक्थं, ता ऋचः। स ऋचां लोकः। अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते–तन्महाव्रतं, तानि सामानि, स साम्नां लोकः। अथ य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः–सोऽग्निः, तानि यजूंषि, स यजुषां लोकः। सैषा त्रय्येव विद्या तपति। तद्ध तदप्यविद्वांस आहुः–'त्रयी वा एषा विद्या तपति'–इति ॥

—शतपथब्राह्मण १०।५।२।१,२।

यह जो बिम्बात्मक सूर्य्यमण्डल तप रहा है, वही 'महदुक्थ' है, वे ही ऋचाएँ हैं। यही ऋचाओं का लोक है। जो यह अर्चि–रश्मि–रूप ज्योतिर्मण्डल प्रदीप्त है, प्रकाशमान है वही महाव्रत है, वे ही साम हैं वही सामों का लोक है। जो कि इस पिण्ड–मण्डल में दोनों पुरमाओं में प्रतिष्ठित (गतिरूप) पुरुष प्रतिष्ठित है, वही अग्नि है, वे ही यजु हैं वही यजुओं का लोक है। इस प्रकार सूर्य्य क्या तप रहा है, तीनों वेद ही तप रहे हैं। विद्वान् लोग तो इस रहस्य को जानते ही हैं। किन्तु–(उस युग के) तो साधारण अपठित ग्रामीण

भी इतना तो जानते ही हैं कि, सूर्य्य साक्षात् तीनों विद्याओं–वेदों–का समूह है"–यह है श्रुति का अक्षरार्थ, जिसके तत्त्वार्थ के लिए तो स्वतन्त्र ग्रन्थ ही अपेक्षित है।

लक्ष्य बनाना चाहिए हमें श्रुति के-'तद्धैतदप्यविद्वांस आहुः' वाक्य को, और पश्चात्ताप करना चाहिए हमें आज की अपनी पतनावस्था पर। उस युग में जहाँ मूर्ख भी राष्ट्रीय व्यापक विद्यासंस्कारों के अनुग्रह से सूर्य्य को वेदत्रयीमूर्त्ति जानते थे, वहाँ आज के युग के विद्वान् भी इस तात्त्विक वेदपरिज्ञान से पराङ्मुख ही बने हुए हैं। 'अग्निमीळे पुरोहितम्॰' इत्यादि लक्षण अकार-ककारादि वर्ण-शब्द-वाक्यादि संग्रहरूपा शब्दराशि का नाम क्या सूर्य्यवेद है ?, क्या वेदग्रन्थ तप रहे हैं पिण्ड–मण्डल–एवं अग्निरूप से ?। मुकुलितनयन बन कर स्वयं विद्वानों को अपने अन्तर्जगत् में ही इन प्रश्नों की मीमांसा करनी चाहिए।

पूर्वोक्त तत्त्वात्मक वेद किसी मानव की रचना नहीं है, अपितु वह तो ईश्वरीय तत्त्व है। अतएव अवश्य ही तत्त्वात्मक इस वेद को नित्यकूटस्थ, अतएव अपौरुषेय ही कहा जायगा। रही बात शब्दात्मक वेद की, तत्सम्बन्ध में तो भगवान् कणाद का– 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' वचन ही पर्य्याप्त होगा। इस तत्त्वात्मक अपौरुषेय वेद की केवल बुद्धिपूर्वा व्याख्या ही नहीं है यह शब्दात्मक वेदशास्त्र, जैसा कि विषुवृग्रन्थरूप से पूर्व में हमनें उल्लेख किया था। अपितु वेदशास्त्र वेदतत्त्व का प्रतिमान शिल्प है। अतएव यह उससे अभिन्न बना हुआ है जिस इस अभिन्नता का साक्षात्कृतधर्म्मा ऋषियों की निर्भ्रान्ता तत्त्वदृष्टि से ही सम्बन्ध है। यही अभिन्न सम्बन्ध शब्दार्थ का औत्पत्तिक सम्बन्ध है जिसके माध्यम से पूर्वमीमांसादर्शन के स्रष्टा भगवान् जैमिनि ने तत्त्वात्मक वेद से अभिन्न शब्दात्मक वेद को भी अपौरुषेयकोटि में ही ला खड़ा किया है, जैसा कि उनके निम्न लिखित सूत्रसन्दर्भ से स्पष्ट है—

> "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्य-अनपेक्षत्वात्"।
>
> —पूर्व मी० सू० १।१।५।

भारतीय प्रज्ञा एक ओर 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' कहती हुई भी शब्दात्मक वेदग्रन्थ को कैसे, और क्यों अपौरुषेय मान रही है ?, किस आधार पर इसका—

"अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्॥
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥१॥
आविर्भूतप्रकाशानामनभिप्लुतचेतसाम् ॥
ये भावा, वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते ॥२॥
अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा ॥
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते ॥३॥"

इत्यादि लक्षण अपौरुषेयसम्मत निर्भ्रान्त सिद्धान्त स्थापित हुआ', इत्यादि प्रश्न चिरन्तना आर्षी प्रज्ञा नाम की 'प्रज्ञापुराणी' से ही अनुप्राणित है ।

निरूपित तात्त्विक वेदस्वरूप के आधार पर अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, ऋक्–यजु–साम–अथर्व-नाम के चारों तत्त्ववेद क्रमशः अग्नि-वायु-आदित्य–सोमात्मक हैं। इनमें आदि की अग्निविद्या ही ऋग्विद्या है, तत्प्रतिपादक शब्दात्मक वेदशास्त्र ही ऋग्वेद है। दूसरी वायुविद्या ही यजुर्विद्या है, तत्प्रतिपादक शास्त्र ही यजुर्वेद है। तीसरी आदित्यविद्या ही सामविद्या है, तत्प्रतिपादक शास्त्र ही सामवेद है। एवं चौथी सोमविद्या ही अथर्वविद्या है, तत्प्रतिपादक शास्त्र ही अथर्ववेद है। घनताप्रवर्त्तक अग्नि से अनुप्राणित पिण्ड, किंवा मूर्त्ति स्वरूपसम्पादक वेद ही ऋग्वेद है यही पार्थिववेद है। तरलताप्रवर्त्तक वायु से अनुप्राणित गतिस्वरूपसम्पादक वेद ही यजुर्वेद है, यही आन्तरिक्ष्य वेद है। विरलताप्रवर्त्तक आदित्य से अनुप्राणित मण्डलस्वरूपसम्पादक वेद ही सामवेद है, यही दिव्यवेद है। एवं अग्नित्रयी का स्वरूपसमर्पक महाप्रवर्त्तक सोमवेद ही अथर्ववेद है, यही पारमेष्ठ्य वेद है। इस प्रकार चारों वेदों के लिए चार लोकों की कल्पना की गई है। कल्पना की है आपने और हमनें, जो मानस कल्पना में ही अहोरात्र विभोर हैं। ऋषिप्रज्ञा के लिए तो यह सब कुछ त्रिकालाबाधित सत्य सिद्धान्त है। देखिए! ऋषिप्रज्ञा क्या कह रही है इस सम्बन्ध में—

"त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः । अपि वै चतुर्थो देवलोक आपः । प्रजापतिस्तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा प्राणादेव इमं लोकं, अपानादन्तरिक्षलोकं, व्यानादमुं लोकं प्रावृहत् । सोऽग्निमेवा

स्मात्लोकात्-वायुमन्तरिक्षलोकात्-आदित्य दिव -असृजत् ।
सोऽग्नेरेवर्चः, वायोर्यजूँषि, आदित्यात् सामानि-असृजत" ।

शाङ्खायनब्राह्मण ६।१०।

अन्नात्मक चतुर्थ सोमरूप अथर्व को स्वगर्भ में अन्तर्लीन कर लेने वाले अन्नादात्मक अग्नि-वायु-आदित्यरूप ऋक्-यजु-साम ही प्रधान बने रह जाते हैं। इसी आधार पर वेद का सुप्रसिद्ध त्रित्वमूलक त्रिसत्यवाद प्रतिष्ठित है-'त्रि सत्या वै देवा'। प्राणात्मक आग्नेय देवता से अनुप्राणित मानव का मूलात्मा त्रित्व के आधार पर ही सत्य का अनुगामी बनता है। 'सकृदिव वै पितर' के अनुसार जहाँ सौम्य पितर सकृद्रूप एक बार से संगृहीत हैं वहाँ आग्नेय देव तीन बार के अभिक्रम से ही आत्मसात् बना करते हैं। तीन बार शान्तिपाठ, तीन बार आचमन, तीन बार सन्ध्या, आदि आदि रूपेण इस त्रित्ववाद के यच्चयावत् विवर्त्त इस देवतात्रयी पर ही अवलम्बित हैं। यहाँ तक कि-लोकव्यवहारों में भी न्यायलयों में आह्वानादि तीन बार ही लोकसम्मत बने हुए हैं। ऐसा क्यों ? । इसलिए कि- 'आत्मा उ एक सन्नेतत् त्रयम्, त्रय सदेकमयमात्मा'। इसी देवसत्य के आधार पर ही तो महामहिम राष्ट्रपति महाभाग ने आरम्भ में तीन दिन का कार्यक्रम आदिष्ट करते हुए अपने देवभाव को ही व्यक्त किया है। स्मरण कीजिए-अन्तर्य्यामी नामक उस प्रारम्भिक 'हृदय' को, जो सत्यमूर्ति तीन अक्षरों के द्वारा ही विश्व का साक्षी बना हुआ है।

ऋग्वेदात्मक अग्नि पार्थिव, अर्थात् भौम है। भूपिण्ड आपके सम्मुख उपहित-अवस्थित प्रतिष्ठित है। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए पार्थिव ऋग्वेदाग्नि के निरूपक ऋग्वेदग्रन्थ का उपक्रम हुआ है-'अग्निमीळे पुरोहितं होतारं रत्नधातमम्' इस मन्त्र से। 'पुरोहितम्' का अर्थ है-'पुरत'-सम्मुखे-अवस्थितं-पार्थिवाग्निं स्तौमि'। इस 'पुरोहितम्' विशेषण के द्वारा ऋषि यह उद्देश कर रहे हैं कि,-"हम इस ऋग्वेद में पार्थिव ऋगग्नि के माध्यम से ही सृष्टिविज्ञान का निरूपण कर रहे हैं"। यजुर्वेद का उपक्रम मन्त्र है-'इषे त्वोर्जे त्वा वायवस्थ देवो व' प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्म्मणे०' यह। स्पष्ट ही-'वायवस्थ' पद अन्तरिक्ष गतिलक्षण वायुरूप यजु तत्त्व की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। आदित्य सामवेदात्मक है जो भूलोक से बहुत दूर द्युलोक को अपनी प्रतिष्ठा बनाए हुए है। तभी तो सामवेद का उपक्रम-"अग्न

"अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्॥
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥१॥
आविर्भूतप्रकाशानामनभिप्लुतचेतसाम् ॥
ये भावा, वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते ॥२॥
अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा ॥
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षाच्च विशिष्यते ॥३॥"

इत्यादि लक्षण अपौरुषेयसम्मत निर्भ्रान्त सिद्धान्त स्थापित हुआ', इत्यादि प्रश्न चिरन्तना माभी प्रज्ञा नाम की 'प्रज्ञापुराणी' से ही अनुप्राणित है।

निरूपित तात्त्विक वेदस्वरूप के आधार पर अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, ऋक्-यजु-साम-अथर्व-नाम के चारों तत्त्ववेद क्रमशः अग्नि-वायु-आदित्य-सोमात्मक हैं। इनमें आदि की अग्निविद्या ही ऋग्विद्या है, तत्प्रतिपादक शब्दात्मक वेदशास्त्र ही ऋग्वेद है। दूसरी वायुविद्या ही यजुर्विद्या है, तत्प्रतिपादक शास्त्र ही यजुर्वेद है। तीसरी आदित्यविद्या ही सामविद्या है, तत्प्रतिपादक शास्त्र ही सामवेद है। एवं चौथी सोमविद्या ही अथर्वविद्या है, तत्प्रतिपादक शास्त्र ही अथर्ववेद है। घनताप्रवर्त्तक अग्नि से अनुप्राणित पिण्ड, किंवा मूर्ति स्वरूपसम्पादक वेद ही ऋग्वेद है, यही पार्थिववेद है। तरलताप्रवर्त्तक वायु से अनुप्राणित गतिस्वरूपसम्पादक वेद ही यजुर्वेद है, यही आन्तरिक्ष्य वेद है। विरलताप्रवर्त्तक आदित्य से अनुप्राणित मण्डलस्वरूपसम्पादक वेद ही सामवेद है, यही दिव्यवेद है। एवं अग्नित्रयी का स्वरूपसमर्पक यज्ञप्रवर्त्तक सोमवेद ही अथर्ववेद है, यही पारमेष्ठ्य वेद है। इस प्रकार चारों वेदों के लिए चार लोकों की कल्पना की गई है। कल्पना की है आपने और हमने, जो मानस कल्पना में ही सहोदर विमोर है। ऋषिप्रज्ञा के लिए तो यह सब कुछ त्रिकालाबाधित सत्य सिद्धान्त है। देखिए! ऋषिप्रज्ञा क्या कह रही है इस सम्बन्ध में—

"त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः। अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः। प्रजापतिस्तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा प्राणादेव इमं लोकं, अपानादन्तरिक्षलोकं, व्यानादमुं लोकं प्रावृहत्। सोऽग्निमेवा

स्मांल्लोकात्-वायुमन्तरिक्षलोकात्-आदित्य दिव -असृजत् ।
सोऽग्नेरेवर्चः, वायोर्यजूंषि, आदित्यात् सामानि-असृजत" ।

शाङ्खायनब्राह्मण ६।१०।

अन्नात्मक चतुर्थ सोमरूप अथर्व को स्वगर्भ में अन्तर्लीन कर लेने वाले अन्नादात्मक अग्नि-वायु-आदित्यरूप ऋक्-यजु-साम ही प्रधान बने रह जाते हैं। इसी आधार पर वेद का सुप्रसिद्ध त्रित्वमूलक त्रि सत्यवाद प्रतिष्ठित है-'त्रि सत्या वै देवा'। प्राणात्मक आग्नेय देवता से अनुप्राणित मानव का मूलात्मा त्रित्व के आधार पर ही सत्य का अनुगामी बनता है। 'सकृदिव वै पितर' के अनुसार जहाँ सौम्य पितर सकृद्रूप एक बार से संगृहीत हैं, वहाँ आग्नेय देव तीन बार के अभिक्रम से ही आत्मसात् बना करते हैं। तीन बार शान्तिपाठ, तीन बार आचमन, तीन बार सन्ध्या, आदि आदि रूपेण इस त्रित्व-वाद के यथायथत् विवर्त्त इस देवताश्रयी पर ही अवलम्बित हैं। यहाँ तक कि-लोक-व्यवहारों में भी न्यायलायों में आह्वानादि तीन बार ही लोकसम्मत बने हुए हैं। ऐसा क्यों ? । इसलिए कि-'आत्मा उ एक सन्नेतत् त्रयम्, त्रय सदेकमय मात्मा'। इसी देवसत्य के आधार पर ही तो महामहिम राष्ट्रपति महाभाग ने आरम्भ में तीन दिन का कार्यक्रम आदिष्ट करते हुए अपने दैवभाव को ही व्यक्त किया है। स्मरण कीजिए-अन्तर्य्यामी नामक उस प्रारम्भिक 'हृदय' को, जो सत्यमूर्ति तीन अक्षरों के द्वारा ही विश्व का साक्षी बना हुआ है।

ऋग्वेदात्मक अग्नि पार्थिव, अर्थात् भौम है। भूपिण्ड आपके सम्मुख उपहित-अवस्थित प्रतिष्ठित है। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए पार्थिव ऋग्वेदाग्नि के निरूपक ऋग्वेदग्रन्थ का उपक्रम हुआ है-'अग्निमीळे पुरोहित होतार रत्नधातमम्' इस मन्त्र से। 'पुरोहितम्' का अर्थ है-'पुरत -सम्मुखे-अवस्थितं-पार्थिवाग्नि स्तौमि'। इस 'पुरोहितम्' विशेषण के द्वारा ऋषि यह सङ्केत कर रहे हैं कि -'हम इस ऋग्वेद में पार्थिव ऋगग्नि के माध्यम से ही सृष्टिविज्ञान का निरूपण कर रहे हैं"। यजुर्वेद का उपक्रम मन्त्र है-'इषे त्वोर्जे त्वा वायवस्थ देवो व प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्म्मणे०' यह। स्पष्ट ही-'वायवस्थ' पद आन्तरिक्ष्य गतिलक्षण वायुरूप यजु तत्त्व की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। आदित्य सामवेदात्मक है जो भूलोक से बहुत दूर द्युलोक को अपनी प्रतिष्ठा बनाए हुए है। तभी तो सामवेद का उपक्रम-"अग्न

"अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्॥
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥१॥
आविर्भूतप्रकाशानामनभिप्लुतचेतसाम् ॥
ये भावा, वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते ॥२॥
अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा ॥
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते ॥३॥"

इत्यादि लक्षण अपौरुषेयसम्मत निर्भ्रान्त सिद्धान्त स्थापित हुआ ?, इत्यादि प्रश्न चिरन्तना मानवी प्रज्ञा नाम की 'प्रज्ञापुराणी' से ही अनुप्राणित है ।

निरूपित तात्त्विक वेदस्वरूप के आधार पर अब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, ऋक्-यजु-साम-अथर्व-नाम के चारों तत्त्ववेद क्रमशः अग्नि-वायु-आदित्य-सोमात्मक हैं । इनमें आदि की अग्निविद्या ही ऋग्विद्या है, तत्प्रतिपादक शब्दात्मक वेदशास्त्र ही ऋग्वेद है । दूसरी वायुविद्या ही यजुर्विद्या है, तत्प्रतिपादक शास्त्र ही यजुर्वेद है । तीसरी आदित्यविद्या ही सामविद्या है, तत्प्रतिपादक शास्त्र ही सामवेद है । एवं चौथी सोमविद्या ही अथर्वविद्या है, तत्प्रतिपादक शास्त्र ही अथर्ववेद है । घनताप्रवर्त्तक अग्नि से अनुप्राणित पिण्ड किंवा मूर्त्ति स्वरूपसम्पादक वेद ही ऋग्वेद है यही पार्थिववेद है । तरलताप्रवर्त्तक वायु से अनुप्राणित गतिस्वरूपसम्पादक वेद ही यजुर्वेद है, यही आन्तरिक्ष्य वेद है । विरलताप्रवर्त्तक आदित्य से अनुप्राणित मण्डलस्वरूपसम्पादक वेद ही सामवेद है, यही दिव्यवेद है । एवं अग्नित्रयी का स्वरूपसमर्पक यज्ञप्रवर्त्तक सोमवेद ही अथर्ववेद है, यही पारमेष्ठ्य वेद है । इस प्रकार चारों वेदों के लिए चार लोकों की कल्पना की गई है । कल्पना की है आपने और हमनें, जो मानस कल्पना में ही अहोरात्र विभोर हैं । ऋषिप्रज्ञा के लिए तो यह सब कुछ त्रिकालाबाधित सत्य सिद्धान्त है । देखिए ! ऋषिप्रज्ञा क्या कह रही है इस सम्बन्ध में—

"त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः । अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः । प्रजापतिस्तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा प्राणादेव इमं लोकं, अपानादन्तरिक्षलोकं, व्यानादमुं लोकं प्रावृहत् । सोऽग्निमेवा

स्माल्लोकात्–वायुमन्तरिक्षलोकात्–आदित्यं दिव –असृजत् । सोऽग्नेरेवर्चः, वायोर्यजूंषि, आदित्यात् सामानि–असृजत" ।

शाङ्खायनब्राह्मण ६।१०।

अन्नात्मक चतुर्थ सोमरूप अथर्व को स्वगर्भ में अन्तर्लीन कर लेने वाले अन्नादात्मक अग्नि–वायु–आदित्यरूप ऋक्–यजु–साम ही प्रधान बने रह जाते हैं। इसी आधार पर वेद का सुप्रसिद्ध त्रित्वमूलक त्रिसत्यवाद प्रतिष्ठित है– 'त्रिः सत्या वै देवाः'। प्राणात्मक आग्नेय देवता से अनुप्राणित मानव का भूतात्मा त्रित्व के आधार पर ही सत्य का अनुगामी बनता है। 'सकृदिव वै पितरः' के अनुसार जहाँ सौम्य पितर सकृद्रूप एक बार से संगृहीत हैं वहाँ आग्नेय देव तीन बार के अभिक्रम से ही आत्मसात् बना करते हैं। तीन बार शान्तिपाठ, तीन बार आचमन, तीन बार सन्ध्या, आदि आदि रूपेण इस त्रित्व वाद के यथयावत् विवर्त्त इस देवताभ्रयी पर ही अवलम्बित हैं। यहाँ तक कि-लोक-व्यवहारों में भी न्यायस्तायों में आह्वानादि तीन बार ही लोकसम्मत बने हुए हैं। ऐसा क्यों ? । इसलिए कि–'आत्मा उ एक सन्नेतत् त्रयम्, त्रय सदेकमयमात्मा'। इसी देवसत्य के आधार पर ही तो महामहिम राष्ट्रपति महाभाग ने आरम्भ में तीन दिन का कार्यक्रम आदिष्ट करते हुए अपने दैवभाव को ही व्यक्त किया है। स्मरण कीजिए–अन्तर्यामी नामक उस प्रारम्भिक 'हृदय' को, जो सत्यमूर्ति तीन अक्षरों के द्वारा ही विश्व का साक्षी बना हुआ है।

ऋग्वेदात्मक अग्नि पार्थिव, अर्थात् भौम है। भूपिण्ड आपके सम्मुख उपहित–प्रत्यस्थित प्रतिष्ठित है। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए पार्थिव ऋग्वेदाग्नि के निरूपक ऋग्वेदग्रन्थ का उपक्रम हुआ है–'अग्निमीळे पुरोहितं होतारं रत्नधातमम्' इस मन्त्र से। 'पुरोहितम्' का अर्थ है–'पुरतः–सम्मुखे-अवस्थितम–पार्थिवाग्निं स्तौमि'। इस 'पुरोहितम्' विशेषण के द्वारा ऋषि यह सङ्केत कर रहे हैं कि –'हम इस ऋग्वद् में पार्थिव अग्नि के माध्यम से ही सृष्टिविज्ञान का निरूपण कर रहे हैं"। यजुर्वेद का उपक्रम मन्त्र है– 'इषे त्वोर्जे त्वा वायवस्थ देवो वः प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्म्मणे०' यह। स्पष्ट ही–'वायवस्थ' पद आन्तरिक्ष्य गतिलक्षण वायुरूप यजु तत्त्व की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। आदित्य सामवेदात्मक है जो भूलोक से बहुत दूर द्युलोक को अपनी प्रतिष्ठा बनाए हुए है। तभी तो सामवेद का उपक्रम–"अग्न

आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये' इत्यादि मन्त्र मे हुआ है । जो दूर होता है, उसी का 'आयाहि'–'आइए'–रूप से आह्वान होता है । इसी प्रकार शब्दात्मक इन चारों वेदों के २१–१०१–१००० –९–ये शाखाविभाग भी तत्त्वात्मक वेद की प्राणमयी शाखासंख्याओं से ही सर्वात्मना समतुलित हैं । अग्नि के त्रिवृत्–पञ्च-क्रम से २१ विवर्त हैं, वायुमयप्रजापति प्रजापतिरेकशतविधः' के अनुसार १०१ विवर्तों में विभक्त है । कौन सा वायु ? । प्राणात्मक यजु वायु, जिसका मौलिक रूप यद्यपि 'यज्जू' है । तथापि जो परोक्षभाषा में कहलाया है–'यजुः' ही । लक्ष्य बनाइए निम्न लिखित श्रुतिवचन को—

"अयं वाव यजुः-योऽयं पवते । एष हि यन्नेवेदं सर्वं जनयति । एतं यन्तमिदमनु प्रजायते । तस्माद्वायुरेव यजुः । अयमेवाकाशो जूः—यदिदमन्तरिक्षम् । एत आकाशमनु जवते । तदेतत् यजुर्वायुश्चान्तरिक्षञ्च । यच्च जूश्च । तस्माद्यजुः । तदेतत्–यजुरृक्सामयोः प्रतिष्ठितम् । ऋक्सामे वहत" ।

—शतपथब्राह्मण १०।३।५।१,२, ।

स्पष्ट है कि, शब्दात्मक वेदग्रन्थ के शाखाविभाग भी मानवीय कल्पना नहीं है, जैसा कि आजकल के वेदभक्त विद्वान् मान रहे हैं । अपितु नित्य तत्त्ववेद के शाखाविभागों के अनुपात से ही वेदग्रन्थ में शाखाविभाग व्यवस्थित हुए हैं । आरम्भ से हमनें सर्वत्र–'परोक्ष' भाव की ओर सङ्केत किया है, और बतलाया है कि, देवता परोक्षभाव से तो प्रेम करते हैं, एवं प्रत्यक्षभाव से शत्रुता रखते हैं–'परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः' । क्या तात्पर्य्य है इस परोक्षता का ?, दो शब्दों में इस प्रासङ्गिक प्रश्न का भी समन्वय कर लीजिए ।

नग्नतानुबन्धी प्रत्यक्षभाव, जिसे प्रान्तीय भाषा में 'फूहड़पन' कहते हैं भारतीय शिष्टाचार के सर्वथा विरुद्ध माना गया है । लौकिक क्षेत्र हो अथवा तो आध्यात्मिक क्षेत्र, सर्वत्र प्रत्येक क्षेत्र में परोक्षता ही यहाँ का आदर्श रहा है । क्यों ? । इसलिए कि यहाँ केवल प्रत्यक्ष जड़ भूत ही उपास्य नहीं है । अपितु भूत के साथ साथ प्राण ही यहाँ मुख्यरूप से अनुगमनीय रहा है । भूत का आधारभूत प्राण तत्त्व रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द नामक पाँचों तन्मात्राओं से अतीत, अतएव सूक्ष्म, अतएव इन्द्रियातीत, अतएव न केवल सत्तासिद्ध अथामच्छद तत्त्व है, जिस

इत्थंभूत प्राणतत्त्व का 'प्राणोपनिषत्' नाम की प्रश्नोपनिषत् में विस्तार से निरूपण हुआ है। मत्ताधार किंवा विश्वाधारभूत इसी परोक्ष इन्द्रियातीत प्राणतत्त्व के संग्रह के लिए ऋषिप्रज्ञा ने परोक्षता को प्रधानता दी है एवं बाह्य-प्रचार-सर्वत्र डिण्डिमघोष-आदि ऐन्द्रियक विश्वानुबन्धों-लोकानुबन्धों से सम्बन्ध रखने वाले प्राणप्रतिष्ठावञ्चित प्रचारवाद को, प्रत्यक्षवादात्मक इस वाग्विजृम्भण को, वर्त्तमान मापानुसार 'पब्लिसीटी' को तत्त्वचिन्तनधारा में कोई विशेष सम्मान नहीं दिया। गुहानिहिता परोक्षप्रज्ञारश्मिका अन्तःप्रज्ञा ही यहाँ सदा से मूलप्रतिष्ठा प्रमाणित होती रही है।

ऋग्-यजु-साम-अथर्वात्मक जिन अग्नि-वायु-आदित्य-सोम-भावों का पूर्व में उल्लेख हुआ है वे सर्वथा प्राणात्मक ही हैं। अभी भौतिक अग्नि-सोम का प्रसङ्ग उपस्थित ही नहीं हुआ है। भूताग्नि तो वह अग्नि है, जिस प्रत्यक्षदृष्ट मत्वशित भूताग्नि से सूर्य्यास्त के अनन्तर रश्मियाँ निकलने लगती हैं, एवं जो परिभाषादृष्टया 'वस्वग्नि' नाम से प्रसिद्ध है। इसी प्रत्यक्षदृष्ट भूताग्नि का निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं —

> अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः ।
> अस्तमर्वन्त आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिन इषं स्तोतृभ्य आभर ॥
>
> —ऋक्संहिता ५।६।१।

ऋषि कहते हैं-हम भूताग्निरूप अग्नि उसे मानते हैं जो वसु है अर्थात् पार्थिव वसुरूप भूतभाव से समन्वित है, जिससे पार्थिव विवर्त्त 'वसुन्धरा' कहलाया है एवं सूर्य्यास्त के अनन्तर जिससे धेनु, अर्थात् किरणें निकला करती हैं। भौतिकजगत् में जो यह भूताग्नि ज्वालारूप से प्रत्यक्षदृष्ट है, प्राणियों की शरीर संस्था में यही तापधर्म्मा प्रत्यक्षानुभूत भौतिक अग्नि 'वैश्वानराग्नि' कहलाया है जिसकी भारतीय प्रजा अपने सांस्कृतिक जीवन में प्रतिदिन उपासना किया करती है। सुसंस्कृत, अतएव आस्तिक परिवारों में गृहदेवियाँ वैश्वानराग्नि के प्रतीकभूत भक्ताग्नि में बलाहुति समर्पण करने के अनन्तर ही पारिवारिक व्यक्तियों का भोजनाधिकार प्रदान करती हैं, जिस इस कर्म्म को हमारी राजस्थानभाषा में 'बैसन्दर जिमाणा' कहा गया है। आज तो घर में भोजन करने का प्रश्न ही गौण बन गया है। जहाँ महद्भाग से ऐसी पद्धति प्रक्रान्त है, वहाँ वैश्वानराग्नि

आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये' इत्यादि मन्त्र से हुआ है। जो दूर होता है, उसी का 'आयाहि'-'आइए'-रूप से आदान होता है। इसी प्रकार शब्दात्मक इन चारों वेदों के २१-१ १-१०००-९-ये शाखाविभाग भी तत्त्वात्मक वेद की प्राणमयी शाखासंख्याओं से ही सर्वात्मना समनुप्रित हैं। अग्नि के ऋग्-घन-क्रम से २१ विवर्त्त हैं, वायुमयापति प्रजापतिरेकशतविधः' के अनुसार १ विवर्त्तों में विभक्त हैं। कौन सा वायु ? प्राणात्मक यजु वायु जिसका मौलिक रूप यद्यपि 'यज्जू' है। तथापि जो परोक्षभाषा में कहलाया है-'यजुः' ही। तनिक बनाइए निम्न लिखित श्रुतिवचन को—

"अयं वाव यजु -योऽयं पवते। एष हि यन्नेवेदं सर्वं जनयति। एतं यन्तमिदमनु प्रजायते। तस्माद्वायुरेव यजु। अयमेवाकाशो जूः—यदिदमन्तरिक्षम्। एतं ह्याकाशमनु जवते। तदेतद् यजुर्वायुश्चान्तरिक्षञ्च। यच्च जूश्च। तस्माद्यजु। तदेतद्-यजुर्ऋक्सामयो प्रतिष्ठितम्। ऋक्सामे वहतः"।

—शतपथब्राह्मण १०।३।५।१,२,।

स्पष्ट है कि, शब्दात्मक वेदग्रन्थ के शाखाविभाग भी मानवीय कल्पना नहीं है, जैसा कि आजकल के वेदमक्त विद्वान् मान रहे हैं। अपितु नित्य तत्त्ववेद के शाखाविभागों के अनुपात से ही वेदग्रन्थ में शाखाविभाग व्यवस्थित हुए हैं। आरम्भ से हमने सर्वत्र-'परोक्ष' भाव की ओर सङ्केत किया है, और बतलाया है कि, देवता परोक्षभाव से तो प्रेम करते हैं, एवं प्रत्यक्षभाव से शत्रुता रखते हैं- परोक्षप्रिया इव हि देवाः, प्रत्यक्षद्विषः'। क्या तात्पर्य है इस परोक्षता का ?, दो शब्दों में इस प्रासङ्गिक प्रश्न का भी समन्वय कर लीजिए।

नग्नतानुबन्धी प्रत्यक्षभाव, जिसे प्रान्तीय भाषा में 'फूहड़पन' कहते हैं भारतीय शिष्टाचार के सर्वथा विरुद्ध माना गया है। लौकिक क्षेत्र हो अथवा हो आध्यात्मिक क्षेत्र, सर्वत्र प्रत्येक क्षेत्र में परोक्षता ही यहाँ का आदर्श रहा है। क्यों ?। इसलिए कि यहाँ केवल प्रत्यक्ष जड़ भूत ही उपास्य नहीं है। अपितु भूत के साथ साथ प्राण ही यहाँ मुख्यरूप से अनुगमनीय रहा है। भूत का आधारभूत प्राण तत्त्व रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द नामक पाँचों तन्मात्राओं से अतीत, अतएव सुसूक्ष्म, अतएव इन्द्रियातीत, अतएव न केवल सत्तासिद्ध अपामप्रकृत तत्त्व है, जिस

ध्यान-प्राण-रूप इन तीनों शारीरिक प्राणाग्नियों के उपांशुवन्तर्याम' नामक संघर्ष से जो अपूर्व मौतिक तापधर्म्मा अग्नि उत्पन्न होता है, वही आध्यात्मिक 'वैश्वानर' कहलाया है, जो उक्यरूप से जठर स्थान में प्रतिष्ठित रहता हुआ अर्करूप से सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त है केशलोमों को, तथा नखाग्रभागों को छोड़ कर। आलोमभ्य., आनखाग्रेभ्यः-व्याप्त वैश्वानराग्नि को कर्णछिद्र पिनद्ध करके नासाछिद्र अवरुद्ध करके साक्षात्-रूप से अनुभूत किया जा सकता है। कान-नाक-बन्द करने से जो एक धक्-धक्-ध्वनि सुनाई पड़ती है, वही वैश्वानर का श्रवण है। एवं जहाँ जहाँ स्पर्श करते हैं, तापलक्षणा ऊष्मा का प्रत्यक्ष होता है, यही इसका प्रत्यक्ष है। सैषा दृष्टिः-श्रुति। 'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिना देहमाश्रित' (गीता) इत्यादि गीतावचन इसी शारीरिक जाठराग्निरूप वैश्वानराग्नि का निरूपण कर रहा है। वैश्वानराग्नि के इसी स्वरूप को लक्ष्य बना कर श्रुति ने कहा है—

(१) "स य स वैश्वानर -इमे स लोका । इयमेव पृथिवी विश्व, अग्निर्नर । अन्तरिक्ष विश्व, वायुर्नर । द्यौरेव विश्व, आदित्यो नर' (विश्वेभ्यो नरेभ्यो जात -अग्निरेव यौगिको वैश्वानरः)" । (शतपथब्राह्मण ६।३।१।३)। स एष आधिदैविको-वैश्वानराग्नि' ।

(२)-"अयमग्निर्वैश्वानर -योऽयमन्त' पुरुषे (शरीरे प्रतिष्ठित) । येनेदमन्न पच्यते, यदिदमद्यते । तस्यैष घोषो भवति, यमेतत्कर्णावपिधाय शृणोति । स यदा-उत्क्रमिष्यन् भवति-नैत घोषं शृणोति" ।

—शत० ब्रा० १४।८।१०।१।

ऋक्-यजु-सामात्मक अग्नि-वायु-आदित्य नामक 'प्राणाग्नि', एवं अथर्वात्मक 'सोम' नामक 'प्राणसोम', यह अग्नि-सोम का पहिला मौलिक प्राणरूप युग्म हुआ। एवं इन तीन प्राणाग्नियों से उत्पन्न ताप, तथा घोषधर्म्मा वैश्वानराग्निरूप अग्नि', तथा चतुर्विध मत्रात्मक मूलसोम, (जिसकी वैश्वानराग्नि में आहुति होती रहती है) यह अग्निसोम का दूसरा मौलिक युग्म हुआ।

का अनुष्ठान आज भी यथावत् प्रतिष्ठित है। क्या स्वरूप है इस वैश्वानराग्नि का ?, श्रूयताम् !

बतलाया गया है कि, पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ-नामक तीन लोक हैं, जो तीन स्वतन्त्र विश्व माने गए हैं वैदिक परिभाषा में। इन तीनों विश्वों में क्रमशः ऋक्-यजु-सामात्मक अग्नि-वायु-आदित्य-नामक तीन प्राणाग्नियाँ प्रतिष्ठित हैं। ये तीन प्राणाग्नियाँ ही इन पृथिव्यादि तीनों विश्वों के नर-नायक-अभिष्ठाता माने गए हैं, जिस अभिष्ठातृपद के लिए वेद में 'अतिष्ठाया' पद आया है। इसी पद के लिए एक साङ्केतिक नाम है-'शयसोनपात्'। 'भू' यह पहिला विश्व है, जो कि पृथिवी है। 'भुव' यह दूसरा विश्व है, जो कि अन्तरिक्ष है। 'स्वः' यह तीसरा विश्व है, जो कि द्यौ है। तीनों विश्वों के अग्नि-वायु-आदित्य-नामक प्राणाग्निरूप शयसोनपात् नरों का परस्पर यजन हो जाता है, जो यजनप्रक्रिया 'तानूनप्त्रकर्म्म' नाम से प्रसिद्ध है। पारस्परिक समन्वयात्मक शपथग्रहण के लिए ही वेद में तानूनप्त्र शब्द विहित है। इसी के बल पर देवताओं नें असुरों को परास्त किया है। आज भी लौकिक विधि-विधानों में शपथग्रहणात्मक यह तानूनप्त्रकर्म्म प्रचलित है। तीनों विश्वों के इन तीन नरों के संघर्ष से दूसरे शब्दों में यजन से जो संयौगिक त्रैलोक्यव्यापक तापधर्म्मा अपूर्व अग्निभाव उत्पन्न होता है, उसी का नाम है-'विश्वेभ्य-पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकेभ्यः-नरेभ्यः-अग्निवाय्वादित्ये-जातः-उत्पन्नः-अग्निः' इस निर्वचन से 'वैश्वानर' कहलाया है, जिसका उपनिषदों की 'वैश्वानरविद्या' में सकलवैश्वानररूप से विस्तार से विश्लेषण हुआ है। 'आ यो द्यां भात्यापृथिवीम्'-वैश्वानरो यतते सूर्य्येण इत्यादि श्रौत वचन भूपिण्ड से द्युपर्य्यन्त-सूर्य्यपर्य्यन्त इस त्रिधर्म्मा वैश्वानर अग्नि की व्याप्ति बतलाते हैं। त्रैलोक्य में जो एक प्रकार की अस्फुट ध्वनि प्रतिष्ठित है, जो कि नाद की उत्तरावस्था मानी गई है, जो कि शब्द की जननी बनती है, वह यही वैश्वानर की महिमा है, जिसके आधार पर 'अग्निर्वाग्-भूत्वा मुखं प्राविशत्' सिद्धान्त स्थापित हुआ है। एवं जिसके आधार पर ही भगवान् भाष्यकार का-'तस्माद्ध्वनिः शब्दः' उद्घोष हुआ है। आध्यात्मिक शारीरिक संस्था में वस्तिगुहा भू है, उदरगुहा भुवः है, उरोगुहा स्व है, एवं शिरोगुहा चौथा पारमेष्ठ्य लोक है। आरम्भ के तीनों गुहास्थानों में क्रमशः पार्थिव अपान, आन्तरिक्ष्य व्यान, दिव्य प्राण ये तीन प्राणाग्नियाँ प्रतिष्ठित हैं, जो क्रमशः आध्यात्मिक अग्नि-वायु-आदित्य-ही हैं। जिनके लिए महर्षि पिप्पलाद ने कहा है—'प्राणाग्नय एवैतस्मिन्-शरीरे जाग्रति' (प्रश्नोपनिषत् ४।३।)। अपान-

का प्रवर्ग्यभूत जीव है, जिसका–'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' से निरूपण हुआ है। अग्नित्रयमूर्त्ति ईश्वरीय देवसत्य साक्षी सुपर्ण कहलाया है, ये ही वैदिक तत्त्ववाद के पारिभाषिक 'भगवान्' हैं। एवं अग्नित्रयमूर्त्ति जैव देवसत्य भोक्ता सुपर्ण है, यही पारिभाषिक 'भगवदंश' रूप जीव है, जिसके लिए–'ममैवांशो जीवलोके जीवभूत सनातन' (गीता) यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। एवं जिसका श्रुति नें यों यशोगान किया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्वजाते।
तयोरन्य· पिप्पल स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥
—ऋक्संहिता १।१६४।२०

मानव के अपने प्रज्ञाधरातल से ज्ञान–क्रिया–अर्थ–इन तीन तत्त्वों के अतिरिक्त सम्भवत और कुछ भी तत्त्ववाद शेष नहीं रह जाता जिनका क्रमश प्राज्ञ–तैजस–वैश्वानरानुबन्धी–बुद्धि–सेन्द्रिय मन–शरीर–इन तीन तन्त्रों से क्रमिक सम्बन्ध है। अतएव मानव इन तीन शक्तियों पर ही अपने स्वरूप का विश्राम मान बैठता है। क्योंकि मानव के सम्पूर्ण लोकानुबन्ध ज्ञानक्रियार्थभावों पर परिसमाप्त हैं। मानव की इस महती भ्रान्ति के निराकरण के लिए ही तलवकारोपनिषत् प्रवृत्त हुई है, जो 'केनोपनिषत्' नाम से प्रसिद्ध है। वहाँ बतलाया गया है कि, त्रैलोक्य के अग्नि–वायु–इन्द्र–नामक अर्थ–क्रिया–ज्ञान–शक्तिसम्पन्न इन तीन देवताओं नें 'अस्माकमेवेदं भुवनम्' संसार हमारा ही है, संसार में हम ही सब कुछ हैं, इस अभिमान का अनुगमन कर लिया। इनके इस अभिमान के निराकरण के लिए एक महा यक्ष प्रादुर्भूत होते हैं। (जो कि चिदव्ययब्रह्म का ग्राहक 'महान्' ही है)। वे एक तृण इनके सम्मुख रख देते हैं। जिसे अर्थाभिमानी अग्नि जला नहीं सकते, क्रियाभिमानी वायु उड़ा नहीं सकते। ज्ञानाभिमानी इन्द्र के आते ही तृण अन्तर्लीन हो जाता है। ज्ञानीय तृण समानधर्मा ज्ञानधर्मा इन्द्र को स्वमहिमा में विलीन कर लेता है। यहाँ आकर पारमेष्ठ्य सोममयी चिद्ग्राहिणी हैमवती उमा नाम की महच्छक्ति आविर्भूत होती है और वह इन तीनों का यों उद्बोधन कराती है कि–'ब्रह्मणो वा विजये महीयध्वम्'। यह तुम्हारा विजय नहीं है, अपितु ब्रह्म के विजय में ही तुम विश्वविजयी बने हुए हो। तात्पर्य्य इस तात्त्विक आख्यान का यही है कि अग्नि–सोम ही सब कुछ नहीं है तन्निबन्धना ज्ञानक्रियार्थशक्तियों पर ही मानव की मानवता विश्रान्त नहीं है। अपितु बुद्धिगत इन्द्र से भी पर अवस्थित

वेदाग्निसोमयुग्म अग्निसोम का 'प्रथमावतार' कहलाया, एवं वैश्वानराग्निरूप युग्म अग्नि-सोम का द्वितीयावतार कहलाया। इन दोनों युग्मों के आधार पर सर्वथा स्थूलरूपात्मक महाभूतात्मक वा तीसरा अवतार होने वाला है, वही सम्वत्सरयज्ञमूलक अग्नि-सोम है, जो आज के वक्तव्य का मुख्य लक्ष्य बना हुआ है, एवं जिसका दो शब्दों में अनुपद में ही स्पष्टीकरण होने वाला है।

अग्नि-वायु आदित्यरूप वेदात्मक प्राणाग्नियों के संघर्ष से उत्पन्न पूर्वोक्त वैश्वानर अग्नि के आगे जाकर 'विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ' ये तीन अवान्तर विवर्त हो जाते हैं। अग्नि को आधार बना कर जब इसमें आन्तरिक्ष्य वायु, दिव्य आदित्य, इन दोनों की आहुति होती है, तो तीनों के समन्वय से उत्पन्न अग्निप्रधान त्रिमूर्ति वही वैश्वानर विराट् कहलाने लगता है। वायु को आधार बना कर इसमें अग्नि-आदित्य की आहुति होने से समुत्पन्न त्रिमूर्ति वही वैश्वानर *'हिरण्यगर्भ' कहलाने लगता है। एवं आदित्य को आधार बना कर अग्नि वायु की आहुति होने से आविर्भूत त्रिमूर्ति वही वैश्वानर 'सर्वज्ञ' कहलाने लगता है। विराट् वैश्वानर सहस्रपात् है, हिरण्यगर्भ वैश्वानर सहस्राक्ष है, एवं सर्वज्ञ वैश्वानर सहस्रशीर्षा है। 'त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः'-'त्रिवृदग्निः' इत्यादि श्रुतियाँ अग्नि-वायु-आदित्य के इसी त्रिवृद्भाव का स्पष्टीकरण कर रहीं हैं जिसका छान्दोग्योपनिषत् को-'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' इत्यादि त्रिवृत्करणप्रक्रिया से स्पष्टीकरण हुआ है। तीनों ही त्रि'-त्रि'-रूप हैं। अन्तर तीनों में केवल यही है कि-विराट् अग्निप्रधान है, हिरण्यगर्भ वायुप्रधान है, एवं सर्वज्ञ आदित्यप्रधान है। तात्पर्य्य यही है कि त्रिमूर्ति अग्निप्रधान विराट् अर्थशक्ति का प्रवर्त्तक है, त्रिमूर्ति वायुप्रधान हिरण्यगर्भ क्रियाशक्ति का सञ्चालक है, एवं त्रिमूर्ति आदित्यप्रधान सर्वज्ञ ज्ञानशक्ति का उदय है। यों अपने तीन रूपों से वेदाग्नि-सोम पर प्रतिष्ठित अग्नि-वायु-आदित्य-त्रयमूर्ति वैश्वानराग्नि ज्ञान क्रिया अर्थ-भावों का प्रवर्त्तक बनता हुआ अधिदैवत, तथा अध्यात्म का सञ्चालन कर रहा है। अर्थशक्तिप्रधान अग्निप्रमुख विराट् का प्रवर्ग्यांश ही अध्यात्म में 'वैश्वानर' कहलाया है। क्रियाशक्तिप्रधान वायुप्रमुख हिरण्यगर्भ का प्रवर्ग्यांश ही 'तैजस' कहलाया है। एवं ज्ञानशक्तिप्रधान आदित्यप्रमुख सर्वज्ञ का प्रवर्ग्यांश ही 'प्राज्ञ' कहलाया है। विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ-रूप अग्नित्रयमूर्ति देवसत्य ही जीव का ईश्वर है, एवं वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-रूप अग्नित्रयमूर्ति देवसत्य ही ईश्वर

---

*-'हिरण्यगर्भो भगवान् वायुरेवः प्रकीर्त्तितः' (पुराण)

का प्रवर्ग्यभूत जीव है, जिसका–'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' में निरूपण हुआ है। अग्नित्रयमूर्त्ति ईश्वरीय देवसत्य साक्षी सुपर्ण कहलाया है, ये ही वैदिक तत्त्ववाद के पारिभाषिक 'भगवान्' हैं। एवं अग्नित्रयमूर्त्ति जैव देवसत्य भोक्ता सुपर्ण है, यही पारिभाषिक 'भगवदंश' रूप जीव है, जिसके लिए–'ममैवांशो जीवलोके जीवभूत सनातन' (गीता) यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। एवं जिसका श्रुति नें यों यशोगान किया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥
—ऋक्संहिता १।१६४।२०

मानव के अपने प्रज्ञाधरातल से ज्ञान–क्रिया–अर्थ–इन तीन तत्त्वों के अतिरिक्त सम्भवत और कुछ भी तत्त्ववाद शेष नहीं रह जाता जिनका क्रमशः प्राज्ञ–तैजस–वैश्वानरानुबन्धी–बुद्धि–सेन्द्रिय मन–शरीर–इन तीन तन्त्रों से क्रमिक सम्बन्ध है। अतएव मानव इन तीन शक्तियों पर ही अपने स्वरूप का विश्राम मान बैठता है। क्योंकि मानव के सम्पूर्ण लोकानुबन्ध ज्ञानक्रियार्थभावों पर परिसमाप्त हैं। मानव की इस महती भ्रान्ति के निराकरण के लिए ही तलवकारोपनिषत् प्रवृत्त हुई है, जो 'केनोपनिषत्' नाम से प्रसिद्ध है। वहाँ बतलाया गया है कि, त्रैलोक्य के अग्नि–वायु–इन्द्र–नामक अर्थ–क्रिया–ज्ञान–शक्तिसम्पन्न इन तीन देवताओं नें 'अस्माकमेवेदं भुवनम्' संसार हमारा ही है, संसार में हम ही सब कुछ हैं इस अतिमान का अनुगमन कर लिया। इनके इस अतिमान के निराकरण के लिए एक महा यक्ष प्रादुर्भूत होते हैं। (जो कि चिदव्ययब्रह्म का ग्राहक 'महान्' ही है) । वे एक तृण इनके सम्मुख रख देते हैं। जिसे अर्थाभिमानी अग्नि जला नहीं सकते, क्रियाभिमानी वायु उड़ा नहीं सकते। ज्ञानाभिमानी इन्द्र के आते ही तृण अन्तर्लीन हो जाता है। ज्ञानीय तृण समानधर्म्मा ज्ञानधर्म्मा इन्द्र को स्वमहिमा में विलीन कर लेता है। यहाँ आकर पारमेष्ठ्य सोममयी चिद्ग्राहिणी हैमवती उमा नाम की महच्छक्ति आविर्भूत होती है और वह इन तीनों का यों उद्बोधन करती है कि– 'ब्रह्मणो वा विजये महीयध्वम्'। यह तुम्हारा विजय नहीं है, अपितु ब्रह्म के विजय में ही तुम विश्वविजयी बने हुए हो। तात्पर्य्य इस सात्त्विक आख्यान का यही है कि अग्नि–सोम ही सब कुछ नहीं है, तन्निबन्धना ज्ञानक्रियार्थशक्तियों पर ही मानव की मानवता विश्रान्त नहीं है। अपितु बुद्धिगत इन्द्र से भी पर अवस्थित

लोकातीत आत्मब्रह्म का स्वस्वरूप से अभिव्यक्त होना ही मानव की मानवता है। इस आत्मब्रह्म को मूलप्रतिष्ठा बनाए बिना निर्देवता, तदनुप्राणिता ज्ञानक्रियार्थ–शक्तित्रयी, तदाधारेण प्रतिष्ठित प्रत्यक्षदृष्ट भूत–भौतिक प्रपञ्च–सब कुछ व्यर्थ है।

जिन्हें हम 'जड़जीव' कहते हैं, उनमें केवल अर्थशक्तिप्रधान वैश्वानराग्नि की प्रधानता है। अतएव इन्हें 'एकात्मकजीव' माना गया है। क्या इनमें क्रिया, और ज्ञान नहीं है ? ! है, और अवश्य है। 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्' के अनुसार ईशब्रह्म की सत्ता से सभी समन्वित हैं। इसी तत्–प्रतिष्ठ आत्मभाव को लक्ष्य बना कर ही तो ऋषिप्रज्ञा ने एक पत्थर के लिए भी तो 'शृणोतु ग्रावाणः' (हे पाषाणो ! आप हमारी प्रार्थना सुनें !) यह कह दिया है। स्मरण रखिए, वर्त्तमान तत्त्वविशेषज्ञों की भाँति यह कोई आलङ्कारिक भाषा नहीं है, अपितु विज्ञानसिद्ध तत्त्वभाषा है। अलङ्कारों का, तन्मूला काल्पनिक परम्पराओं का, तन्मूलक काल्पनिक कवितावाक्यसमूहों का जन्म तो कल हुआ है, जिसे पुरातत्त्ववादी 'गुप्तकाल' कहा करते हैं। जानना चाहते हैं आप वेदमहर्षि की कविता का स्वरूप !, सुनना चाहते हैं आप प्रजापति की कविता से सम्बन्ध रखने वाले अलङ्कारों का उपवर्णन !, तो सुनिए !

विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार ।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान ॥
—ऋक्संहिता १०।५५।५।

इसते-खेलते-प्राणन–अपानन कर्म्म एक सुसमृद्ध परिवार में–जिसका कि अब तक विश्व में कोई स्मरण–उल्लेख भी नहीं था,–ऐसा एक नवीन मानव प्राणी आविर्भूत हो पड़ता है–अत्यन्त ही कलापूर्ण आकार को लिए हुए। यही बालमानव कालान्तर में विधाता की महान् कलाकृतियों से पुष्पित–पल्लवित होता हुआ वयस्क युवा बन जाता है, हट्टा–कट्टा जवान बन जाता है। यही मानव की दूसरी समृद्धावस्था है। आगे चल कर यही युवा मानव प्रजापति की एक नवीन कविता के विन्यास से उस अवस्था में परिणत हो जाता है, जिसमें इसका सम्पूर्ण सौन्दर्य धूलिधूसरित हो जाता है। मुण्ड पलित हो जाता है, मुख दशनविहीन बन जाता है, चर्म्म विगलित हो जाता है, शरीरयष्टि वक्र बन जाती

है। पुनः यही एक दिन सहसा ऐसा विलीन हो जाता है, मानो यह कभी विश्व-प्राङ्गण में था ही नहीं। और फिर ? । फिर यह जन्मान्तर धारण के लिए सज्जीभूत बन जाता है। यह है प्रजापतिदेव की, पारमेष्ठ्य भार्गव सोमदेव की चिद्विशिष्टा यह जीवनीया सहज काव्यधारा, जो अनाद्यनन्त प्रवाह से चङ्क्रममाण है। निर्माण कर सकेंगे क्या आप एसे विविधाकाराकारित आश्चर्य्यप्रद सहजसिद्ध आलङ्कारिक महान् काव्य का ? । भृगु ही वे महान् कवि हैं, जो अपने महत्त्वलक्षण सौम्य सोम को अग्नि से समन्वित कर यज्ञिय शिल्प के द्वारा सर्गावस्था में इन विचित्र सृष्टिकाव्यों का सर्जन करते रहते हैं, एवं प्रतिसर्गावस्था में स्वमहिमा में इनका संवरण भी करते रहते हैं। परिवर्त्तनभावात्मक-नवनव कलाकृति समन्वित-जन्म-मृत्यु-प्रवाहात्मक इस महान् काव्य के स्वरूपबोध के आधार पर मृत्यु पर विजय प्राप्त करना ही क्रान्तिदर्शी ऋषियों के महान् काव्य वेदशास्त्र का महान् आलङ्कारिक सौष्ठव है, जिसके साथ मृत्युभावप्रवर्त्तक मनःशरीरविनोदानुबन्धी शृङ्गारादिभावनिबन्धन लौकिक साहित्य-सङ्गीत-कला-भावात्मक मानवीय काव्यों का कोई समतुलन नहीं किया जा सकता। विश्वरूप प्रजापति के महान् काव्य के स्वरूप-विश्लेषण के माध्यम से मृत्युविजय का उद्घोष करने वाले क्रान्तिदर्शी ऋषियों की तत्त्वभाषा ही इस राष्ट्र की सांस्कृतिक कविता है न कि अपने मानसिक उत्तालतरङ्गायित भावुकतापूर्ण भावों में विभोर बनते हुए शब्दविन्यासकौशलमात्र प्रदर्शित कर देने का नाम कविता । मृत्युविजयसन्देश-वाहक क्रान्तिदर्शी वेदद्रष्टा-मन्ता-प्राश महर्षि ही इस राष्ट्र के 'राष्ट्रकवि' माने जायेंगे । जिनकी कविता के द्वारा सदा चिरन्तन-शाश्वत-सत्य का ही यशोगान होता रहता है । न कि युगधर्मानुसार बदलती रहने वाली लोकभावुकताओं का अपनी लोकैषणा की पूर्ति के लिए समर्थन करते रहने वाले गतानुगतिक शब्दाडम्बरवर्णभावानुबन्धी कविगण । अथवा तो भगवान् बादरायण के मुखपङ्कज से विनिःसृत आत्मबुद्धिमनःशरीरसमन्वयमूला भारतीय मौलिक संस्कृति की गुणगाथा का विश्लेषण करने वाली पुराणगाथा ही इस राष्ट्र की कविता मानी जायगी । किंवा महामुनि वाल्मीकि की कविता ही इस राष्ट्र में 'कविता' रूप से सम्मानित होगी, जिसके द्वारा मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम के माध्यम से आर्ष ऋषिकाव्यात्मक भारतीय वैदिक सांस्कृतिक आचारपद्धतियों का ही स्वरूप-विश्लेषण हुआ है । तभी तो लोकसाहित्यदृष्टि से महामुनि वाल्मीकि आदि कवि माने गए हैं ।

क्षमा करेंगे राष्ट्रपति महाभाग हम प्रासङ्गिक, और सम्भवत मूललक्ष्य से अतिक्रान्त भी इस कथितप्रसङ्ग के लिए हमें। युगधर्म्मानुगता सभा–समितियों के तात्कालिक अनुरञ्जन मे हमारी वेदाभ्यासव्यग्रमति सर्वथैव असंस्पृष्ट है। हम तो ऋषिप्रदिष्ट गुहानिहित–पथ के पथिक बने रहते हुए यथामति स्वाध्यायनिष्ठा की ही उपासना में तल्लीन रहे हैं, जहाँ वर्तमान युग के लोकैषणामूलक व्यासङ्गों का संस्मरण भी निषिद्ध ही रहा है। युगधर्म्मानुगत–अभिनय सस्थान के मर्मज्ञ मान्य मन्त्री श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल महोदय की प्रेरणा से ही आज हमें गरिमामहिमामय केन्द्रस्थान में राष्ट्र के सर्वोच्च प्रतिष्ठानरूप महामहिम राष्ट्रपति महाभाग के साम्मुख्य का महद्भाग्य प्राप्त हुआ है। आपका ध्यान राष्ट्र की इस विलुप्तप्राया ज्ञानविज्ञानपरिपूर्णा सम्प्रदायवादनिरपेक्षा मानवमात्रोपकारिणी ऋषिसंस्कृति की ओर आकर्षित हो जो कि भारतराष्ट्र का वास्तविक सांस्कृतिक आयोजन माना गया है,—एकमात्र इसी उद्देश्य से हम अप्रासङ्गिकरूप से भी अपने हृदयोद्गार व्यक्त करने की धृष्टता कर रहे हैं। आज एक ऐसे स्थान में ऋषिप्रज्ञा का सन्देश उपस्थित होने जा रहा है, जहाँ से सम्भवत ही क्यों, निश्चय ही राष्ट्र की सर्वस्वभूता इस आर्यसंस्कृति का समुद्धार सम्भव है। इन प्रासङ्गिक हृदयोद्गारों के अनन्तर पुन वैश्वानराग्नि से अनुप्राणित जीवसर्ग की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जा रहा है। 'शृणोतु ग्रावाणः' के सम्बन्ध से एकात्मक अग्निप्रधान जड़जीवों का दिग्दर्शन कराया गया जिन्हें 'असंज्ञजीव' भी कहा जाता है। जिनमें क्रिया, और ज्ञान अन्तःसुप्त हैं। ओषधि–वनस्पति–लता–गुल्म–आदि जीव द्व्यात्मक जीव कहलाए हैं जिनमें अर्थप्रधान वैश्वानर अग्नि के साथ साथ क्रियाप्रधान तैजस वायु का भी विकास है। अतएव इन्हें अन्तःसंज्ञ मान लिया गया है।

"तस्मात् रुदन्ति पादपा, जिघ्रन्ति पादपा, हसन्ति पादपा, शृण्वन्ति पादपा (महाभारत)। अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः" (मनु)।

इत्यादि वचनों के अनुसार वृक्षादि अन्तःसंज्ञ जीव स्वप्नदशा की भाँति चेतनवत् सभी ऐन्द्रियक व्यापारों के अनुगामी बने रहते हैं त्वगिन्द्रिय के माध्यम से। इसी चेतनधर्म्म के कारण हिन्दूसंस्कृति–'ओषधे त्रायस्व' (हे ओषधे! आप हमारी रक्षा करें) इत्यादि रूप से स्तुति कर रही है इनकी। निष्कारण वृक्षादि का हनन भी इसी आधार पर निषिद्ध है। विशेषतः सायंकालवेला में

वृक्षादि का स्पर्श भी निषिद्ध माना है यहाँ की विज्ञानमूला संस्कृति ने। 'शृणोत ग्रावाण'—'ओषधे त्रायस्व' कहने वाला एक भारतीय मानव चलता हुआ प्राकृतिक लोष्ट-पाषाणादि के ठोकर लगाता चलता है, वृक्ष-लता-गुल्मादि का उत्पीड़न करता चलता है, तो मूलप्राणविकम्पन की दृष्टि से यह भी उसका हिंसा कर्म्म ही माना गया है। अवश्य ही इसमें परम्परया स्वयं इसके भी प्राण विकम्पित हो जाते हैं, जिस विकम्पन का धर्म्मचक्षुओं से साक्षात्कार सम्भव नहीं है। जड़-चेतनादि यच्चयावत् पदार्थों को तत्तत्पदार्थों के स्वरूपानुपात से सुव्यवस्थित बनाए रखने वाला भारतीय मानव ही अहिंसाधर्म्म का वास्तविक अनुगामी है, जिसके आधार पर-'मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्' सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। और यही है यहाँ का प्राणमूलक 'अहिंसा' सिद्धान्त जिसका-'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' से स्पष्टीकरण हुआ है। केवल भूतदृष्टि पर ही अहिंसा विभान्त नहीं है। वृथाचेष्टा-वृथाकर्म्म-वृथागमन-हसन-शयन-भाषण-आदि आदि सभी निरर्थक-अशास्त्रीय-कल्पित-मनोऽनुबन्धी व्यापार हिंसाकोटि में ही अन्तर्भुक्त हैं, जिनका काल्पनिक मानसिक अशास्त्रीय अहिंसावादों से कोई सम्बन्ध नहीं है, जैसा कि आज सत्य-अहिंसा-मानवता-आदि शब्दों के व्यामोहनमात्र से राष्ट्रभक्ता व्यामुग्ध बनी हुई है। प्रकृतिविरुद्ध, आश्रमव्यवस्थाविरुद्ध आचरणों से विक्षुब्ध बन जाने वाले प्राकृतिक प्राण निश्चयेन मानव के आध्यात्मिक प्राणों को भी अस्तव्यस्त कर दिया करते हैं। यह प्राणदृष्टि ही सर्वाविदृष्टि है, जिसके आधार पर सूर्य्य-चन्द्र-गगन-पवन-अनल-ओषधि-वनस्पति-गौ-नक्षत्र-पृथिवी-आदि आदि का स्तवन हुआ है। और ताप से शीत निवृत्त होता है, चन्द्रिका से ताप शान्त होता है, इत्यादि भूतदृष्टियाँ कदापि इस स्तवन के मूल नहीं हैं, जैसाकि वर्तमान युग के प्रतीच्य-प्राच्य तत्त्वविशोधकों ने इस सम्बन्ध में अनर्गल कल्पनाएँ कर डाली हैं। प्राण-दृष्टिमूला देवोपासना से अनुप्राणित भारतीय दृष्टिकोण का कुछ भी तो मर्म्म नहीं समझा है इन भूतविज्ञानवादी अभिनव विचारकों ने। अलमतिपल्लवितेन।

प्रकृतमनुसराम। अन्तःसंज्ञ नामक स्थावरात्मक ओषधि-वनस्पत्यादि जीवों में अग्निमूलक अर्थ के साथ साथ वायुमूलक क्रियातत्त्व भी अभिव्यक्त है। तीसरा जीववर्ग है व्यात्मक, जिसे 'ससंज्ञजीव' कहा गया है। वैश्वानर अग्नि, तैजस, वायु, इनके साथ साथ जिन जीवों में प्राज्ञ आदित्य भी विकसित रहता है, वे ही 'ससंज्ञ' कहलाए हैं, जिनके क्रमशः 'कृमि-कीट-पक्षी-पशु-मनुष्य' ये पाँच भेदविभाग प्रसिद्ध हैं। असंज्ञ-अचेतन-जड़-लोष्ट-पाषाणादि एकात्मक जीव,

क्षमा करेंगे राष्ट्रपति महाभाग इस प्रासङ्गिक, और सम्भवत मूललक्ष्य से अतिक्रान्त भी इस कविताप्रसङ्ग के लिए हमें। युगधर्म्माभिव्यक्ता सभा–समितियों के तात्कालिक अनुरञ्जन से हमारी वेदाभ्यासबद्धमति सर्वथैव असस्पृष्ट है। हम तो ऋषिप्रदिष्ट गुहानिहित-पथ के पथिक बने रहते हुए यथामति स्वाध्यायनिष्ठा की ही उपासना में तल्लीन रहे हैं, जहाँ वर्तमान युग के लोकैषणामूलक व्याख्याओं का संस्मरण भी निषिद्ध ही रहा है। युगधर्मानुगत–अभिनव उत्थान के सर्वैक मान्य मन्त्री श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल महोदय की प्रेरणा से ही आज हमें गरिमामहिमामय केन्द्रस्थान में राष्ट्र के सर्वोच्च प्रतिष्ठानरूप महामहिम राष्ट्रपति महाभाग के साम्मुख्य का महद्भाग्य प्राप्त हुआ है। आपका ध्यान राष्ट्र की इस विलुप्तप्राया ज्ञानविज्ञानपरिपूर्णा सम्प्रदायवादनिरपेक्षा मानवमात्रोपकारिणी ऋषिसंस्कृति की ओर आकर्षित हो जो कि भारतराष्ट्र का वास्तविक सांस्कृतिक आयोजन माना गया है,—एकमात्र इसी उद्देश्य से हम अप्रासङ्गिकरूप से भी अपने हृदयोद्गार व्यक्त करने की धृष्टता कर रहे हैं। आज एक ऐसे स्थान में ऋषिप्रज्ञा का सन्देश उपस्थित होने जा रहा है, जहाँ से सम्भवतः ही क्यों, निश्चय ही राष्ट्र की सर्वस्वभूता इस आर्षसंस्कृति का समुद्धार सम्भव है। इन प्रासङ्गिक हृदयोद्गारों के अनन्तर पुन वैश्वानराग्नि से अनुप्राणित औषसर्ग की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जा रहा है। 'शृणोतु ग्रावाणः' के सम्बन्ध से एकात्मक अग्निप्रधान वनजीवों का दिग्दर्शन कराया गया जिन्हें 'अन्तःसंज्ञजीव' भी कहा जाता है। जिनमें क्रिया, और ज्ञान अन्तःसुप्त है। ओषधि–वनस्पति–लता–गुल्म–आदि जीव तृणात्मक जीव कहलाए हैं जिनमें अर्थप्रधान वैश्वानर अग्नि के साथ साथ क्रियाप्रधान तैजस वायु का भी विकास है। अतएव इन्हें अन्तःसंज्ञ मान लिया गया है।

"तस्माद् रुदन्ति पादपा, जिघ्रन्ति पादपा, हसन्ति पादपा, शृण्वन्ति पादपाः (महाभारत)। अन्तः संज्ञा भवन्त्येते सुखदुःख-समन्विता" (मनु)।

इत्यादि वचनों के अनुसार वृक्षादि अन्तःसंज्ञ जीव स्वप्नदशा की भाँति चेतनवत् सभी ऐन्द्रियक व्यापारों के अनुगामी बने रहते हैं त्वगिन्द्रिय के माध्यम से। इसी चेतनधर्म्म के कारण हिन्दूसंस्कृति–'ओषधे त्रायस्व' (हे ओषधे! आप हमारी रक्षा करें) इत्यादि रूप से स्तुति कर रही है इनकी। निष्प्रयोजन वृक्षादि का कर्त्तन भी इसी आधार पर निषिद्ध है। विशेषतः सायंकालवेला में

लोकाग्नि, तथा चान्द्र अन्न सोम की प्रतिष्ठा बतलाया है। 'त्रयस्त्रिंशद्वै सर्वे देवा' के अनुसार सौर प्राणाग्नि अवान्तर तैंतीस कोटि—अर्थात् विभागों में विभक्त सौर देवप्राण है। सूर्य्य से ऊपर अवस्थित परमेष्ठी में आप्य प्राण—वायव्य प्राण—सौम्य प्राण—ये तीन प्राण हैं। आप्यप्राण असुर हैं, जिनके अवान्तर ९९ विभाग हैं, अर्थात् देवप्राणों से तिगुने। वायव्य-प्राण गन्धर्व हैं, जिनके अवान्तर अङ्गारि—बम्भारि—आदि अनेक विवर्त हैं। सौम्यप्राण पितर हैं, जिनके आज्यपा—सोमपा—आदि अवान्तर सात विवर्त हैं। और यहीं आकर ऋक्सामयजुरथर्वलक्षण प्रथमावतारलक्षण अग्नीषोमयुग्म से सम्बन्ध रखने वाला प्राणसर्ग समाप्त है।

क्या परमेष्ठी पर प्राणसर्ग समाप्त हो गया ?। नहीं, अभी एक प्राणसर्ग और शेष है, जिसे स्वायम्भव सर्ग कहा गया है, जिस मौलिक प्राणाग्नि से अग्नीषोमरूप वेदात्मक प्रथमावतार हुआ है। 'वामपलित' नामक यह स्वायम्भुव मौलिक प्राण ही मूलसर्ग है, जिसे ऋषिसर्ग कहा गया है। वशिष्ठ—विश्वामित्र—भरद्वाज—अत्रि—अङ्गिरा—आदि आदि जो मानवऋषि नाम लोक में प्रसिद्ध हैं, वे नाम तत्त्वतः प्राणात्मक ऋषितत्त्वों के ही हैं। क्या स्वरूप है इस ऋषितत्त्व का ?, इस दुरधिगम्य प्रश्न का समाधान करते हुए मानव महर्षि कहते हैं—

> विरूपास इदृषयस्त इद्गम्भीरवेपस ।
> तेऽङ्गिरस सूनवस्ते अग्ने परिजज्ञिरे ॥
>
> —ऋक्संहिता १०।६२।५।

विरूपास—विविधरूपास—अनन्त विभेद हैं ऋषिप्राणों के, जिनके सम्बन्ध में यह प्रश्नोत्तरविमर्श सुप्रसिद्ध है कि—"जब कुछ न था तो क्या था ?। अर्थात् विश्वोत्पत्ति से पहिले क्या तत्त्व था ?। श्रुति ने उत्तर दिया—विश्व से पहिले 'असत्' ही था। 'असत्' का अर्थ जो लोक में 'अभाव' होता है। क्या यह तात्पर्य है कि, विश्व से पूर्व कुछ भी न था ?। नहीं। यह असत् अभावार्थक नहीं है। अपितु भावार्थक है, तत्त्वात्मक है। जो पुनः जिज्ञासा हुई कि, 'क्या स्वरूप था उस असत् का ?'। श्रुति ने उत्तर दिया—'ऋषि ही यह असत् तत्त्व था। लीजिए—यह तो इन्द्र की टीका बिडौजा हो पड़ी। अतएव प्रश्न स्वाभाविक था कि, उस ऋषि का क्या स्वरूप था ?। उत्तर मिला—प्राणतत्त्व का ही नाम ऋषि था। यहाँ आकर 'असत्' का कुछ अर्थ उपलब्ध हुआ। प्राणवान् वस्तु 'सत्' कहलाए हैं। प्राण में क्योंकि प्राण नहीं रहता। इसी दृष्टि से 'प्राण' को 'असत्' कह दिया

अन्त संज्ञ–अर्द्धचेतन–उभयात्मक–ओषधिवनस्पत्यादि द्रुमात्मक जीव, एवं ससंज्ञ–चेतन–कृमिकीटादि भूतात्मक जीव, क्या इन तीन प्रधान वर्गों में ही जीवसर्ग परिसमाप्त है ? । प्रश्न का जहाँ 'अग्नि' की दृष्टि से 'हाँ' समाधान होगा वहाँ सोम की दृष्टि से इस सम्बन्ध में 'ना' ही कहा जायगा । तीनों जीवसर्ग तो अग्नि–वायु–आदित्य के भूतात्मरूप वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञ से अनुप्राणित रहते हुए अग्नित्रयी पर ही परिसमाप्त हैं । अभी तो चान्द्रसोम और शेष है । इससे सम्बन्ध रखने वाला चान्द्र–सौम्य–जीवसर्ग ही चौथा सर्ग है, जिसके क्रमशः अवान्तर यक्ष–राक्षस–पिशाच–गन्धर्व–ऐन्द्र–प्राजापत्य पैत्र–ब्राह्म, ये आठ विवर्त माने गए हैं । ससंज्ञ पार्थिव जीवों में जहाँ ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ, १ मन, यों ११ इन्द्रियाँ हैं, वहाँ आठ सिद्धि नव तुष्टि रूप से चान्द्र जीवों में २८ इन्द्रियभाव हैं । असंज्ञ, एवं अन्त:संज्ञ, दोनों पार्थिव जीवों का एकविध वर्ग मान लिया गया है । क्योंकि दोनों में तमोगुण का ही प्राधान्य है । यही 'तमोविशाल' एकविध पार्थिव भूतसर्ग है, जिसका पारिभाषिक नाम है–'स्तम्बसर्ग' । ससंज्ञ नामक कृमिकीटादि पञ्चविध पार्थिवसर्ग आन्तरिक्ष्य सर्ग मान लिया गया है, जो 'रजोविशाल' सर्ग है । एवं ससंज्ञ ही यक्ष–राक्षसादि आठ चान्द्र जीव दिव्य जीव मान लिए गए हैं, जिन्हें 'सत्त्वविशाल' कहा गया है । यों एकविध तमोविशाल, पञ्चविध रजोविशाल, एवं अष्टविध सत्त्वविशाल, भेद से पार्थिव–चान्द्र सम्बन्धी भूतसर्ग, किंवा जीवसर्ग चौदह श्रेणियों में विभक्त हो रहा है जैसाकि सांख्यशास्त्र के–'चतुर्दशविधो भूतसर्गः' इस वचन से स्पष्ट है । इन १४ भूतसर्गों में स्तम्ब नामक तमोविशाल एकविध सर्ग (जिसके अवान्तर असंज्ञ, तथा अन्तःसंज्ञ नामक दो विवर्त हैं), एवं कृमि–कीट–पक्षी–पशु–मनुष्य–यह पञ्चविध सर्ग, कुल ६ सर्ग तो 'अग्निप्रधान जीवसर्ग हैं', एवं यक्षादि ब्रह्मान्त अष्टविध चान्द्र–सर्ग सोमप्रधान जीवसर्ग हैं' । यों अग्नि–वायु–आदित्य–रूप अग्नि, तथा अन्नात्मक सोम इस द्विसीम अग्नीषोमावतार से इनके महिमामण्डल के गर्भ में १४ प्रकार के अग्नीषोमात्मक जीवसर्ग प्रतिष्ठित हो रहे हैं ।

क्या जीवसर्ग यहाँ परिसमाप्त है ? । अपरम । जिसे 'प्राणिसर्ग' कहा जाता है जो प्राणवान् है, अतएव जो 'भूतसर्ग' नाम से प्रसिद्ध है वह तो उपोपवर्णित वैश्वानराग्निमयी, एवं चान्द्रसोमात्मक चतुर्दशविध भूतसर्गों पर ही परिसमाप्त है । अब आगे जो सर्ग है, वह भूतसर्ग नहीं, अपितु प्राणसर्ग है, जिसका सौर अग्नि तथा पारमेष्ठ्य सोम नामक युग्म से सम्बन्ध है, जिसे हमने वैश्वानररूप पार्थिव

भाषा में–'खोपड़ी' कहा गया है। बिल इस कटोरे का अधः है। औंधा है यह कटोरा, जिसमें मानव की अध्यात्मसंस्था का सम्पूर्ण श्रीरूप सारभाग भरा हुआ है, जिसे यज्ञभाषा में अष्टाकपालावच्छिन्न–'पुरोडाश' नामक हविर्द्रव्य कहा गया है, एवं जिसे ग्रन्थिबन्धन से विमुक्त करने के लिए ही औरस पुत्र के द्वारा प्राणोत्क्रमणानन्तर 'कपालक्रिया' नामकी एक वैज्ञानिक प्रक्रिया प्रचलित है शवदाहकर्म्म में। यही पुरोडाश योगभाषा में सहस्रदलकमल, चिकित्सा की भाषा में मस्तिष्क, एवं लोकभाषा में–'भेजा' कहलाता है। इसी रस से सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियाँ रसग्रहण करती हैं। ऐसे इस अर्वाग्बिल, तथा ऊर्ध्वबुध्न 'चमस' नामक शिरः–कपालरूप कटोरे के प्रान्त भागात्मक तीर भागों पर ही पूर्वोपवर्णित सातों आध्यात्मिक ऋषिप्राण यथास्थान प्रतिष्ठित हैं, जिस इस रहस्य का निम्न लिखित मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है—

अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।
तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना ॥

—शत० ब्रा० १४।५।२।५।

एक आनुपङ्गिक विश्लेषण और। ज्ञानेन्द्रियों के आधारभूत कपालस्थित रसात्मक मस्तिष्क को ही 'श्री' कहा गया है। जिसका परोक्षरूप है 'शिरः'। अतएव निगममूलक आगमशास्त्र में पशुमस्तक को 'श्रीः' कहा गया है। यह यशोरूप श्रीरस महाकपालरूप इतरम शिरःकपाल के वेष्टन से प्रजापति के द्वारा सुगुप्त–परोक्ष बना हुआ है। अतएव भारतीय संस्कृति में शिरोवेष्टनभाव ही माङ्गलिक माना गया है, जैसा कि–'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' इत्यादि वेदवचन से प्रमाणित है। सर्वाङ्गशरीर–गुप्तेन्द्रियों को छोड़ कर–भले ही नग्न रहें, किन्तु मस्तक उष्णीषादि से अवश्य ही वेष्टित रहना चाहिए, यही इस राष्ट्र की 'श्री' मूला माङ्गलिक स्वस्त्ययनपरम्परा है। नग्न शिर, उघाड़ा माथा यहाँ अमङ्गलसूचक माना गया है। माङ्गलिक तिलक-विधान भी उघाड़े मस्तक पर अमाङ्गलिक बन जाया करता है। महान् है हमारे राष्ट्र का यह माङ्गलिक स्वस्त्ययनकर्म्म, जिसकी सर्वप्रथम उपेक्षा की बङ्गाल ने, जिसके आधार पर 'भूखा बङ्गाली' आभाणक प्रसिद्ध हो पड़ा। और तदनुपात से आज तो इस सम्बन्ध में कुछ भी निवेदन करना वर्त्तमान सभ्यता से अनुप्राणित नग्न मस्तकों का रुष्ट ही करना होगा। पठन–पाठन के आरम्भ में 'श्री.', पत्रादि लेखनारम्भ में श्री, सर्वत्र

जाता है, जिसका अर्थ है 'विशुद्ध सत्' भाव। इसीलिए अन्यत्र 'सदेवेदमग्रे सोम्य ! असदासीत्, कथमसतः सज्जायेत' इत्यादि रूप से–'हे सोम्य ! यह असत् सत् ही था, यह कहा गया है। अब केवल एक प्रश्न शेष रह गया। इस सद्रूप असत्प्राण को–'ऋषि' नाम से क्यों व्यवहृत किया गया ? । इसका समाधान करती हुई श्रुति अन्त में कहती है कि-'यह प्राणतत्त्व ही क्योंकि सृष्टिकामना से प्रेरित होकर गतिशील बना, अतएव 'रिषति–गच्छति–गतिशीलो भवति' निर्वचन से इस प्राण का तात्त्विक नाम हो गया–'ऋषि'। इसी सर्वादिकारणरूप मूल ऋषिप्राण के इस चिरन्तन इतिहास का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है–

"असद्वा इदमग्र आसीत्। तदाहु–किं तदसदासीदिति ?, ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत्। के ते ऋषय ?। प्राणा वा ऋषय। ते यत् पुरा–अस्मात् सर्वस्मात्–इदमिच्छन्त श्रमेण–तपसा–अरिषन्–तस्मात्–ऋषय"।

—शत० ब्रा० ६।१।१।१।

यह मौलिक ऋषिप्राण एकर्षि–द्व्यर्षि–त्र्यर्षि–सप्तर्षि–दशर्षि–आदि आदि भेद से अनेक मार्गों में विभक्त है। ये ऋषिप्राण अधिदैवत–अध्यात्म–अधिभूत–भेद से यत्र तत्र विभिन्न भावों से मतावार बने हुए हैं। उदाहरण के लिए 'शाकज' नामक आध्यात्मिक सप्तर्षिप्राण को ही लक्ष्य बनाइए। हमारे शिरोमण्डल में दो कान, दो आँख, दो नासाछिद्र, एक मुखविवर ये, सात विवर प्रत्यक्ष दृष्ट हैं। इनमें कर्ण–चक्षु–नासाछिद्र युग्म हैं, अर्थात् जोड़े से हैं, साथ रहने वाले हैं, जब कि सातवाँ मुखविवर एकाकी ही है। इनमें रहने वाले इन्द्रियप्राणों के आधारभूत मौलिक प्राण ही सप्तर्षि प्राण हैं, जैसाकि निम्न लिखित वेदमन्त्र से स्पष्ट है—

साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षडियमा ऋषयो देवजा।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः॥

—ऋक्संहिता १।१६४।१५।

शिरःकपाल क्या है ?, मानो एक जैसा कटोरा है, जिसका बुध्न–अर्थात् पेंदा तो ऊपर की ओर है, जो आठ कपालों से बुना हुआ महाकपाल है, जिसे लोक–

भाषा में-'खोपड़ी' कहा गया है। बिल इस कटोर का अधः है। औंधा है यह कटोरा, जिसमें मानव की अध्यात्मसंस्था का सम्पूर्ण श्रीरूप सारभाग भरा हुआ है, जिसे यज्ञभाषा में अष्टाकपालावच्छिन्न-'पुरोडाश' नामक हविर्द्रव्य कहा गया है, एवं जिसे ग्रन्थिबन्धन से विमुक्त करने के लिए ही औरस पुत्र के द्वारा प्राणोत्क्रमणानन्तर 'कपालक्रिया' नामकी एक वैज्ञानिक प्रक्रिया प्रचलित है शवदाहकर्म में। यही पुरोडाश योगभाषा में सहस्रदलकमल, चिकित्सा की भाषा में मस्तिष्क, एवं लोकभाषा में-'भेजा' कहलाया है। इसी रस से सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियाँ रसग्रहण करती हैं। ऐसे इस अर्वाग्बिल, तथा ऊर्ध्वबुध्न 'चमस' नामक शिरः-कपालरूप कटोरे के प्रान्त भागात्मक तीर भागों पर ही पूर्वोपवर्णित सातों आध्या त्मिक ऋषिप्राण यथास्थान प्रतिष्ठित हैं जिस इस रहस्य का निम्न लिखित मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है—

> अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।
> तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना॥
>
> —शत० ब्रा० १४।५।२।५।

एक आनुषङ्गिक विश्लेषण और। ज्ञानेन्द्रियों के आधारभूत कपालस्थित रसात्मक मस्तिष्क का ही 'श्री' कहा गया है। जिसका परोक्षरूप है 'शिर'। अतएव निगममूलक आगमशास्त्र में पशुमस्तक को 'श्रीः' कहा गया है। यह यशोरूप श्रीरस अष्टाकपालरूप हवतम शिरःकपाल के वेष्टन से प्रजापति के द्वारा सुगुप्त-परोक्ष बना हुआ है। अतएव भारतीय संस्कृति में शिरोवेष्टनभाव ही माङ्गलिक माना गया है, जैसा कि-'लोहितोष्णीषा -ऋत्विजः प्रचरन्ति' इत्यादि वेदवचन से प्रमाणित है। सर्वाङ्गशरीर-गुप्तेन्द्रियों को छोड़ कर-भले ही नग्न रहे किन्तु मस्तक उष्णीषादि से अवश्य ही वेष्टित रहना चाहिए, यही इस राष्ट्र की 'श्री' मूला माङ्गलिक स्वस्त्ययनपरम्परा है। नग्न शिर, उघाड़ा माथा यहाँ अमङ्गलसूचक माना गया है। माङ्गलिक तिलक-विधान भी उघाड़े मस्तक पर अमाङ्गलिक बन जाया करता है। महान् है हमारे राष्ट्र का यह माङ्गलिक स्वस्त्ययनकर्म, जिसकी सर्वप्रथम उपेक्षा की बङ्गाल ने, जिसके आधार पर 'भूखा बंगाली' आभाणक प्रसिद्ध हो पड़ा। और तदनुपात से आज तो इस सम्बन्ध में कुछ भी निवेदन करना वर्तमान सभ्यता से अनुप्राणित नग्न मस्तकों को रुष्ट ही करना होगा। पठन-पाठन के आरम्भ में 'श्री', पत्रादि लेखनारम्भ में श्री, सर्वत्र

जाता है, जिसका अर्थ है 'विशुद्ध सत्' भाव। इसीलिए अन्यत्र 'सदेवेदमग्र सोम्य! असदासीत्, कथमसतः सञ्जायेत' इत्यादि रूप से–'हे सोम्य! वह असत् सत् ही था, यह कहा गया है। अब केवल एक प्रश्न शेष रह गया। इस सद्रूप असत्प्राण को–'ऋषि' नाम से क्यों व्यवहृत किया गया ?। इसका समाधान करती हुई श्रुति अन्त में कहती है कि 'यह प्राणतत्त्व ही क्योंकि सृष्टिकामना से प्रेरित होकर गतिशील बना, अतएव 'रिषति–गच्छति–गतिशीलो भवति' निर्वचन से इस प्राण का तात्त्विक नाम हो गया–'ऋषि'। इसी सर्वादिकारणरूप मूल ऋषिप्राण के इस चिरन्तन इतिहास का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है–

"असद्वा इदमग्र आसीत्। तदाहुः–किं तदसदासीदिति ?, ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत्। के ते ऋषय ?। प्राणा वा ऋषय। ते यत् पुरा–अस्मात् सर्वस्मात्–इदमिच्छन्त श्रमेण–तपसा–अरिषन्–तस्मात्–ऋषयः"।

—शत० ब्रा० ६।१।१।१।

यह मौलिक ऋषिप्राण प्रकर्षि–द्व्यर्षि–त्र्यर्षि–सप्तर्षि–दशर्षि–आदि आदि भेद से अनेक भागों में विभक्त है। ये ऋषिप्राण अधिदैवत–अध्यात्म–अधिभूत–भेद से भत्र तत्र विभिन्न भावों से मूलाधार बने हुए हैं। उदाहरण के लिए 'साकञ्ज' नामक आध्यात्मिक सप्तर्षिप्राण को ही लक्ष्य बनाइए। हमारे शिरोमण्डल में दो कान, दो आँख, दो नासाछिद्र, एक मुखविवर ये, सात विवर प्रत्यक्ष द्रष्ट हैं। इनमें कर्ण–चक्षु–नासाछिद्र संयुक्त हैं, अर्थात् जोड़ले हैं, साथ रहने वाले हैं, जब कि सातवाँ मुखविवर एकाकी ही है। इनमें रहने वाले इन्द्रियमार्गों के आधारभूत मौलिक प्राण ही सप्तर्षि प्राण हैं, जैसा कि निम्न लिखित वेदमन्त्र से स्पष्ट है—

साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥

—ऋक्संहिता १।१६४।१५।

शिरःकपाल क्या है ? मानो एक वैसा कटोरा है, जिसका बुध्न–अर्थात् पेंदा तो ऊपर की ओर है, जो आठ कपालों से ढुका हुआ महाकपाल है, जिसे लोक–

के लिए 'विदितवेदितव्या -अधिगतयाथातथ्या' इत्यादि उपाधियाँ निश्चित हुई हैं। ध्यान रहे, यह प्राणी की भाषा नहीं है, अपितु प्राण की भाषा है। अनन्त की अनन्तभावगमीग अनन्तभाषा है। पराङ्मुख बन गए हैं आज हम इस प्राणभाषा से। अतएव हमें आज तो इसके उच्चारणमात्र का भी अधिकार नहीं है। अतएव लज्जित हैं वैदिकविज्ञान के सम्बन्ध में आज हम यत्किञ्चित् भी निवेदन करते हुए। इसीलिए तो प्रचारात्मिका प्रवृत्ति के लिए हमनें अपने आपको अयोग्य ही अनुभूत किया है सदा से ही। आज यहाँ तो उपस्थित हो पड़ने के आकर्षण का एकमात्र इस अनुबन्ध से हम संवरण न कर सके कि, सम्भव है राष्ट्रपति महाभाग की संस्कृतिनिष्ठा प्रेरणा से इस विलुप्तप्राया उस संस्कृति का प्रचार सफल बन सके, जो एतद्देशीया आर्यसंस्कृति न केवल एतद्देशीय मानव के लिए ही, अपितु सम्पूर्ण भूपिण्ड के मानवमात्र के उद्बोधन का कारण मानी गई है सस्कृतिशिक्षक एतद्देशीय द्विजाति मानव के माध्यम से। निश्चय ही वैदिक ज्ञानविज्ञानमूला आर्यसंस्कृतिरूपा हिन्दूसंस्कृति का किसी भी सीमित सम्प्रदायवादात्मक मतवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है। शिरः-कपालानुगत सप्तर्षिप्राण की सत्ता कौन नहीं मानेगा ?, तन्मूला अग्नीषोमविद्या के सम्मुख कौन अवनतशिरस्क न बन जायगा ?, तात्त्विक आख्यानों से कौन शिक्षा ग्रहण न करना चाहेगा ?। तभी तो मानवधर्मप्रवर्त्तक राजर्षि मनु ने मुक्तहृदय से यहाँ के मुक्तहृदय द्विजाति के लिए यह कहने में यत्किञ्चित् भी तो संकोच नहीं किया कि—

> एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
> स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥
>
> —मनु

'स्वल्पारम्भाः क्षेमकराः' -यह यहाँ की चिरन्तन पद्धति है। अतः दो शब्दों में अग्नीषोमविद्या का दिग्दर्शन कराते हुए आज का वक्तव्य उपरत हो रहा है। स्वायम्भुव मौलिक प्राणात्मक अनन्तविध ऋषिप्राणसर्ग उदाहारेण प्रकृत पार-मेष्ठ्य आप्यप्राणात्मक नवतिर्नवविध (९९) असुरप्राणसर्ग, वायव्यप्राणात्मक सप्तविंशतिविध गन्धर्वप्राणसर्ग, सौम्यप्राणात्मक सप्तविध पितृप्राणसर्ग, त्रयस्त्रिंशद्विध सौर देवप्राणसर्ग, इन ऋषि-असुर-गन्धर्व-पितर-देव-रूप प्राणसर्गों की समष्टिरूप ऋक्-यजु-सामरूप-प्राण-अग्नि, एवं अथर्वरूप प्राणसोम, इस

'श्री' भाव का, यशोरसात्मक ऐश्वर्य्यभाव का उपक्रम ही इस श्रीसम्पन्न राष्ट्र का माङ्गलिक प्रतीक रहा है, जो दुर्भाग्यवश कल्पित साम्प्रदायिकता के व्यामोहनाकरण से आज राष्ट्रीय पन्था स पराङ्मुख ही बनता जा रहा है, अथवा तो बलपूर्वक बना दिया गया है।

प्रसङ्ग प्राण का चल रहा है। सचमुच 'अनन्ता वै मे प्राणाः'। प्राणोदान व्यानसमानापान–नामक पाँच प्राणों में से मध्यस्थ व्यानप्राण के ही अनन्त विभूतिभेद हो जाते हैं। ७२ सहस्र नाड़ियों में विभक्त व्यान का आगे जाकर अनन्त विस्तार हो जाता है। देखिए—

> "शत चैका हृदयस्य नाड्य –तासां मूर्द्धानमभिनि सृतैका।
> तयोर्ध्वमायन्नमृतत्त्वमेति विश्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति" ॥
>
> —छान्दोग्य उपनिषत् ८।६।५६।

> "हिता नाम नाड्य –द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात् पुरीतत मभिप्रतिष्ठन्ते। ताभि प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते"।
>
> —बृहदा० उप० २।१।१६।

> "हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशत न'डीनां, तासां शत शतमेकैकस्याम्। द्वासप्ततिर्द्वासप्तति प्रतिश खानाडीसहस्राणि भवन्ति। आसु व्यानश्चरति"।
>
> —प्रश्नोपनिषत् ३।६।

इत्थंभूत स्वायम्भुव सत्त्वात्मक गत्यात्मक मौलिक प्राणों का ही नाम है— 'ऋषि'। जिस मानव श्रेष्ठ ने तपोबल–श्रमव्यवसाय से सर्वप्रथम जिस प्राण का परीक्षण के द्वारा साक्षात्कार किया वह मानव 'यशोनाम' इन्धा उसी ऋषिप्राण के नाम से प्रसिद्ध हो गया। सचमुच अनन्त हैं ये ऋषिप्राण, जिनकी यह अनन्तता–अभिज्ञेयता भी सुनिश्चित ही बनी हुई है। ऐसा कोई भी तत्त्व नहीं है जिसे ऋषिप्रज्ञा ने अग्नीषोमात्मिका यज्ञविद्या के माध्यम से न पहिचान लिया हो। जो जानने का था, वह जाना जा चुका। एवं जो विज्ञातीत नहीं हो जानने का है, वह कदापि नहीं ही जाना जायगा। इसी आधार पर तो यहाँ के ऋषि

के लिए 'विदितवेदितव्या-अधिगतयाथातथ्या' इत्यादि उपाधियाँ निश्चित हुई हैं। ध्यान रहे, यह प्राणी की माया नहीं है, अपितु प्राण की माया है। अनन्त की अनन्तभावगर्भीता अनन्तमाया है। पराङ्मुख बन गए हैं आज हम इस प्राणमाया से। अतएव हमें आज तो इसके उच्चारणमात्र का भी अधिकार नहीं है। अतएव लज्जित हैं वैदिकविज्ञान के सम्बन्ध में आज हम यत्किञ्चित् भी निवेदन करते हुए। इसीलिए तो प्रचारात्मिका प्रवृत्ति के लिए हमनें अपने आपको अयोग्य ही अनुभूत किया है सदा से ही। आज यहाँ तो उपस्थित हो पड़ने के आकर्षण का एकमात्र इस अनुबन्ध से हम संवरण न कर सके कि, सम्भव है राष्ट्रपति महाभाग की संस्कृतिनिष्ठा प्रेरणा से इस विलुप्तप्राया उस संस्कृति का प्रचार सफल बन सके, जो एतद्देशीया आर्यसंस्कृति न केवल एतद्देशीय मानव के लिए ही, अपितु सम्पूर्ण भूपिण्ड के मानवमात्र के उद्बोधन का कारण मानी गई है संस्कृतिशिक्षक एतद्देशीय द्विजाति मानव के माध्यम से। निश्चय ही वैदिक ज्ञानविज्ञानमूला आर्यसंस्कृतिरूपा हिन्दूसंस्कृति का किसी भी सीमित सम्प्रदायवादात्मक मतवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है। शिरः-कपालानुगत सप्तर्षिप्राण की सत्ता कौन नहीं मानेगा?, तन्मूला अग्नीषोमविद्या के सम्मुख कौन अवनतशिरस्क न बन जायगा?, चारित्रिक आख्यानों से कौन शिक्षा ग्रहण न करना चाहेगा?। तभी तो मानवधर्मप्रवर्तक राजर्षि मनु ने मुक्तहृदय से यहाँ के मुक्तहृदय द्विजाति के लिए यह कहने में यत्किञ्चित् भी तो संकोच नहीं किया कि—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

—मनु

'स्वल्पारम्भाः क्षेमकराः'-यह यहाँ की चिरन्तन पद्धति है। अत [illegible] ग्रन्थों में अग्नीषोमविद्या का दिग्दर्शन कराते हुए आज का वक्तव्य [illegible] हो रहा है। स्वायम्भुव मौलिक प्राणात्मक अनन्तविध ऋषिप्राणसर्ग, [illegible] पारमेष्ठ्य आप्यप्राणात्मक नवतीनवविध (९९) असुरप्राणसर्ग, [illegible] सप्तविंशतिविध गन्धर्वप्राणसर्ग, सौम्यप्राणात्मक अष्टविध पितृप्राणसर्ग, [illegible] विध सौर देवप्राणसर्ग, इन ऋषि-असुर-[illegible] समष्टिरूप ऋक्-यजु-साम-[illegible]-अग्नि, एवं [illegible]

की संक्षिप्त स्वरूपदिशा । इसी के आधार पर हमें आध्यात्मक सत्तासिद्ध सम्वत्सर का समन्वय करना है। एवं तद्द्वारा सम्वत्सरमूलक अग्नि, सोम मार्गों का।

सत्याग्नि, तथा सत्य सोम से सृष्टि नहीं होती। क्योंकि यह तो स्रष्टा का मखौदन बना रहता है। सूर्य्य-भूपिण्ड-आदि सत्याग्निपिण्ड हैं, चन्द्रमा, शुक्र आदि सत्यसोमपिण्ड हैं। इनसे प्रवर्ग्यरूप से पृथक् होने वाले अग्नि सोम ही ऋत कहलाए हैं। एवं 'उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वम्' इस अथर्वसिद्धान्त के अनुसार ऋताग्निसोम से ही प्रजोत्पत्ति होती है। कालात्मक खगोलीय सम्वत्सरमण्डल के उत्तर भाग में ऋतसोम प्रतिष्ठित है, जो निरन्तर दक्षिण की ओर आ रहा है। एवमेव दक्षिण भाग में ऋताग्नि प्रतिष्ठित है, जो निरन्तर उत्तर की ओर आ रहा है। ऋताग्नि में ऋतसोम की निरन्तर आहुति होती रहती है इस गमनागमन-प्रक्रिया के द्वारा। इसी आहुतिकर्म्म का नाम है यज्ञ, जो कि-'सम्वत्सरयज्ञ' कहलाता है। यही पार्थिव प्रजासर्ग का उपादान बनता है। अतएव सम्वत्सरयज्ञ को 'प्रजापति' कह दिया जाता है। ऋताग्नि का आगमन दक्षिण से होता है। अतएव कृष्यन्न का परिपाक दक्षिण से ही आरम्भ है। अतएव भारतीय कृषक परिपक्व अन्न को दक्षिण से ही काटना आरम्भ करता है।

ऋत अग्नि में ऋत सोम की आहुति होने से जो एक अग्नीषोमात्मक यौगिक अपूर्व भाव उत्पन्न होता है उसे ही 'ऋतु' कहा गया है। लोकानुबन्ध से जहाँ सम्वत्सर में ६ ऋतुएँ मानी जाती हैं, वहाँ वैज्ञानिक यज्ञानुबन्ध से पाँच ही ऋतुएँ हैं। अतएव सम्वत्सरयज्ञ 'पाङ्क्त', अर्थात् पञ्चावयव कहलाया है। पञ्चप्राण-पञ्चभूत-पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ-पञ्चकर्म्मेन्द्रियाँ-पञ्चाङ्गुलि-आदि आदि समस्त पञ्चभाव सम्वत्सरयज्ञ की पञ्चावयवा ऋतु से ही अनुप्राणित हैं। 'हेमन्तशिशिरयो समासेन' रूप से हेमन्त और शिशिर-दोनों को एक ऋतु मान कर पाँच ऋतुएँ मान ली गई हैं। प्रत्येक ऋतु ७२-७२ दिनों में विभक्त है। लोक में भी राजस्थान की प्रान्तीय भाषा के 'पूर्व्यूँ पड़वा टाले, तो दिन बहत्तर गाले' इस आभाणक से वैदिक पञ्चर्तुस्वरूप सुपरिचित बना हुआ है। १६-४०-१६- इस विभाजन से ७२ दिन की प्रत्येक ऋतु प्रातःसवन-माध्यन्दिनसवन-सायंसवन-रूपा तीन यज्ञप्रक्रियाओं से क्रमशः बालावस्था-युवावस्था-वृद्धावस्था-इन तीन अवस्थाओं में अपना भोग करती है। मध्य की ४ दिन की युवावस्था ही हमारे यहाँ 'विषुवत्' कहलाया है। क्या अर्थ है सम्वत्सरयज्ञस्वरूपसम्पादिका बसन्तादि ऋतुओं का, ?, इस प्रश्न का समन्वय भी आरम्भ की शब्दार्थरहस्यमर्य्यादा के द्वारा ही कर लीजिए।

मान लीजिए—अभी अत्यन्त शीत का प्रकोप है। सम्वत्सर अग्नि से विहीन बन रहा है। सोमात्मक शीततत्त्व के चरम विकास के अनन्तर अग्नि का जन्म हो पड़ता है। सब प्रसुप्त अग्निकण शीतमायापन्न सोमपटल पर बसने लगते हैं। यही पहिली 'वसन्त' ऋतु है जिसका निर्वचन है—'यस्मिन् काले अग्निकणा पदार्थेषु वसन्तो—निवसन्तो भवन्ति, स काल—वसन्त'। आगे चलकर अग्नि ने अधिक बल से पदार्थों को ग्रहण किया। 'यस्मिन् काले अग्निकणा पदार्थान् गृह्णन्ति, स काल—ग्रीष्म' निर्वचन से यही काल 'ग्रीष्म' कहलाया। अग्नि और प्रवृद्ध हुआ, निःसीम बना, मानो जलाने ही लग पड़ा पदार्थों को। यही 'नितरा दहत्यग्नि पदार्थान्'—निर्वचन से 'निदाघ' भी कहलाने लग पड़ा। निदाघ की चरमावस्था ने अग्निविकास को परावर्तित कर दिया संकोचावस्था आरम्भ हो पड़ी। यही सकोचावस्था 'वर्षा' कहलाई। 'अतिशयेन उरु—अग्निः—यस्मिम् काले'—निर्वचन से अग्नि का 'उरु' भाव ही वर्षा कहलाया। पाणिनीय व्याकरण ने उरु को 'वर' आदेश कर दिया। और यों 'उरु शब्द 'वर्ष' रूप में परिणत हो गया। यों अग्नि ही अपने क्रमिक उद्भाव—चढ़ाव—से वसन्त—ग्रीष्म—वर्षा—इन तीन ऋतुओं में परिणत हो गया, जिनमें वसन्त बना अग्नि का उपक्रमकाल, ग्रीष्म बना मध्यकाल, वर्षा बना उपसंहारकाल। उपक्रम ही आधानकाल था शान्त अग्नि का, मध्य ही प्रचण्ड काल तथा उग्र अग्नि का अवसान ही गुप्तप्रकाश या अन्तर्मुख अग्नि का। इसी आधार पर शान्त—उग्र—अन्तर्मुख ब्राह्मण—क्षत्रिय—वैश्य के लिए वेदशास्त्र में वसन्त—ग्रीष्म—एवं वर्षानुगत शरत् अग्न्याधान—काल माने गए, जैसा कि—'वसन्ते ब्राह्मण—ग्रीष्मे राजन्यः—शरदि वैश्य—अग्नीनादधीत' इत्यादि से स्पष्ट है।

अग्नि की तीसरी वर्षा ऋतु को सम्वत्सरवाचक 'वर्ष' शब्द से क्यों व्यवहृत किया गया ?, यह प्रश्नोत्थान कर श्रुति ने उत्तर दिया कि,—जब पुरवाई हवा चलती है, तो वर्षाकाल वसन्त की छटा से, उष्मा के वेग से यही ग्रीष्म की छटा से, पानी बरसने के अनन्तर यही शरत् की छटा से, एवं अत्यन्त पानी बरसने के अनन्तर शीत की छटा से यह वर्षाऋतु युक्त हो जाती है। स्वय वर्षा तो यह है ही। इस प्रकार—'वर्षास्वेव सर्वऋतव' रूप से क्योंकि वर्षाऋतु में सब ऋतुओं का योग हो रहा है, अतएव सम्वत्सर वाचक वर्ष नाम से यह ऋतु प्रसिद्ध हो पड़ी है। अपि च वर्षाऋतु में यदि वर्षा न हो, तो सम्पूर्ण वर्ष ही निस्सत्त्व बन जाय कृष्यन्न के अभाव में। वर्ष का वर्षस्व क्योंकि वर्षा पर ही अवलम्बित है। इसलिए भी इस ऋतु को 'वर्ष' नाम से व्यवहृत करना प्रकृतिसिद्ध है। क्योंकि वर्षाऋतु में

की संक्षिप्त स्वरूपदिशा । इसी के आधार पर हमें आग्न्यात्मक सत्यात्मिक सम्वत्सर का समन्वय करना है । एवं तद्द्वारा सम्वत्सरमूलक अग्नि, सोम मार्गों का ।

सत्याग्नि, तथा सत्य सोम से सृष्टि नहीं होती । क्योंकि यह तो सदा का *मौलीदन बना रहता है । सूर्य–भूपिण्ड–आदि सत्याग्निपिण्ड हैं, चन्द्रमा, शुक्र* आदि सत्यसोमपिण्ड हैं । इनसे प्रवर्ग्यरूप से पृथक् होने वाले अग्नि सोम ही ऋत कहलाए हैं । एवं 'ऋचिद्दृष्टाप्राङ्गिरे सर्वम्' इस अथर्वसिद्धान्त के अनुसार *ऋताग्निसोम से ही प्रजोत्पत्ति होती है* । कालात्मक खगोलीय सम्वत्सरमण्डल के उत्तर भाग में ऋतसोम प्रतिष्ठित है, जो निरन्तर दक्षिण की ओर आ रहा है । एवमेव दक्षिण भाग में ऋताग्नि प्रतिष्ठित है, जो निरन्तर उत्तर की ओर आ रहा है । ऋताग्नि में ऋतसोम की निरन्तर आहुति होती रहती है इस *गमनागमन–* प्रक्रिया के द्वारा । इसी आहुतिकर्म्म का नाम है यज्ञ, जो कि–'सम्वत्सरयज्ञ' कहलाया है । यही पार्थिव प्रजासर्ग का उपादान बनता है । अतएव सम्वत्सरयज्ञ को 'प्रजापति' कह दिया जाता है । ऋताग्नि का आगमन दक्षिण से होता है । अतएव कृष्यन्न का परिपाक दक्षिण से ही आरम्भ है । अतएव भारतीय कृषक परिपक्व अन्न को दक्षिण से ही काटना आरम्भ करता है ।

ऋत अग्नि में ऋत सोम की आहुति होने से जो एक अग्नीषोमात्मक सांयौगिक अपूर्व भाव उत्पन्न होता है उसे ही 'ऋतु' कहा गया है । लोकानुबन्ध से जहाँ सम्वत्सर में ६ ऋतुएँ मानी जाती हैं, वहाँ वैज्ञानिक पक्षानुबन्ध से पाँच ही ऋतुएँ हैं । अतएव सम्वत्सरयज्ञ 'पांक्त', अर्थात् पञ्चावयव *कहलाया है ।* पञ्चप्राण–पञ्चभूत–पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ–पञ्चकर्म्मेन्द्रियाँ–पञ्चाङ्गुलि–आदि आदि समस्त पञ्चभाव सम्वत्सरयज्ञ की पञ्चावयवा ऋतु से ही अनुप्राणित हैं । 'हैमन्तशिशि रयोः समासेन' रूप से हेमन्त और शिशिर–दोनों को एक शीतर्तु मान कर पाँच ऋतुएँ मान ली गई हैं । प्रत्येक ऋतु ७२–७२ दिनों में विभक्त है । लोक में भी गवरस्थान की प्रान्तीय भाषा के 'पूनूँ' पड़वा टाले, तो दिन बहत्तर गाले' इस आभाणक से वैदिक पञ्चर्तुस्वरूप सुपरिचित बना हुआ है । १६–४०–१६– इस विभाजन से ७२ दिन की प्रत्येक ऋतु प्रातःसवन–माध्यन्दिनसवन–सायंसवन– रूपा तीन *यज्ञप्रक्रियाओं से क्रमशः बाल्यावस्था–युवावस्था–वृद्धावस्था–इन तीन* अवस्थाओं में अपना भोग करती है । मध्य की ४० दिन की युवावस्था ही हमारे यहाँ 'चिल्ला' कहलाया है । क्या अर्थ है सम्वत्सरयज्ञस्वरूपसम्पादिका पञ्चाग्नि ऋतुओं का, ?, इस प्रश्न का समन्वय भी आरम्भ की शब्दार्थरहस्यमर्य्यादा के द्वारा ही कर लीजिए ।

मान लीजिए–अभी अत्यन्त शीत का प्रकोप है। सम्वत्सर अग्नि से विहीन बन रहा है। सोमात्मक शीततत्त्व के चरम विकास के अनन्तर अग्नि का जन्म हो पड़ता है। सद्यःप्रसूत अग्निकण शीतमायापन्न सोमपदार्थ पर बसने लगते हैं। यही पहिली 'वसन्त' ऋतु है जिसका निर्वचन है–'यस्मिन् काले अग्निकणा पदार्थेषु वसन्तो–नियमन्तो भवन्ति, स कालः-वसन्त'। आगे चलकर अग्नि ने अधिक बल से पदार्थों को ग्रहण किया। 'यस्मिन् काले अग्निकणा पदार्थान् गृह्णन्ति, स कालः-ग्रीष्मः' निर्वचन से यही काल 'ग्रीष्म' कहलाया। अग्नि और प्रवृद्ध हुआ, नि मीम बना, मानो जलाने ही लग पड़ा पदार्थों को। यही 'निवरा दहत्यग्नि पदार्थान्'–निर्वचन से निदाघ'भी कहलाने लग पड़ा। निदाघ की चरमावस्था ने अग्निविकास को परावर्तित कर दिया संकोचावस्था आरम्भ हो पड़ी। यही सकोचावस्था 'वर्षा' कहलाई। 'अतिशयेन उरु–अग्नि -यस्मिन् काले'–निर्वचन से अग्नि का 'उरु' भाव हो गया कहलाया। पाणिनीय व्याकरण ने उरु को 'वर' आदेश कर दिया। और यों 'उरु' शब्द 'वर्ष' रूप में परिणत हो गया। यों अग्नि ही अपने क्रमिक उद्गाम–वदाघ-म वसन्त–ग्रीष्म–वर्षा–इन तीन ऋतुओं में परिणत हो गया, जिनमें वसन्त बना अग्नि का उपक्रमकाल, ग्रीष्म बना मध्यकाल, वर्षा बना उपसंहारकाल। उपक्रम ही आधानकाल या शान्त अग्नि का, मध्य ही प्रचण्ड काल तथा उग्र अग्नि का, अवसान ही गुप्तकाल या अन्तम्मुख अग्नि का। इसी आधार पर शान्त–उग्र–अन्तम्मुख ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य के लिए वैधयज्ञ में वसन्त–ग्रीष्म–एवं वर्षानुगत शरत् अग्न्याधान–काल माने गए, जैसाकि–'वसन्ते ब्राह्मण –ग्रीष्मे राजन्य – शरदि वैश्य –अग्नीनादधीत' इत्यादि से स्पष्ट है।

अग्नि की तीसरी वर्षा ऋतु को सम्वत्सरवाचक 'वर्ष' शब्द से क्यों व्यवहृत किया गया ?,यह प्रश्नोत्थान कर श्रुति ने उत्तर दिया कि,–जब पुरवाई हवा चलती है, तो वर्षाकाल वसन्त की छटा से, उष्मा के वेग से यही ग्रीष्म की छटा से, पानी बरसने के अनन्तर यही शरत् की छटा से, एवं अत्यन्त पानी बरसने के अनन्तर शीत की छटा से यह वर्षाऋतु युक्त हो जाती है। स्वयं वर्षा तो यह है ही। इस प्रकार– 'वर्षात्वेव सर्वऋतव' रूप से क्योंकि वर्षाऋतु में सब ऋतुओं का भोग हो रहा है, अतएव सम्वत्सर वाचक वर्ष नाम से यह ऋतु प्रसिद्ध हो पड़ी है। अपि च वर्षाऋतु में यदि वर्षा न हो, तो सम्पूर्ण वर्ष ही निस्तत्त्व बन जाय कृष्यन्न के अभाव में। वर्ष का वर्षत्व क्योंकि वर्षा पर ही अवलम्बित है। इसलिए भी इस ऋतु को 'वर्ष' नाम से व्यवहृत करना प्रकृतिसिद्ध है। क्योंकि वर्षाऋतु में

की संक्षिप्त रूपरेखा । इसी के आधार पर हमें अन्यान्य सब गतागत सञ्चार का समन्वय करना है । एवं तद्द्वारा गम्भीरमूलक अग्नि, गम भारी का ।

सत्याग्नि, तथा सत्य सोम में सृष्टि नहीं होती । क्योंकि यह तो सदा का मशोन्न बना रहता है । सूर्य्य-भूपिण्ड-आदि सत्याग्निपिण्ड हैं, चन्द्रमा शुक्र आदि सत्यसोमपिण्ड हैं । इनके अपार्थक्य से पृथक् होने वाला अग्नि सोम ही ऋत कहलाए हैं । एवं 'उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वम्' इस अथर्वसिद्धान्त के अनुसार ऋताग्निसोम से ही सृष्टि होती है । अग्नीषोमात्मक गर्भीय सम्वत्सरमण्डल के उत्तर भाग में ऋतसोम प्रतिष्ठित है, जो निरन्तर दक्षिण की ओर आ रहा है । एवमेव दक्षिण भाग में ऋताग्नि प्रतिष्ठित है, जो निरन्तर उत्तर की ओर आ रहा है । ऋताग्नि में ऋतसोम की निरन्तर आहुति होती रहती है इस गमनागमन-प्रक्रिया के द्वारा । इसी आहुतिकर्म्म का नाम है यज्ञ, जो कि–'सम्वत्सरयज्ञ' कहलाया है । यही पार्थिव प्रजावर्ग का उपादान बनता है । अतएव सम्वत्सरयज्ञ को 'प्रजापति' कह दिया जाता है । ऋताग्नि का आगमन दक्षिण से होता है । अतएव कृष्यन्न का परिपाक दक्षिण से ही आरम्भ है । अतएव भारतीय कृषक परिपक्व अन्न को दक्षिण से ही काटना आरम्भ करता है ।

ऋत अग्नि में ऋत सोम की आहुति होने से जो एक अग्नीषोमात्मक संयोगिक अपूर्व भाव उत्पन्न होता है, उसे ही 'ऋतु' कहा गया है । लोकानुबन्ध से यहाँ सम्वत्सर में ६ ऋतुएँ मानी जाती हैं जहाँ वैज्ञानिक यज्ञानुबन्ध से पाँच ही ऋतुएँ हैं । अतएव सम्वत्सरयज्ञ 'पाङ्क्त', अर्थात् पञ्चावयव कहलाया है । पञ्चप्राण-पञ्चभूत-पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ-पञ्चकर्मेन्द्रियाँ-पञ्चाङ्गुलि-आदि आदि समस्त पञ्चभाव सम्वत्सरयज्ञ की पञ्चावयवता ऋतु से ही अनुप्राणित हैं । 'हेमन्तशिशिरयोः समासेन' रूप से हेमन्त और शिशिर-दोनों को एक ही ऋतु मान कर पाँच ऋतुएँ मान ली गई हैं । प्रत्येक ऋतु ७२-७२ दिनों में विभक्त है । लोक में भी राजस्थान की प्रान्तीय भाषा के 'पूस्यूँ पड़्या टाले यो दिन बहत्तर गाळे' इस आभाणक से वैदिक पञ्चऋतु स्वरूप सुपरिचित बना हुआ है । १६-४०-१६- इस विभाजन से ७२ दिन की प्रत्येक ऋतु प्रातःसवन-माध्यन्दिनसवन-सायंसवन-रूपा तीन यज्ञप्रक्रियाओं से क्रमशः बाल्यावस्था-युवावस्था-वृद्धावस्था-इन तीन अवस्थाओं में अपना भोग कराती है । मध्य की ४० दिन की युवावस्था ही हमारे यहाँ 'चिल्ला' कहलाया है । क्या अर्थ है सम्वत्सरयज्ञस्वरूपसम्पादिका वसन्तादि ऋतुओं का ? इस प्रश्न का समन्वय भी आरम्भ की शब्दार्थरहस्यमर्यादा के द्वारा ही कर लीजिए ।

मान लीजिए-अभी अत्यन्त शीत का प्रकोप है। सम्वत्सर अग्नि से विहीन बन रहा है। सोमात्मक शीततत्त्व के चरम विकास के अनन्तर अग्नि का जन्म हो पड़ता है। अब प्रसुप्त अग्निकण शीतमायापन्न सोमपटल पर बसने लगते हैं। यही पहिली 'वसन्त' ऋतु है जिसका निर्वचन है-'यस्मिन् काले अग्निकणा पदार्थेषु वसन्तो-निवसन्तो भवन्ति, स काल-वसन्त'। आगे चलकर अग्नि ने अधिक बल से पदार्थों को ग्रहण किया। 'यस्मिन् काले अग्निकणा पदार्थान् गृह्णन्ति, स काल-ग्रीष्म' निर्वचन से यही काल 'ग्रीष्म' कहलाया। अग्नि और प्रवृद्ध हुआ, निःसीम बना, मानो जलाने ही लग पड़ा पदार्थों को। यही 'नितरा दहत्यग्नि पदार्थान्'-निर्वचन से निदाघ'भी कहलाने लग पड़ा। निदाघ की चरमावस्था ने अग्निविकास को परावर्तित कर दिया संकोचावस्था आरम्भ हो पड़ी। यही सकोचावस्था 'वर्षा' कहलाई। 'अतिशयेन उरु-अग्नि -यस्मिन् काले'-निर्वचन से अग्नि का 'उरु' भाव ही वर्षा कहलाया। पाणिनीय व्याकरण ने उरु को 'वर्ष' आदेश कर दिया। और यों 'उरु' शब्द 'वर्ष' रूप में परिणत हो गया। यों अग्नि ही अपने क्रमिक उद्ग्राम-चढाव से वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-इन तीन ऋतुओं में परिणत हो गया, जिनमें वसन्त बना अग्नि का उपक्रमकाल, ग्रीष्म बना मध्यकाल, वर्षा बना उपसंहारकाल। उपक्रम ही आधानकाल या शान्त अग्नि का, मध्य ही प्रचण्ड काल तथा उग्र अग्नि का अवसान ही गुप्तकाल या अन्तर्मुख अग्नि का। इसी आधार पर शान्त-उग्र-अन्तर्मुख ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य के लिए वैधयज्ञ में वसन्त-ग्रीष्म-एवं वर्षानुगत शरत् अभ्याधान-काल माने गए, जैसाकि-'वसन्ते ब्राह्मण-ग्रीष्मे राजन्यः-शरदि वैश्य-अग्नीनादधीत' इत्यादि से स्पष्ट है।

अग्नि की तीसरी वर्षा ऋतु को सम्वत्सरवाचक 'वर्ष' शब्द से क्यों व्यवहृत किया गया ?, यह प्रश्नोत्थान कर श्रुति ने उत्तर दिया कि,-जब पुरवाई हवा चलती है, तो वर्षाकाल वसन्त की छाया से, उष्मा के वेग से यही ग्रीष्म की छाया से, पानी बरसने के अनन्तर यही शरत् की छाया से, एवं अत्यन्त पानी बरसने के अनन्तर शीत की छाया से यह वर्षाऋतु युक्त हो जाती है। स्वयं वर्षा तो यह है ही। इस प्रकार-'वर्षास्वेव सर्वेऋतव' रूप से क्योंकि वर्षाऋतु में सब ऋतुओं का भोग हो रहा है, अतएव सम्वत्सर वाचक वर्ष नाम से यह ऋतु प्रसिद्ध हो पड़ी है। अपि च वर्षाऋतु में यदि वर्षा न हो, तो सम्पूर्ण वर्ष ही निस्तत्त्व बन जाय कृष्यन्न के अभाव में। वर्ष का वर्षत्व क्योंकि वर्षा पर ही अवलम्बित है। इसलिए भी इस ऋतु को 'वर्ष' नाम से व्यवहृत करना प्रकृतिसिद्ध है। क्योंकि वर्षाऋतु में

सम्पूर्ण ऋतुओं का भोग है। अतएव भारतीय शास्त्रीय संगीताचार्यों ने वर्षाऋतु में सम्पूर्ण ऋतुओं के रागों का गान विहित मान लिया है।

अग्निघर्मा समाप्त हुई। अब सोम का लक्षण बनाइए। जिस अनुपात से वसन्त में अग्निकण उपक्रान्त हो रहे थे, उसी अनुपात से अब अग्निकण शीर्ण होने लगे। 'यस्मिन काले–अग्निकणाः शीर्णा भवन्ति–स कालः' ही 'शरत्' कहलाया। अग्निकण और हीन बने, और नहीं बढ़ी। अतएव 'यस्मिन् काले अग्निकणा हीनतां गता भवन्ति, स कालः' ही 'हेमन्त' कहलाया। अन्ततोगत्वा अग्निकण सर्वथा शीर्ण हो गए, शीतप्रवर्तक सोम का ही प्राधान्य रह गया। यही 'पुन पुनरतिशयेन शीर्णा –अग्निकणा –स काल' ही 'शिशिर' कहलाया। और यहाँ आकर अग्नि का विराम–उतार–समाप्त हुआ। वसन्त से अग्नि का जन्म, शरत् से सोम का जन्म। वर्षा पर अग्नि की समाप्ति, शिशिर पर सोम की समाप्ति। अग्नि की चरम विकासावस्था की ही सोम में परिणति, सोम की चरम संकोचावस्था की ही अग्नि में परिणति। अग्निसोम के इस परिवर्त्तन से ही ऋतुओं का जन्म। ऋतुओं से ही सम्वत्सरयज्ञ की स्वरूपस्थिति, एवं यही 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' का संक्षिप्त स्वरूप–निदर्शन, जिसके द्वारा सम्पूर्ण जगत् का सञ्चालन हो रहा है।

अग्नीषोमात्मक सम्वत्सर की इस व्याप्ति का दाम्पत्यरूप से साक्षात्कार भी कर लीजिए। आप सूर्य की ओर मुख करके खड़े हो जाइए। आपका दक्षिणभाग दक्षिण दिशा से, तथा वामभाग उत्तर दिशा से अनुगत रहेगा। दक्षिण भाग दक्षिण से उत्तर की ओर आने वाले ऋताग्नि से अग्निप्रधान बना रहेगा, वामभाग उत्तर से दक्षिण की ओर आने वाले ऋतसोम से सोमप्रधान बना रहेगा। यों केवल आपके एक ही शरीर में अग्नि, और सोम, दोनों का योग अनुप्राणित रहेगा। अग्नि ही पुरुषभाव है, सोम ही स्त्रीभाव है। अतएव आपका अग्निप्रधान दक्षिणाङ्ग पुरुषभावप्रधान माना जायगा, सोमप्रधान वामाङ्ग स्त्रीभावप्रधान माना जायगा जिसके आधार पर वैज्ञानिक तत्त्वज्ञ भारतवर्ष की शिवशक्तिसमन्विता अर्द्ध नारीश्वरोपासना प्रतिष्ठित है।

अब दाम्पत्यरूप से अग्नि–सोम का समन्वय कीजिए। मानव आग्नेयप्राण प्रधान है, अतएव पुरुष 'आग्नेय' माना गया है। मानवी सोमप्राणप्रधाना है, अतएव स्त्री 'सौम्या' मानी गई है। दोनों अग्नीषोमात्मक सम्वत्सर मण्डलरूप

खगोल के ही मानों अर्द्धवृत्तात्मक दो महाकपाट हैं, जिन दोनों के दाम्पत्य से ही आध्यात्मिक सम्वत्सर का स्वरूप निष्पन्न होता है । जिस इस दाम्पत्यरूप से ही पुरुष के सौम्य शुक्र रूप सोम के, स्त्री के शोणितरूप अग्नि के यजन से, इस शुक्रशोणितात्मक सोमाग्नियज्ञ से ही प्रजोत्पत्ति का सप्तपुरुष-पर्य्यन्त वितान होता है । यही तो इस दाम्पत्य का सम्वत्सर-प्रतिमानत्व है । अतएव श्रुति ने पुरुष को सम्वत्सर की ही प्रतिमा माना है ।

सम्वत्सर के मध्य में जो विषुवद्वृत्त है, वही इस दाम्पत्य आध्यात्मिक सम्वत्सर में मेरुदण्ड है, जिसे लोक में 'रीढ़ की हड्डी' कहा गया है । उस आधिदैवत सम्वत्सर के विषुवद्वृत्तरूप मेरुदण्ड से दक्षिणोत्तर व्याप्त ४८ अंशात्मक परिसर तत्त्वत: २४ अंश पर ही परिसमाप्त है । ये २४ अंश ही मानव, और मानवी के २४-२४ पशु हैं । दाम्पत्य के समन्वय से पूरे ४८ पशु हो जाते हैं । मानवशरीर में भी २४ ही पँसलियाँ हैं, एवं मानवी के शरीर में भी २४ ही पँसलियाँ हैं । सम्वत्सरयज्ञ में सूर्य्यस्कम्भ यूप है, तो इस आध्यात्मिक सम्वत्सरयज्ञ में मस्तकभाग यूप है जिसमें मानव-मानवी के अधोभागरूप पशव्य त्रिविलक्षण भूत-पशु-भाग आबद्ध हैं । निष्कर्षत जैसा जो कुछ उस आधिदैविक सम्वत्सर में है ठीक वैसा ही इस दाम्पत्यरूप आध्यात्मिक सम्वत्सर में प्रतिष्ठित है । इसी आधार पर 'पुरुषो वै यज्ञ:'-'यज्ञो वै पुरुष:' इत्यादि सिद्धान्त व्यवस्थित हुए हैं ।

सम्वत्सरमूलक अग्नि, और सोम, दोनों सयुक्रूपा हैं, साथ रहने वाले अभिन्न मित्र हैं । तात्पर्य्य, विकासशील अग्नि विकास की चरम सीमा पर पहुँच कर सोमरूप में परिणत हो जाते हैं, संकोचशील सोम संकोच की चरम सीमा पर पहुँच कर अग्निरूप में परिणत हो जाते हैं । अग्नि अन्नाद है, भोक्ता है । सोम अन्न है, भोग्य है । अग्नि कभी अन्नाद बन कर भोक्ता है, तो यही सोमरूप में परिणत होकर कभी भोग्य भी बन जाता है । एवमेव भोग्य सोम अग्निरूप में परिणत होकर भोक्ता भी बन जाता है । इस प्रकार अग्नि-सोम-के अवस्था-परिवर्त्तन तारतम्य से अग्नीषोमात्मक इस विश्व में सभी अन्न हैं, सभी अन्नाद हैं । सभी भोक्ता हैं, सभी भोग्य हैं । इसी आधार पर 'सर्वमिदमन्नाद , सर्वमिदमन्नम्' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है । वेदमहर्षि ने इस मन्त्र के द्वारा अग्नीषोमात्मक इसी अन्नान्नादभाव का रहस्यपूर्ण भाषा में स्पष्टीकरण किया है—

अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य नाम ।
यो मा ददाति स इ देव मावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥

यह सगर्व उद्घोषणा अपेक्षित है कि, पूर्वोपवर्णित 'अग्नीषोम' युग्म का स्वरूप उस सम्वत्सर में ही प्रतिष्ठित है, जो तत्त्वतः 'सर्वेश्वर' है। कुटिलगति-भावापन्न अग्निहृदय ही सम्वत्सरचक्र है, जिस हृदयभूत सूत्र के गर्भ में ही अग्नि, और सोम की प्रतिष्ठा सुरक्षित है। ऋजुभाव तो आत्मा का धर्म है, विश्वधर्म नहीं। जगत् तो अग्नीषोमात्मक ही है, अन्न-अन्नादात्मक ही है, भोक्तृ-भोग्यात्मक ही है, जिस हृदयभूत अग्नीषोमात्मक परिजगत् का स्वरूपसंरक्षण कुटिलगतिलक्षण सम्वत्सररूप सम्वत्सर पर ही अवलम्बित है। महत्सौभाग्य से भारत अग्नि से अनुप्राणित भारत राष्ट्र का अग्नि आज जग पड़ा है। सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र है आज इस राष्ट्र का अग्नि। इसके स्वरूप-संरक्षण के लिए, दूसरे शब्दों में इस प्राप्त-स्वतन्त्रता के संरक्षण के लिए इस राष्ट्र को अपनी मूलसंस्कृति वेदशास्त्र के 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' लक्षणा उस सम्वत्सरपद्धति को ही उपास्य बनाना चाहिए, जो अपने सम्वत्सर-वक्र-कुटिल-भावापन्न निःश्वास से सर्वेश्वर ही बना हुआ है। इसी सर्वेश्वर का स्मरण करते हुए इस मांगलिक संस्मरण के साथ आज का प्रारम्भिक उपक्रम महामहिम राष्ट्रपति महाभाग के प्रति राष्ट्राभ्युदयकामना से ससम्मान समर्पित है—

अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते—
अग्निर्जागार-तमु सामानि यन्ति।
अग्निर्जागार-तमयं सोम आह—
तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥
ओमित्येतत्

उपरता चेयं सम्वत्सरमूला अग्नीषोमविद्या
प्रथमवक्तव्यात्मिका

१

श्रीः

'सम्वत्सरमूला-अग्नीषोमविद्या'

नामक

प्रथम वक्तव्य-उपरत

१

श्री

पञ्चपुण्डीरा-प्राजापत्यब्रह्मशानुगता

'पञ्चपर्वात्मिका-विश्वविद्या'

नामक

द्वितीय वक्तव्य

२

ता० १५-१२-५६

समय ६॥ से ८ पर्य्यन्त (सायम्)

श्रीः

'सम्वत्सरमूला-अग्नीषोमविद्या'

नामक

प्रथम वक्तव्य–उपरत

१

—•—

श्री :

पञ्चपुण्डीरा–प्राजापत्यवल्शानुगता
पञ्चपर्वात्मिका–विश्वविद्या
(द्वितीय वक्तव्य)

वैदिक विज्ञान के सृष्टिक्रम से सम्बन्ध रखने वाले–'अग्नीषोमात्मक जगत्' सिद्धान्त से सम्बन्ध रखने वाले कुछ एक तात्त्विक विषयों का कल के प्रथम वक्तव्य में स्पष्टीकरण किया गया। मौलिक तत्त्वात्मक वेद का स्वरूप बतलाते हुए कल यह निवेदन किया था कि, पिण्ड, महि, मण्डल–रूप–ऋक्–यजु–साम–तत्त्वों का क्रमशः प्राणरूप अग्नि–वायु–आदित्य–इन तीन प्राणाग्नियों से सम्बन्ध है, जो कि यह प्राणाग्नित्रयी–'ब्रह्म' नामक 'अथर्वसोम' से समन्वित होकर अपने अग्नीषोमात्मक मौलिक प्राणस्वरूप से विश्व की मूलाधिष्ठात्री बनी हुई है। विश्वमूलाधिष्ठात्री इस अग्निसोमत्रयी के सम्वत्सरमण्डलानुगत द्वितीयावताररूप वैश्वानराग्नि–अन्नसोमात्मक द्वितीय युग्म से अनुप्राणित वसन्त–ग्रीष्म–वर्षा–शरत् हेमन्त–शिशिर–इस षड्विध ऋतुरूप तीसरे अग्नि–सोम–युग्म का स्वरूप बतलाते हुए यह भी निवेदन किया गया था कि, षड्ऋतु–समष्टिरूप सम्वत्सरप्रजापति ही यह यज्ञप्रजापति है, जो अपने पञ्चतु भाव से पञ्चपर्वा बनता हुआ पञ्चपर्वा विश्वभावों का व्यवस्थापक बना हुआ है। पाङ्क्तयज्ञ से व्यवस्थित बने हुए पञ्चपर्वा विश्व का क्या स्वरूप है ?, दूसरे शब्दों में विश्व के पाँच पर्वों का क्या स्वरूप है ?, आज के इस द्वितीय वक्तव्य में इस प्रश्न के समाधान की ही चेष्टा की जायगी। विषय अत्यन्त दुरूह है। साथ ही अपने ऐकान्तिक विशुद्ध तत्त्ववाद के कारण मनो निबन्धन–उपलालनात्मक अनुरञ्जनभावों से सर्वथा असंस्पृष्ट रहता हुआ रूक्ष–रूक्ष–भी। अतएव आरम्भ में ही यह निवेदन कर देने की धृष्टता क्षम्य मानी जायगी कि–अत्यन्त अवधानपूर्वक ही विश्वपर्वात्मिका इस 'पुण्डीरविद्या' को लक्ष्य बनाने का अनुग्रह होगा।

पञ्चपर्वा विश्व से सम्बन्ध रखने वाली विश्वविद्या शब्द्समाख्या में 'पुण्डीरविद्या' कहलाई है, जिसका लौकिक अर्थ है 'विश्वपर्वविद्या'। विश्व एक है, उसके पुण्डीर, अर्थात् पर्व पाँच हैं। अतएव यह विद्या–'पञ्चपुण्डीरा-प्राजापत्यवल्शा-

आगे चलकर देवेन्द्र सावित्राग्नि का ही स्वरूप-विश्लेषण आरम्भ कर देते हैं। इसी रहस्यपूर्ण वृत्तघटना का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् श्रुति कह रहे हैं-

"भरद्वाजो ह वै त्रिभिरायुर्भिर्ब्रह्मचर्य्यमुवास। तं ह जीर्णिं, स्थविरं, शयानं-इन्द्र उपब्रज्य उवाच। भरद्वाज! यत्ते चतुर्थमायुर्दद्यां, किमेनेन कुर्य्या इति ?। ब्रह्मचर्य्यमेवैनेन चरेयमिति होवाच। तं ह त्रीन् गिरिरूपानविज्ञातानिव दर्शयाञ्चकार। तेषां हैकैकस्मात् मुष्टिमाददे। स होवाच-भरद्वाजेत्यामन्त्र्य-वेदा वा एते। अनन्ता वै वेदा। एतद्वा एतैस्त्रिभिरायुर्भिरन्ववोचथा। अथ त इतरदनूक्तमेव"

—तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१०।११।

"एहि! इमं विद्धि! अयं वै सर्वविद्या। तस्मै हैतमग्निं सावित्रमुवाच। एषा उ वा त्रयीविद्या। तं विदित्वा (भरद्वाजः) अमृतो भूत्वा स्वर्गं लोकमियाय-आदित्यस्य-सायुज्यम्"।

(तै० ब्रा०)

अनन्त वेद, और अनन्त परमेश्वर, दोनों अभिन्न हैं भारतीय संस्कृति में। इत्यंभूत अनन्त वेदशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाली सावित्राग्निमूला वैसी कुछ एक परिभाषायें ही आज के विश्वपर्वस्वरूपप्रसङ्ग से उपस्थित हो रहीं हैं, जिनके द्वारा आप अवश्य ही अनन्त सच्चिदानन्द ब्रह्म के साथ अनन्त वेद की अभिन्नता समन्वित कर सकेंगे। ब्रह्मस्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए कल यह कहा गया था कि, सोम उत्तर से दक्षिण की ओर, एवं अग्नि दक्षिण से उत्तर की ओर आ-जा रहे हैं। कौन से अग्नि-सोम-आ-जा रहे हैं ?, ऋताग्नि और ऋत सोम। क्या स्वरूप है ऋताग्नि, और ऋतसोम का ?, प्रश्न का समाधान उस मन्त्र से हुआ है, जिसका भारतीय द्विजातिवर्ग अहरहः अपने सन्ध्याकर्म में इस रूप से संस्मरण करता रहता है—

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥१॥

विद्या कहलाई है। वैदिक विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली सृष्टिविद्या, छन्दो-विधाविद्या, एवं सत्प्रतिष्ठात्मा य विद्या कैसी दुरूह है?, प्रश्न का सुप्रसिद्ध उस आख्यान से भलीभांति स्पष्टीकरण हो जाता है, जिसका महर्षि भारद्वाज महाराज, तथा देवेन्द्र की रहस्यपूर्ण संवादधारा से सम्बन्ध है। एक दिन सुनिये—

सुप्रसिद्ध वेदनिष्ठ महर्षि भरद्वाज ने अपनी वेदस्वाध्यायविषयिणी जिज्ञासा-पूर्ति के लिए आयुःप्राणप्रवर्तक और इन्द्रतत्त्व की आराधना की। देवेन्द्र ने प्रसन्न होकर इन्हें १०० वर्षों की आयु प्रदान की। वरप्राप्त आयु के इन तीन सौ वर्षों में अनन्यनिष्ठा से भरद्वाज वेदतत्त्वचिन्तन में प्रवृत्त रहे। कालपरिपाकानन्तर अन्त में भरद्वाज का शरीर सर्वथा जीर्ण-शीर्ण हो गया, वृद्धावस्था ने आक्रमण कर लिया। यों सर्वथा अशक्त बन भरद्वाज शय्याश्रयावगाही ही बन गए। अपनी इस दयनीय शयाना जीर्णावस्था में पड़े हुए भरद्वाज अन्तिम समय की प्रतीक्षा कर ही रहे थे कि सहसा एक दिन देवेन्द्र आ पहुँचे, और भरद्वाज से कहने लगे कि—भरद्वाज! यदि मैं तुम्हें १०० वर्ष की आयु और प्रदान कर दूँ, तो इस प्राप्त नवीन आयु का तुम किस कार्य्य में उपयोग करोगे?। वेदनिष्ठ भरद्वाज के के मुख से यही वाग्धारा विनिःसृत हुई कि, भगवन्! मैं उस नवीन आयु का भी वेदचिन्तन में ही उपयोग करूँगा। क्योंकि अभी मेरा वैदिक तत्त्वज्ञान अपूर्ण है। आत्मविभोर हो पड़े वेदाधिष्ठाता देवेन्द्र भरद्वाज की इस वेदनिष्ठा से। एवं सावित्राग्निमाध्यम से वेद के अनन्त स्वरूप के बोध कराने की कामना से देवेन्द्र ने भरद्वाज के सम्मुख वेद के पर्वताकार जैसे तीन विशाल स्तूप रक्खे, जो आज से पूर्व भरद्वाज के लिए सर्वथा अदृष्ट ही थे। उन तीनों वेदस्तूपपर्वतों से देवेन्द्र ने एक एक मुट्ठी भर वेद उठा लिया, और इन त्रिमुष्टि वेदों की ओर भरद्वाज का ध्यान आकर्षित करते हुए कहने लगे कि, 'ऋषे! देख रहे हो, मेरी मुट्ठी में क्या है?, ये हैं वेद'! अपनी आयु के गत तीन सौ वर्षों में तुमने ऋक्-साम-यजुः-रूप इन पुरोऽवस्थित तीन वेदपर्वतों में से अब तक मुट्ठी मुट्ठी भर ही वेद का संग्रह किया है। अभी तो यह अनन्तपर्वताकार अनन्ता वेदराशि तुम्हारे लिए अज्ञाता ही बनी हुई है'। अनन्त हैं वेद। कौन इसके आनन्त्य की थाह लगा सका है?। अतएव छोड़ दो यह आशा कि, यदि १ वर्ष और मिल जायँगे तो तुम अपनी वेदज्ञानजिज्ञासा उपशान्त कर लोगे। यदि उस आनन्त्य का तुम्हें बोध प्राप्त करना ही है, तो तुम्हें उस सावित्राग्नि की ही आराधना करनी चाहिए, जिसका स्वरूप मैं आज तुम्हारे सम्मुख रख रहा हूँ। यह कहते हुए

आगे चलकर देवेन्द्र सावित्राग्नि का ही स्वरूप-विश्लेषण आरम्भ कर देते हैं। इसी रहस्यपूर्ण तत्त्वघटना का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् तित्तिरि कह रहे हैं—

"भरद्वाजो ह वै त्रिभिरायुर्भिर्ब्रह्मचर्य्यमुवास। तं ह जीर्णिं, स्थविरं, शयान-इन्द्र उपव्रज्य उवाच। भरद्वाज! यत्ते चतुर्थमायुर्दद्यां, किमेनेन कुर्य्या इति? । ब्रह्मचर्य्यमेवैनेन चरेयमिति होवाच। तं ह त्रीन् गिरिरूपानविज्ञातानिव दर्शयाञ्चकार। तेषां हैकैकस्मात् मुष्टिमाददे। स होवाच-भरद्वाजेत्यामन्त्र्य-वेदा वा एते। अनन्ता वै वेदाः। एतद्वा एतैस्त्रिभिरायुर्भिरन्ववोचथाः। अथ त इतरदनूक्तमेव"

—तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१०।११।

"एहि! इमं विद्धि! अयं वै सर्वविद्या। तस्मै हैतमग्निं सावित्रमुवाच। एषा उ सा त्रयीविद्या। स विदित्वा (भरद्वाज) अमृतो भूत्वा स्वर्गं लोकमियाय-आदित्यस्य-सायुज्यम्"।

(तै० ब्रा०)

अनन्त वेद, और अनन्त परमेश्वर, दोनों अभिन्न हैं भारतीय संस्कृति में। इत्यम्भूत अनन्त वेदशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाली सावित्राग्निमूला वैसी कुछ एक परिभाषाएँ ही आज के विश्वपर्वस्वरूपप्रसङ्ग से उपस्थित हो रहीं हैं, जिनके द्वारा आप अवश्य ही अनन्त सच्चिदानन्द ब्रह्म के साथ अनन्त वेद की अभिन्नता समन्वित कर सकेंगे। पञ्चभूतस्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए कल यह कहा गया था कि, सोम उत्तर से दक्षिण की ओर, एवं अग्नि दक्षिण से उत्तर की ओर आ-जा रहे हैं। कौन से अग्नि-सोम-आ-जा रहे हैं?, ऋताग्नि और ऋत सोम। क्या स्वरूप है ऋताग्नि, और ऋतसोम का?, प्रश्न का समाधान उस मन्त्र से हुआ है, जिसका भारतीय द्विजातिवर्ग अहरहः अपने सन्ध्याकर्म में इस रूप से संस्मरण करता रहता है—

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥१॥

समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥२॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥३॥

—ऋक्संहिता १ ।।१९०।१,२,३ ।

सृष्टिविज्ञान का रहस्यपूर्ण विश्लेषण करने वाली ऋक्संहिता के सर्वान्त के दशम मण्डल में १९१ सूक्त हैं। जिनमें सर्वान्त का १९१ वाँ सूक्त तो-'सह नाववतु सह नौ भुनक्तु०' इत्यादिरूप से विज्ञान के आधार पर लोकशिक्षण का ही विश्लेषण कर रहा है । उक्त तीनों मन्त्रों की समष्टिरूप एक मन्त्रात्मक १९० वाँ सूक्त ही समस्त सृष्टिविज्ञान का संग्रहात्मक अन्तिम सूक्त है । ऋग्वेदीय सम्पूर्ण सृष्टिविज्ञान का सूत्ररूप से उपसंहार ही हुआ है इस सूक्त में । दूसरे शब्दों में *त्रिमन्त्रात्मक इस एक ही सन्ध्यामन्त्र में सम्पूर्ण सृष्टिविज्ञान सूत्ररूप से वेदमहर्षि* ने निबद्ध कर लिया है, सुरक्षित कर दिया है । इस मन्त्रमाध्यम से ऋषिप्रज्ञा की एतद्देशीय द्विजातिमानव से यही कामना है कि, भारतीय ज्ञानविज्ञानकोश का सन्देशवाहक द्विजाति अपने सायम्प्रातःसन्ध्याकाल में प्रतिदिन यह स्मरण करता रहे कि "उसे ईश्वरीय ज्ञानविज्ञानात्मक सृष्टितत्त्वों से राष्ट्रप्रजा का उद्बोधन कराते हुए निष्ठापूर्वक इसे कर्त्तव्यकर्मनिष्ठा में इसी तत्त्वज्ञान-विज्ञान के आधार पर आरूढ़ बनाए रखना है" । मन्त्र का अक्षरार्थ स्पष्ट है । "ऋषिप्राणतत्त्व की समष्टिरूप सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति के वाङ्मय श्रम से अनुप्राणित प्राणमय तपन से, तथा मनोमय स्पन्दन से अभीद्ध-प्रचण्डरूपेण प्रदीप्त-बने हुए तप से सर्वप्रथम ऋत-सत्य-रूप ब्रह्म सुब्रह्म तत्त्व ही प्रादुर्भूत हुए । त्रयीब्रह्म ब्रह्म कहलाया, यही सत्य बना । चतुर्थ अथर्वब्रह्म सुब्रह्म कहलाया यही ऋत बना। सत्य स्वयम्भू, एवं ऋत परमेष्ठी, ये दो ही प्रजापति के अभीद्ध तप से सर्वप्रथम अभिव्यक्त हुए । ऋत ने सत्य को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित कर लिया । अतएव आगे चल कर ऋत परमेष्ठी ही प्रधान बन गया । सत्य स्वयम्भू को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाले इस ऋत परमेष्ठी से ही आपोमयी वारुणी सृष्टि का विकास हुआ, जिसके आधार पर-'अम्भोवाद' प्रतिष्ठित है एवं इसी आधार पर-'सर्वमापोमयं जगत्' सिद्धान्त व्यवस्थित है । यही आपोमय ऋत तत्त्व आगे चल कर पार्थिव समुद्र के रूप से व्यक्त हुआ जिसे 'अर्णवसमुद्र' कहा गया है । स्वायम्भुव

सत्यसमुद्र यहाँ 'नभस्वान' कहलाया है, स्वय रात्रिरूप पारमेष्ठ्य समुद्र यही 'सरस्वान्' कहलाया है, यहाँ सौर–पार्थिव–सम्वत्सर की परिधि बनने वाला रोदसी त्रिलोकी का समुद्र ही अर्णव समुद्र कहलाया है जो कि आगे जाकर सम्वत्सर की वेला बनने वाला है। इसी अर्णव समुद्र से तद्गर्भीभूत प्राणरूप अङ्गिरा अग्नि के चयन से सीमात्मक एक अग्निमण्डल का विकास हुआ, जो सर्वत सरण करने के कारण 'सम्वत्सर' कहलाया। यहाँ आकर अर्णवरूपा रात्रि का अह रूप अग्नि, तथा रात्रिरूप सोम, इन दो भागों में विभाजन हुआ। पुञ्जीभूत यह अहरग्नि ही सूर्य्यरूप में परिणत हुआ। पुञ्जीभूत रात्रिसोम ही चन्द्ररूप में परिणत हुआ। यों मूल के सत्य, और ऋत तत्त्व ही परम्परया अन्त में सूर्य्य–चन्द्र–रूप से व्यक्त हुए। सौर-चान्द्र-भावापन्न इस साम्वत्सरिक सर्ग का ही अन्ततोगत्वा पृथिवी-अन्तरिक्ष द्यौ–एवं-स्वः–नामक चतुर्थ आपोलोक-रूप से इन चार लोकों में विकास हुआ। और विधाता विश्वकर्म्मा–प्रजापति का यह अथ से इति पर्य्यन्त का सृष्टिकर्म्म यों यथापूर्व उपक्लृप्त बना" इस प्रकार के अक्षरार्थ से सम्बन्ध रखने वाले मन्त्र के मन्त्रोपात्त 'ऋत', और 'सत्य', इन दो पारिभाषिक शब्दों को ही हमें यहाँ प्रधानरूप से लक्ष्य बनाना है।

यह प्रासङ्गिक संस्मरणीय है कि, पुराणशास्त्र वेदशास्त्र का ही उपबृंहण है। वेद में जिन सृष्टितत्त्वों का प्राणप्रधाना सुसूक्ष्मा परोक्षभाषा में सूत्ररूप से निर्देश हुआ है, पुराण में उन्हीं सृष्टितत्त्वों का भूतप्रधाना व्यावहारिकी प्रत्यक्षभाषा में भाष्यरूप से उपबृंहण हुआ है, जैसाकि-'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' इत्यादि आप्तसूक्ति से स्पष्ट है।

हमारी यह केवल श्रद्धा ही नहीं है, अपितु दृढ़ आस्था है कि, पुराण को मध्यस्थ बनाए बिना अन्यान्य प्रयत्न-सहस्रों से, केवल अपने बुद्धिवाद से कदापि वेदतत्त्व का समन्वय सम्भव नहीं है। इसीलिए तो गुरुवर ने पुराणशास्त्र को-'आर्य्यसर्वस्व' उपाधि से सुविभूषित किया है। परम्परया प्रचलित सृष्टिरहस्यात्मक चिरन्तन आख्यानोपाख्यानेतिवृत्त ही तो पुराण का पुराणत्व है, जो पुरातन बनते हुए भी सृष्टि की सनातनव्यवस्था बनते हुए चिरनूतन ही बने रहते हैं। यही तो 'पुरा–नव–भवति' मूलक 'पुराण' शब्द का तात्त्विक निर्वचन है। इन चिरपुरातन, एवं चिरनूतन चिरन्तन आख्यानों के आधार पर ही तो वेद–संहिताओं के व्यवस्थापक भगवान् व्यास ने संहिताग्रन्थसंकलन से पूर्व ही 'पुराणसंहिता' नाम की संहिता का संकलन किया था, जिसका आगे चल कर

भगवान् व्यास के द्वारा यथावत्-पुराण-रूप में उपवृंहण हुआ। इसी आधार पर कहा गया है कि—

> पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
> अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः॥
>
> —वायुपुराण

अव्यक्तसृष्टिप्रक्रमविश्लेषणात्मक पुराणशास्त्र की उपेक्षा, एवं आचार्यनिर्धारित अभिनव दर्शनशास्त्र का व्यामोहन, इन दो प्रमुख कारणों से ही वेदशास्त्र की ज्ञानविज्ञानधारा अवरुद्ध हुई है, जिसके पुनः प्रवाह के लिए सर्वप्रथम एकमात्र पुराणशास्त्र ही शरणीकरणीय है। सचमुच इस देश के लिए वह महान् ही दुर्भाग्यपूर्ण क्षण था, जिसमें कल्पित वेदभक्ति के माध्यम से इसी देश के एक वेदभक्त के ही द्वारा पुराणशास्त्र केवल कल्पनाशास्त्र उद्घोषित हो गया। [illegible]। [illegible]॥ अतः शरीरानुबन्धी तात्कालिक व्यामोहों के अनुग्राहक मात्र पुरातत्त्व के प्राचीन खण्डहरों के, शिलालेखों के, विविध प्राकृत लिपियों के, सभ्यतानुबन्धी-परिवर्तनशील शिल्प-कला-कौशलों के, तथा मनोविनोदात्मक सङ्गीत-नृत्य-वाद्यों की उत्ताल तरङ्गों के आधार पर राष्ट्रीय मौलिक संस्कृति के अन्वेषण के लिए आकुल-व्याकुल-बने रहने वाले वर्तमान युग के पुरातत्त्वविदों-शिल्पकलाविदों, तथा सङ्गीतज्ञों के इत्थंभूत आयोजन तात्कालिक भावुकता के संरक्षक बनते हुए सभ्यता के आयोजन तो फिर भी गम्भीर स्खलनरूप से माने, और उत्साह से मनवाए जा सकते हैं, माने-मनवाए जा रहे हैं। किन्तु इन मानसिक आयोजनों को-'सांस्कृतिक आयोजन' कहना तो राष्ट्र की संस्कृति का अपमान ही करना है। किंवा उसे अभिव्यापिनी विस्मृति के गर्भ में ही विलीन करना है। भारतीय संस्कृति के सूक्ष्मदर्शन तो उस मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र से ही सम्भव हैं, जिसके महिमामय पुराणशास्त्र तथा आगमशास्त्र में ही विकसित हुए हैं। अतएव लोकव्यवस्था तो पुराण ही हमारी संस्कृति के महिमागरिमामय प्रतीक माने जायेंगे। इसी राष्ट्र के यशस्वी राष्ट्रियनेता महामना स्वर्गीय श्रीमालवीयजी महाराज ने 'भ'शाप' लक्ष्य बनाया था इसी दृष्टिकोण को; जैसाकि उनके-स्थाने स्थाने कथा कार्यक्रम' उद्घोष से प्रमाणित हैं। किन्तु आगे चल कर राष्ट्र ने विस्मृत ही कर दिया अपने इस राष्ट्रीय महान् नेता की सांस्कृतिक दृष्टिकोण को। सचमुच तथा पुराणशास्त्र के अतिरिक्त भारतीय संस्कृति के लौकिक दर्शन

इमें अगर कहीं उपलब्ध होंगे, जिनमें आपातरतः अवेदवर लौकिक-पारलौकिक संस्कृति तत्त्वों के साथ साथ प्रधानतः से १-सर्ग, २-प्रतिसर्ग, ३-वंश, ४-वंशानुचरित, ५-मन्वन्तर, ६-गाथा, ७-कल्पशुद्धि, ८-डामर, ६-आर्मिक्ष १०-तन्त्र, ११-संहिता, १२-अनुविध आख्यान, १३-उपाख्यान, १४-नक्षत्रविद्यात्मक ज्योतिश्चक्र (खगोलविद्या), १५-भुवनकोश (भूगोल विद्या), १६-मरु-अनूप-जाङ्गल-कालभेदेन त्रिधा विभक्त दुर्गार्गलविद्या (उदकार्गलविद्या), १७-डामर, १८-यामल, इन प्रधान १८ प्रमुख तात्त्विक विषयों का विस्तार से उपबृंहण हुआ है, जैसाकि इस वचन से स्पष्ट है—

सर्गश्च-प्रतिसर्गश्च-वंशो-मन्वन्तरस्तथा ।
आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभि कल्पशुद्धिभि ।
पुराणसंहिताञ्चक्रे भगवान् बादरायण ॥

महान् दुर्भाग्य है यह इस सांस्कृतिक भारत राष्ट्र का, जिसने संस्कृते के अनन्य सन्देशवाहक सर्वधर्म्यविभूतिसंसाधक पुराणशास्त्र को 'कास्मालॉजी' अथवा 'माइथालाजी' के मिथ्या व्यामोहन में पड़ कर अपना सभी सांस्कृतिक वैभव विस्मृत कर लिया है। वेदशास्त्रवत् पुराणशास्त्र की भी अपनी कुछ एक मौलिक परिभाषायें हैं। जिन्हें न जानने के कारण सामान्य भावुक मानव पुराण को कैवल कल्पना मान बैठने की भ्रान्ति कर बैठते हैं। उदाहरण के लिए 'आयु' को ही लीजिए। 'अहर्वाविसंख्यानात्' इत्यादि जैमिनि सिद्धान्तानुसार मानव का एक 'अह' (दिन) पार्थिव परिभ्रमणात्मक सहस्रमान से 'वर्ष' माना गया है पुराण की परिभाषा में। इस परिभाषा के अनुसार पुराण के 'अमुक ऋषि ने ३६००० छत्तीस हजार वर्ष पर्यन्त तप किया' इस वाक्य का अर्थ होगा—'३६ दिन तप किया' यह, जिसका फलितार्थ होगा पूरे १० वर्ष, अर्थात् जीवन पर्यन्त तप किया, जो कि 'शतं जीवेम शरदः' इस वेदसिद्धान्त से सर्वात्मना समन्वित है। वेदशास्त्र में जो विषय हैं, वे ही पुराण में उसकी अपनी परिभाषा से निरूपित हैं। दोनों में अन्तर केवल यही रहा है कि, 'छन्दोभ्यस्ता' नाम की वेदभाषा से अपरिचित रहने के कारण वैदिक विषयों के अवगम में भी कुण्ठित आलोचकों को वेद की आलोचना का तो साहस न हो सका। किन्तु बोधगम्य लौकिक संस्कृत के अक्षरार्थमात्र को ही अपने पाण्डित्य की चरम सीमा मान बैठने वाले कल्पनिकों की दृष्टि में पुराणों के पारिभाषिक विषय आलोच्य बन

महाभाग व्यास के द्वारा समन्वय-पुराण-ग्रन्थ में उपवृंहण हुआ। इसी आधार पर कहा गया है कि—

> पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् ।
> अनन्तरञ्च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः ॥
>
> —वायुपुराण

भावधृष्टिरहस्यपरिरक्षणात्मक पुराणशास्त्र की उपेक्षा, एवं आचारनिष्ठात्मक अभिनव दर्शनशास्त्र का व्यामोहन, इन दो प्रमुख कारणों से ही वेदशास्त्र की ज्ञानविज्ञानधारा अवरुद्ध हुई है, जिसके पुनः प्रवाह के लिए सर्वप्रथम एकमात्र पुराणशास्त्र ही शरणीकरणीय है। अवश्य इस देश के लिए वह महान् ही दुर्भाग्यपूर्ण क्षण था, जिसमें कल्पित वैज्ञानिक के माध्यम से इसी देश के एक वेदभक्त के ही द्वारा पुराणशास्त्र केवल कल्पनाशास्त्र उद्घोषित हो गया। शममपापम्। शममपापम्॥ अतः शरीरानुबन्धी तात्कालिक व्यवस्थाओं के अनुरूपमात्र पुरातत्त्व के प्राचीन खण्डहरों के, शिलालेखों के, विविध प्राकृत लिपियों के, सम्प्रदायानुबन्धी-परिवर्तनशील शिल्प-कला-कौशलों के, तथा मनोविनोदात्मक संगीत-नृत्य-वाद्यों की उत्ताल तरङ्गों के आधार पर राष्ट्रीय मौलिक संस्कृति के अन्वेषण के लिए आकुल-व्याकुल-बने रहने वाले वर्तमान युग के पुरातत्त्वविदों-शिल्पकलाविदों, तथा सहयोगियों के द्वारा प्रभूत आयोजन तात्कालिक मान्यता के संरक्षक बनते हुए सभ्यता के आयोजन तो फिर भी गवेषणात्मक रूप से माने, और बलात्कार से मनवाए जा सकते हैं, माने-मनवाए जा रहे हैं। किन्तु इन मानसिक आयोजनों को-'सांस्कृतिक आयोजन' कहना तो राष्ट्र की संस्कृति का अपमान ही करना है। किंवा उसे अधिकाधिक विस्मृति के गर्भ में ही विलीन करना है। भारतीय संस्कृति के सूक्ष्मदर्शन तो उस मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र से ही सम्भव हैं, जिसके महिमामय पुराणशास्त्र तथा आगमशास्त्र में ही निरूपित हुए हैं। अतएव लोकव्यवस्था तो पुराण ही हमारी संस्कृति के महिमागरिमामय प्रतीक माने जायँगे। इसी राष्ट्र के यशस्वी राष्ट्रनेता महामना स्वर्गीय श्रीमालवीयजी महाराज ने स्पष्ट शब्द बनाया था इसी दृष्टिकोण को, जैसाकि उनके-स्थाने स्थाने कथा प्रवचन उद्घोष से प्रमाणित हैं। किन्तु आगे चल कर राष्ट्र ने विस्मृत ही कर दिया अपने इस राष्ट्रीय महामहिम नेता के सांस्कृतिक दृष्टिकोण को। फलस्वरूप तथा पुराणशास्त्र के अतिरिक्त भारतीय संस्कृति के मौलिक दर्शन

महाभाग सूत के द्वारा अष्टादश-पुराण-रूप से उद्धृत हुआ। इसी आधार पर कहा गया है कि—

> पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
> अनन्तरञ्च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः॥
>
> —वायुपुराण

सृष्टिस्थितिप्रलयविश्लेषणात्मक पुराणशास्त्र की उपेक्षा, एवं आचारनिष्ठाशून्य अभिनव दर्शनशास्त्र का व्यामोहन, इन दो प्रमुख कारणों से ही वेदशास्त्र की ज्ञानविज्ञानधारा अवरुद्ध हुई है, जिसके पुनः प्रवाह के लिए सर्वप्रथम एकमात्र पुराणशास्त्र ही शरणीकरणीय है। सचमुच इस देश के लिए वह महान् ही दुर्भाग्यपूर्ण क्षण था, जिसमें कल्पित वेदभक्ति के माध्यम से इसी देश के एक वेदभक्त के ही द्वारा पुराणशास्त्र केवल कल्पनाशास्त्र उद्घोषित हो पड़ा! अमङ्गलम्। अमङ्गलम्॥ मत्ता शरीरानुबन्धी तात्कालिक व्यसनों के अनुरूप मात्र पुरातत्त्व के प्राचीन खण्डहरों के, शिलालेखों के, विविध प्राकृत लिपियों के, सभ्यतानुबन्धी-परिवर्तनशील शिल्प-कला-कौशलों के, तथा मनोविनोदात्मक सङ्गीत-नृत्य-वाद्यों की उत्ताल तरङ्गों के आधार पर राष्ट्रीय मौलिक संस्कृति के अन्वेषण के लिए आकुल-व्याकुल-बने रहने वाले वर्तमान युग के पुरातत्त्ववित्-शिल्पकलाविदों, तथा सङ्गीतज्ञों के इत्थंभूत आयोजन तात्कालिक भावुकता के संरक्षक बनते हुए सभ्यता के आयोजन तो फिर भी गच्छतु स्वागतरूप से माने, और उत्साह से मनवाए जा सकते हैं, माने-मनवाए जा रहे हैं। किन्तु इन मानसिक आयोजनों को-'सांस्कृतिक आयोजन' कहना तो राष्ट्र की संस्कृति का अपमान ही करना है। किंवा उसे अधिकाधिक विस्मृति के गर्भ में ही विलीन करना है। भारतीय संस्कृति के स्वरूपदर्शन तो उस मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र से ही सम्भव है, जिसके महिमाभाव पुराणशास्त्र तथा आगमशास्त्र में ही विकसित हुए हैं। अतएव लोकदृष्ट्या तो पुराण ही हमारी संस्कृति के महिमागरिमामय प्रतीक माने जायेंगे। इसी राष्ट्र के यशस्वी राष्ट्रनेता महामना स्वर्गीय श्रीमालवीयजी महाराज ने अंगीकृत सम्मान बनाया था इसी दृष्टिकोण को, जैसाकि उनके-स्थाने स्थाने कथा सम्पर्क' व्यपदेश से प्रमाणित है। किन्तु आगे चल कर राष्ट्र ने विस्मृत ही कर दिया अपने इस राष्ट्रीय महान् नेता के सांस्कृतिक दृष्टिकोण को। सचमुच कैसा … अतिरिक्त भारतीय संस्कृति के लौकिक दर्शन

इन्हें अन्तर्भूत कहीं उदाहरण होंगे, जिनमें अवान्तर भेदेन लौकिक-पारलौकिक सांस्कृतिक तत्त्वों के साथ साथ प्रधानरूप से १-सर्ग, २-प्रतिसर्ग, ३-वंश, ४-वंशानुचरित, ५-मन्वन्तर, ६-गाथा, ७-कल्पशुद्धि, ८-डामर, ९-जांगिक १०-तन्त्र, ११-संहिता, १२-अष्टविध आख्यान, १३-उपाख्यान, १४-नक्षत्रविद्यात्मक ज्योतिश्चक्र (खगोलविद्या), १५-भुवनकोश (भूगोल विद्या), १६-मरु-अनूप-जाङ्गल-कायडभेदेन त्रिधा विभक्ता दुर्गागोलविद्या (उर्ध्वगोलविद्या), १७-डामर, १८-यामल, इन प्रधान १८ प्रमुख तात्त्विक विषयों का विस्तार से उपबृंहण हुआ है, जैसाकि इस वचन से स्पष्ट है—

सर्गश्च-प्रतिसर्गश्च-वंशो-मन्वन्तरस्तथा ।
आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः ।
पुराणसंहिताञ्चक्रे भगवान् बादरायणः ॥

महान् दुर्भाग्य है यह इस सांस्कृतिक भारत राष्ट्र का, जिसने संस्कृति के अनन्य सन्देशवाहक सर्वैश्वर्यविभूतिसंवर्धक पुराणशास्त्र को 'कास्मालॉजी' अथवा 'माइथालाजी' के मिथ्या व्यामोहन में पड़ कर अपना सभी सांस्कृतिक वैभव विस्मृत कर दिया है। वेदशास्त्रवत् पुराणशास्त्र की भी अपनी कुछ एक मौलिक परिभाषाएँ हैं। जिन्हें न जानने के कारण सामान्य भावुक मानव पुराण को केवल कल्पना मान बैठने की भ्रान्ति कर बैठते हैं। उदाहरण के लिए 'आयु' को ही लीजिए। 'अहर्गणविसंख्यानात्' इत्यादि जैमिनि सिद्धान्तानुसार मानव का एक 'अह' (दिन) पार्थिव परिभ्रमणात्मक सहजभाव से वर्ष माना गया है पुराण की परिभाषा में। इस परिभाषा के अनुसार पुराण के 'अमुक ऋषि ने ३६००० छत्तीस हजार वर्ष पर्य्यन्त तप किया' इस वाक्य का अर्थ होगा—'३६ दिन तप किया' यह, जिसका फलितार्थ होगा पूरे १ वर्ष, अर्थात् जीवन पर्य्यन्त तप किया, जो कि 'शतं जीवेम शरदः' इस वेदसिद्धान्त से सर्वात्मना समन्वित है। वेदशास्त्र में जो विषय हैं, वे ही पुराण में उसकी अपनी परिभाषा से निरूपित हैं। दोनों में अन्तर केवल यही रहा है कि, 'छन्दोऽभ्यस्ता' नाम की वेदभाषा से अपरिचित रहने के कारण वैदिक विषयों के अक्षरार्थ में भी कुण्ठित आलोचकों को वेद की आलोचना का तो साहस न हो सका। किन्तु बोधगम्य लौकिक संस्कृत के अक्षरार्थमात्र को ही अपने पाण्डित्य की चरम सीमा मान बैठने वाले कल्पनिकों की दृष्टि में पुराण के पारिभाषिक विषय आलोच्य बन

गए। निरुक्तज्ञ वेद भी आर्षिक परिभाषाओं के माध्यम से कालान्तर में पुराणशास्त्र का भी पारिभाषिक तत्त्व-तत्व यथार्थ बन जायगा। अलमतिविस्तरेण प्रासङ्गिक-पुराणशास्त्रप्रवचनेन।

प्रकृतिमनुसरामः। प्रकृत में अनुप्राणित पूर्वोक्त 'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसो-ऽध्यजायत' इत्यादि मन्त्र के ऋत, एवं सत्य, इन दो शब्दों का ही यहाँ प्रधानरूप से लक्ष्य बनाना है। क्या अर्थ है विज्ञानदृष्टि से इन शब्दों का? श्रुति समाधान करते हैं-'सहृदयं सशरीरं सत्यम्',-'अहृदयं-अशरीरं ऋतम्',-एवं 'अहृदयं सशरीरं ऋतसत्यम्'। हृदय, अर्थात् केन्द्र, शरीर-अर्थात् पिण्ड जहाँ ये दोनों भाव समन्वित रहते हैं, उसे कहा जाता है-'सत्य' पदार्थ। न जिन पदार्थों का कोई स्वतन्त्र केन्द्र होता, न अपना कोई स्वतन्त्र-पिण्ड, किंवा आकार होता, वे पदार्थ 'ऋत' कहलाए हैं। एवं जिन में केन्द्रभाव न होकर केवल पिण्डमात्र ही रहता है, वे पदार्थ 'ऋतसत्य' कहलाए हैं। इस प्रकार विश्व के पदार्थों को सत्य,-ऋत,-ऋतसत्य, इन तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। पाषाण-लोष्ट-सूर्य्य-चन्द्रमा-भूपिण्ड-नक्षत्रगोलक-आदि आदि पदार्थों का अपना एक स्वतन्त्र केन्द्र रहता है, एवं इनका अपना एक स्वतन्त्र पिण्डात्मक शरीर भी है। अतएव ऐसे सहृदय-सशरीरी यच्चयावत् पदार्थों को 'सत्यपदार्थ' कहा जायगा। प्राण-वायु-सोम-आपः-आदि आदि पदार्थों का न तो अपना कोई स्वतन्त्र केन्द्र होता, एवं न अपना कोई स्वतन्त्र आकारात्मक पिण्ड-शरीर होता। अपितु जैसे जैसे आधार-आयतन-प्रतिष्ठा-भावों से ये युक्त होते हैं, इनका वैसा वैसा ही आकार हो जाता है। 'यद्यत्स्वरूपमावृत्ते तेन तेन स युज्यते'। स्वतन्त्र केन्द्र के अभाव से ही इन अशरीरी ऋत पदार्थों के एक-देशग्रहण से तदनुगत अन्य शेष का ग्रहण नहीं होता। जब कि सहृदय सशरीरी सत्यपदार्थों के एकदेशग्रहण से पूर्ण पदार्थ ही गृहीत हो जाता है। कपूर-जल-पारद-गन्धक-अभ्रक-मेघ आदि पदार्थों का कोई स्वतन्त्र केन्द्र तो नहीं होता। किन्तु इनका आकारात्मक पिण्ड अवश्य होता है। केन्द्र के अभाव से ही ये खण्ड-खण्ड-रूप में विभक्त होते हुए इतस्ततः संचरिष्णु बन जाने की क्षमता रखते हैं। हृदय न रहने से ये ऋत हैं पिण्डभाव की अपेक्षा से ये सत्य हैं। अतएव ऐसे अहृदय, किन्तु सशरीरी मेघादि पदार्थों को 'ऋतसत्य' रूप उभय नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है। यहाँ ऋत, और सत्य केवल इन दो शब्दों को प्रधान मान कर ही हमें पर्वविद्या का उपक्रम करना है।

केन्द्रावच्छिन्न वस्तुपिण्ड ही 'सत्य' शब्द की वैज्ञानिक व्याख्या है। स्पष्ट है कि, केन्द्रावच्छिन्न इस वस्तुपिण्ड के एक प्रदेश-अवयव-अंश-भाग के ग्रहण से तदभिन्न सम्पूर्ण पिण्ड ही आकर्षित हो जाया करता है, जो आकर्षणविद्या 'गर्भविद्या' नाम से प्रसिद्ध है। एवं जिसका इस मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥
—यजुःसंहिता ३१।१९।

"प्रजापतिर्देवता प्रत्येक पदार्थ के गर्भ में, अर्थात् केन्द्र में प्रतिष्ठित रहते हैं। भीतर से भीतर रहते हैं। ये उत्पन्न नहीं होते, इसीलिए अजायमान हैं। किन्तु सबकुछ उत्पन्न इन्हीं से होता है। ऐसे प्रजापति के इस योनिभाव-केन्द्रभाव का साक्षात्कार धीर मनीषी वैज्ञानिक ही कर सकते हैं, जिस केन्द्रात्मिका योनि के आधार पर ही तत्तद्वस्तु के साथ, किंवा पाँच भुवन प्रतिष्ठित रहते हैं"—यह है मन्त्र का अक्षरार्थ। वस्तुपिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहने वाली हृ-द-य-रूपा आगति-गति-स्थिति-लक्षणा-इच्छाशक्ति का ही नाम 'प्रजापति' है जिसके सम्बन्ध में 'हृदि-अयं हृदयम्' प्रसिद्ध है। हृदय में हृदय रहता है। अर्थात केन्द्र में गति-आगति-स्थिति-रूप, वस्तुतः गत्यात्मक ही प्राणलक्षण हृ-द-य-रूप-प्रजापतितत्त्व प्रतिष्ठित रहता है। जिस हृदय में यह हृ-द-य-रूप रहता है, उस हृदय का क्या स्वरूप ?, इस प्रश्न का ऋषि ने उत्तर दिया-'अन्तः'। हृदय कोई भौतिक पदार्थ नहीं है, जिसका कोई स्वरूपलक्षण कर दिया जाय, किंवा हाथ से पकड़ कर बता दिया जाय। सुसूक्ष्म बिन्दु के माध्यम से सूक्ष्मातिसूक्ष्म बिन्दु में भी केन्द्र है। अतएव किसी भी सूक्ष्म से सूक्ष्म बिन्दु से भी हृदय का स्वरूपाभिनय सम्भव नहीं है। अतएव केवल प्राणात्मिका इस हृदयबिन्दु का यदि अभिनय हो सकता है किसी शब्द से, तो वह 'अन्तः' शब्द ही है। मूर्त भूत के आधार पर अमूर्त प्राणरूप केन्द्र का स्वरूपलक्षण कर देना सर्वथा असम्भव है। 'अन्तः', अर्थात् भीतर से भीतर, वहाँ तक भी, जिस सुसूक्ष्म भाव तक आपकी कल्पना अनुधावन कर सकती है, वही हृदय शब्द की तटस्थ परिभाषा मानी जायगी।

भौतिक पिण्ड बदलते रहते हैं। यह परिवर्तन ही उत्पत्तिभाव है, सृष्टिभाव है। प्राणरूप अमूर्त-अभौतिक हृदय कभी नहीं बदलता। अतएव इसके लिए

गए। निष्पादन वेद की तात्विक परिभाषाओं के माध्यम से कालान्तर में पुराणशास्त्र का भी पारिभाषिक समन्वय गतार्थ बन जायगा। अलमतिप्रसङ्गितेन प्रासङ्गिक-पुराणशास्त्रप्रसङ्गेन।

सृष्टिविद्या में अनुप्राणित पूर्वोपात्त 'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसो-ऽध्यजायत' इत्यादि मन्त्र के ऋत, एवं सत्य, इन दो शब्दों को ही यहाँ प्रधानरूप से लक्ष्य बनाना है। क्या अर्थ है विज्ञानदृष्टि से इन शब्दों का ? । श्रुति समाधान करते हैं-'सहृदयं सशरीरं सत्यम्',-'अहृदयं-अशरीरं ऋतम्',-एवं 'अहृदयं सशरीरं ऋतसत्यम्'। हृदय, अर्थात् केन्द्र, शरीर-अर्थात् पिण्ड, जहाँ ये दोनों भाव समन्वित रहते हैं, उसे कहा जाता है-'सत्य' पदार्थ। न जिन पदार्थों का कोई स्वतन्त्र केन्द्र होता न अपना कोई स्वतन्त्र-पिण्ड, किंवा आकार होता वे पदार्थ 'ऋत' कहलाए हैं। एवं जिन में केन्द्रभाव न होकर केवल पिण्डभाव ही रहता है, वे पदार्थ 'ऋतसत्य' कहलाए हैं। इस प्रकार विश्व के पदार्थों को सत्य,-ऋत,-ऋतसत्य, इन तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। पाषाण-लोष्ट-सूर्य-चन्द्रमा-भूपिण्ड-नक्षत्रतारक-आदि आदि पदार्थों का अपना एक स्वतन्त्र केन्द्र रहता है, एवं इनका अपना एक स्वतन्त्र पिण्डात्मक शरीर भी है। अतएव ऐसे सहृदय-सशरीरी यच्चयावत् पदार्थों को 'सत्यपदार्थ' कहा जायगा। वायु-वायु-सोम-आप -आदि आदि पदार्थों का न तो अपना कोई स्वतन्त्र केन्द्र होता, एवं न अपना कोई स्वतन्त्र आकारात्मक पिण्ड-शरीर होता। अपितु जैसे जैसे आधार-आयतन-प्रतिष्ठा-मार्गों से ये युक्त होते हैं, इनका वैसा वैसा ही आकार हो जाता है। 'यथायथस्वरूपमावृत्ते तेन तेन स युज्यते'। स्वतन्त्र केन्द्र के अभाव से ही इन अशरीरी ऋत पदार्थों के एक-देशग्रहण से तदनुगत अन्य शेष का ग्रहण नहीं होता। जब कि सहृदय सशरीरी सत्यपदार्थों के एकदेशग्रहण से पूरा पदार्थ ही गृहीत हो जाता है। कपूर-रास-पारद-गन्धक-अभ्रक-मेघ आदि पदार्थों का कोई स्वतन्त्र केन्द्र तो नहीं होता। किन्तु इनका आकारात्मक पिण्ड अवश्य होता है। केन्द्र के अभाव से ही ये खण्ड-खण्ड-रूप में विभक्त होते हुए इतस्ततः संचरिष्णु बन जाने की क्षमता रखते हैं। हृदय न रहने से ये ऋत हैं पिण्डभाव की अपेक्षा से ये सत्य हैं। अतएव ऐसे अहृदय किन्तु सशरीरी मेघादि पदार्थों को 'ऋतसत्य' रूप उभय नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है। यहाँ ऋत, और सत्य केवल इन दो शब्दों को प्रधान मान कर ही हमें पर्वविद्या का उपक्रम करना है।

विविध रससीमित्रणात्मक कटाहस्थ सलिल में जो तत्त्व हैं, उसकी प्रत्येक बिन्दु में भी अवश्य ही वे सब रस विद्यमान हैं। तथैव उस महान्–पूर्ण से समुद्भूत अणु से अणु पदार्थ में भी वे सब तत्त्व विद्यमान हैं जो उस महान् में हैं। इसी आधार पर 'एकेन विज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। 'यदेवेह तदमुत्र, यदमुत्र–तदन्विह' ही यहाँ की ऋषिदृष्टि है, जिसका यथावत् समन्वय करने में असमर्थ भावुकों ने ही शून्यवाद की भ्रान्त कल्पना कर डाली है। मन्त्रव्याख्या के द्वारा निवेदन यहाँ यही करना है कि, वस्तुपिण्ड के केन्द्र में अवस्थित हृत्स्थितिरूप प्राणतत्त्व ही 'सत्य' शब्द की स्वरूपव्याख्या है।

तो क्या स्वयं वस्तुपिण्ड असत्य है ?। किंवा भूत–भौतिक प्रपञ्चरूप यह सम्पूर्ण विश्व मिथ्या है ?। नहीं, कदापि नहीं। नाम–रूप–कर्मात्मक यह भौतिक विश्व उस केन्द्रस्थ मूलसत्य से आसमन्तात् परिगृहीत रहता हुआ अवश्य ही सत्य है। मूलसत्य, किंवा हृदयसत्य यदि उसी सच्चिदानन्दब्रह्म का ज्ञानात्मक अमृतत्वरूप है तो पिण्डसत्य उसी ज्ञानब्रह्म का विज्ञानात्मक मर्त्यस्वरूप है। 'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन'[1] के अनुसार अमृतप्राण, मर्त्यपिण्ड दोनों की समन्वित अवस्था का ही नाम 'अहम्', अर्थात् ब्रह्म है, जिसका–'अहं ब्रह्मास्मि' इस वेदान्त वाक्य से उद्घोष हुआ है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह श्रुति जहाँ प्राणसत्यात्मक–हृदयरूप आत्मसत्य का प्रतिपादन कर रही है, वहाँ 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' यह श्रुति मूलसत्यात्मक–पिण्डरूप–विश्वसत्य का यशोगान कर रही है। नामरूपकर्मात्मक विश्वसत्य से ही, पिण्डसत्य से ही हृदयावच्छिन्न प्राणसत्य चारों ओर से छन्न है, सुगुप्त है जो कि केन्द्रात्मक प्राण सत्य अमृत कहलाया है। कल्पित शून्यवाद–मिथ्यावाद–क्षणिकवाद के संसर्गदोष से प्रभावित अभिनव वेदान्ती इस वैदिक दृष्टिकोण से पराङ्मुख बन जाने के कारण जहाँ ब्रह्म की सत्यविभूतिरूप विश्व को मिथ्या मान बैठने की भ्रान्ति कर बैठे हैं, वहाँ वेदमहर्षि क्या कह रहे हैं नामरूपकर्मात्मक इस विश्व के सम्बन्ध में ?, यह भी सुन लीजिए—

"तदेतत्–त्रय सदेकमयमात्मा। आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम्। तदमृत सत्येन छन्नम्। प्राणो वा अमृतम्। नामरूपे सत्यम्। ताभ्यामय प्राणश्छन्नः"।

—शतपथब्राह्मण १४।४।४।३।

कहा गया—'अतमानमात्र'। अर्थात् अनिर्वचनीय है यह हृदयभाव। किन्तु 'बहुधा विजायते'। विश्व, विश्वमुक्त सम्पूर्ण भूतभाव इस केन्द्रस्थ हृदयशक्ति के आधार पर ही परिणत तत्त्व उपविभावों से समन्वित है। हृदयशक्ति ही इन भौतिक पदों की मर्यादा बनती है। कैसे पकड़ें इस केन्द्रशक्ति को ?, ऋषि उत्तर देते हैं—'तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः'। धीर प्रज्ञाशील अपने प्रज्ञा के मापदण्ड से ही इस केन्द्र का दर्शन कर लिया करते हैं। तात्पर्य्य भूतवत् हृदय का ग्रहण सम्भव नहीं है। अपितु विज्ञानबुद्धि के द्वारा ही यह शक्ति परिलक्षित बनती है। क्या कोई स्थूल मापदण्ड नहीं है इस 'हृदय' को पहिचानने का ! । है। उसी का स्पष्टीकरण करते हुए मन्त्र में ऋषि कहते हैं—'तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा'। वस्तुमात्र के समतुलन-माध्यम से सर्वभार-मूलाभूत हृदय का अवश्य ही परिज्ञात हो जाता है। क्योंकि प्रत्येक वस्तुपिण्ड का भार स्वकेन्द्रबिन्दु से ही समतुलित रहता है। एक छड़ी अपनी अङ्गुलि पर रखिए। जहाँ केन्द्रबिन्दु का आपकी अङ्गुलि से सम्बन्ध हो जायगा छड़ी का दोनों ओर का भार समतुलित हो जायगा, छड़ी का कम्पन उपशान्त हो जायगा, स्थिर हो जायगी छड़ी। क्योंकि छड़ी के, किंवा प्रत्येक भूतपिण्ड के सातों-किंवा पाँचों लोक केन्द्र के आधार पर ही प्रतिष्ठित हैं। महाविश्व में जो सप्तभुवन, तथा पञ्चभुवन की व्यवस्था है विश्व के अवयवरूप प्रत्येक भूतपिण्ड में भी वही भुवनव्यवस्था है। यथाण्डे, तथा पिण्डे। जैसा वहाँ है, वैसा ही यहाँ है। वह पूर्ण है, यह भी पूर्ण है। ध्यान दीजिए इस मन्त्र पर—

पूर्णमदः—पूर्णमिदं, पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

—ईशोपनिषत्

वह पूर्ण था, किंवा पूर्ण है। इसलिए यह भी पूर्ण है। उस पूर्ण से ही इस पूर्ण का उदञ्चन हुआ है प्रवर्ग्यरूप से स्वात्मनिर्माण हुआ है, अतएव यह भी उस पूर्णवत् अवश्य ही पूर्ण है। क्योंकि कार्य्यवस्तु में कारणवस्तु के ही तो गुण-धर्म्म-अभिव्यक्त होते हैं। 'पूर्णस्य पूर्णमादाय०'-अर्थात् इस पूर्ण के पूर्ण को आपने यदि यथावत् जान लिया, पहिचान लिया, तो-'पूर्णमेवावशिष्यते'। अर्थात् आपकी सम्मुख पूर्ण का स्वरूप सर्वात्मना उपस्थित हो गया। कैसी प्रभावक शैलीमय-भाषा में ऋषि ने इस पूर्णविभूति का दिग्दर्शन कराया है।

सत्याग्निसोमरूप प्रथम युग्म को ही इस पञ्चपर्वा विश्वविद्या में हमें प्रधान लक्ष्य मानना है, जिसका-'सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इस मूलसूत्र से सम्बन्ध है। स्हृदय सशरीरी सूर्य्य सत्याग्नि है, एवं ऐसा ही चन्द्रमा सत्यसोम है, जिसके लिए-'एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमा' इत्यादि कहा गया है। सत्यसोम सायतनसोम है, ऋतसोम निरायतनसोम है। सत्याग्नि सायतनाग्नि है, ऋताग्नि निरायतनाग्नि है। ज्योतिश्चक्रात्मक खगोल में प्रतिष्ठित सूर्य्य इस परिभाषा के अनुसार सत्याग्नि है, चन्द्रमा सत्यसोम है। सृष्टि होती है ऋताग्निसोम से। किन्तु सृष्टि की मूलप्रतिष्ठा बनते हैं सत्याग्निसोम। कैसे, किस प्रक्रिया से सत्याग्निसोम ऋताग्नि सोमरूप में परिणत हो जाते हैं ?, इस प्रश्न का समाधान विश्वपिण्डों की उस परिभ्रमण-स्थिति से ही सम्बद्ध है, जिसे यज्ञपरिभाषा में 'दर्शपूर्णमास' प्रक्रिया कहा जाता है। इस प्रक्रिया के समन्वय के लिए सूर्य्य, और चन्द्रमा, इन दो ग्रहों को ही लक्ष्य बनाए।

सकेन्द्र-सशरीरी चन्द्रमा भूपिण्ड के चारों ओर अपने 'दक्ष' वृत्त के आधार पर उसी प्रकार परिक्रमा लगा रहा है जैसे कि सत्यभूपिण्ड 'क्रान्तिवृत्त' नामक कालात्मक सम्वत्सरचक्र के आधार पर सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। अवश्य ही मयासुरसम्प्रदाय के शिष्य वर्गभी वराहमिहिर के अनुगामी वर्त्तमान भारतीय ज्यौतिषी पृथिवी को स्थिर, एवं सूर्य्य को चर मान रहे हैं, जब कि वर्त्तमान पाश्चात्य भूतविज्ञान पृथिवी को चल, एवं सूर्य्य को अचल कह रहा है। क्या हम इस पाश्चात्य भूतविज्ञान का अन्धानुकरण करते हुए वेद के नाम से भूपिण्ड को चल मानने की भ्रान्ति कर रहे हैं ?। नहीं। कदापि नहीं। स्वप्न में भी नहीं। इस सम्बन्ध में वैदिक सृष्टिविज्ञान की उन तीन स्वतन्त्र विज्ञान-धाराओं का दिग्दर्शन करा देना अनिवार्य्य हो जाता है, जिनके परिज्ञान के अभाव से आज अनेक प्रकार की भ्रान्तियों का सर्जन सम्भावित है।

शिर-हृदय-पाद-भेद से सृष्टिविद्या को ऋषियों ने तीन धाराओं में विभक्त किया है जो धाराएँ क्रमशः-'सृष्टिमूला स्थितिमूला दृष्टिमूला', नामों से भी व्यवहृत हुई हैं। सृष्टिलक्षणा शिरोमूला विद्या ही 'सहस्रशीर्षविद्या' है। स्थितिलक्षणा हृदयमूला विद्या ही 'सहस्राक्षविद्या' है। एवं दृष्टिलक्षणा पाद-मूला विद्या ही 'सहस्रपात्' विद्या है। इन तीनों सृष्टिधाराओं के मूलाधार पञ्चपर्वा महाविश्व के स्वयम्भू-सूर्य्य-भूपिण्ड-ये तीन सुप्रसिद्ध पर्व बन रहे हैं, जिनका आगे चल कर स्पष्टीकरण होने वाला है। भूपिण्ड को उपक्रम मान कर

नामरूपात्मक पिण्ड भी सत्य है, पिण्डकेन्द्रभाव भी सत्य है। यही केन्द्रतत्त्व क्योंकि पिण्डसत्य की प्रतिष्ठा बनता है। अतएव इसका एक साङ्केतिक नाम रख दिया है–'सत्यस्य सत्यम्'। जिस प्रकार सूर्य्य–चन्द्र–विद्युत्–अग्नि–नक्षत्र–आदि आदि भूतज्योतियों की आधारभूता ज्ञानज्योति 'ज्योतिषां ज्योतिः' कहलाई है, एवमेव नामरूपकर्म्मात्मक पिण्डसत्यों के आधारभूत ह्रन्मूल आत्मसत्य को अवश्य ही 'सत्यस्य सत्यम्' कहा जा सकता है। यदि सम्पूर्ण विश्वविकास उस ईश्वरप्रजापति का विकास है, तो अवश्य ही यह स्वयं इन विकासों का भी विकास है, जिस इस मूलविकास से ही सम्पूर्ण विश्व विकसित है।

अब क्रमप्राप्त 'ऋत' शब्द को लक्ष्य बनाइए। जिसका कोई न तो अपना शरीर, अर्थात् आधार हो, न स्वतन्त्र हृदय हो, वही ऋत कहलाता है। ऋततत्त्व सत्य की प्रतिष्ठा बना कर सत्यस्वरूप में परिणत हो जाता है। सत्य में जब ऋत की आहुति होती है, तो वह सत्य इस आहुत ऋत को भी सत्यरूप में परिणत कर देता है। बलात्मक विश्व का मौलिक स्वरूप यद्यपि ऋत ही है। किन्तु यह रसात्मक सत्य से परिगृहीत होकर सत्यस्वरूप में परिणत हो रहा है। रहस्यपूर्ण, अतएव दुरधिगम्या है यह ऋत–सत्य–परिभाषा, जो एक स्वतन्त्र विश्लेषण का ही विषय है। वैदिक तत्त्ववाद के सर्वस्व बने हुए इस ऋतसत्य का ही ऋषि ने पूर्वोपात्त– ऋतञ्च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत' इत्यादि मन्त्र से यशोगान किया है। पुराण ने क्या कहा है इस सम्बन्ध में ? । पुराणशास्त्र को वेदशास्त्र से पृथक् करने जैसे महत्पाप के अनुगामी लक्ष्य बनाने का अनुग्रह करें इस पुराणवचन को—

> सत्यव्रत सत्यपरं त्रिसत्य सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
> सत्यस्य सत्यं ऋतसत्यनेत्र सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥
> —श्रीमद्भागवतपुराण

ऋत–सत्य–शब्दों की पूर्व निवेदित सहज परिभाषा के अनुसार विश्व को पाँच पर्वों में विभक्त कर देने वाले अग्नि, और सोम, इन सुप्रसिद्ध तत्त्वों के भी दो दो रूप हो जाते हैं। सत्याग्नि ऋतसोम एक युग्म है इन तत्त्वों का एवं ऋत–सोम, तथा ऋताग्नि, यह एक युग्म है इनका। इन दोनों युग्मों में से दूसरे ऋताग्निसोम युग्म से सम्बन्ध रखने वाले षड्ऋतुसमष्टिरूप साम्वत्सरिक 'अग्नीषोम' का यज्ञ के वक्तव्य में स्पष्टीकरण किया जा चुका है। आज

की दृष्टि से ऐसा मानना भी यथार्थ है। इसी दृष्टि से भूपिण्ड अचरा-धरित्री-धरिणी कहलाया है, जो स्थिरता के सूचक ही शब्द हैं। इसी दृष्टिविद्या के आधार पर स्वयं वेद ने भी विस्पष्ट शब्दों में कहा है कि, 'सुनहरी रथ पर बैठ कर भगवान् सूर्य्य सम्पूर्ण त्रैलोक्य को देखते हुए आ रहे हैं, अर्थात् गतिमान् बन रहे हैं'। सूर्य्य के उदयास्तभाव इसी प्रथमानुरूप पर निर्भर हैं, जैसाकि श्रुति ने कहा है—

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च ।
हिरण्ययेन सविता रथेनादेवो याति भुवनानि पश्यन् ॥
—यजु संहिता ३३ ४३।

अब 'स्थिति' रूप दूसरे भाव से सत्यविद्या का समन्वय कीजिए। इस दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार भूपिण्ड चल है एवं सूर्य्य स्थिर है। क्योंकि भूपिण्ड जब सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगाता है तभी दर्शपूर्णमासयज्ञ सम्पन्न होता है, एवं तभी विश्व की स्थिति सुरक्षित रहती है। जो वेद 'दृष्टि' भाव से सूर्य्य को 'भुवनानि पश्यन्नायाति सविता' यह कह रहा है, वही वेद इस स्थिति' भाव से क्या कह रहा है ?, यह भी सुन लीजिए—

अथ तत ऊर्ध्वं उदेत्य-नैवोदेता नास्तमेता। एकल एव मध्ये स्थाता'। न वै तत्र न निम्लोचनोदियाय कदाचन। देवास्तेनाहं सत्येन मा विराधिषि ब्रह्मणा। न ह वा अस्मा उदेति, न निम्लोचति। सकृद्दिवा हैवास्मै भवति। (छां० उप० ३।११।१।)। सूर्य्यो बृहतीमध्यूढस्तपति। बृहद् वस्यौ भुवनेष्वन्त' इत्यादि।

'सूर्य्य का न उदय होता, न अस्तमन। अपितु यह तो विश्वमध्य में, एकाकी रूप से बृहतीछन्दो नामक-विष्वद्वृत्त के केन्द्र में प्रतिष्ठित है' यही अक्षरार्थ है उक्त वचनों का। इसी श्रौत भाव का अक्षरशः अनुवाद करते हुए पुराणशास्त्र ने क्या कहा है ?, यह भी जान लीजिए—

नैवास्तमनमर्कस्य नोदयः सर्वदा सतः ।
उदयास्तमनं चैवं दर्शनादर्शनं रवेः ॥
—वायुपुराण

भूपिण्डविद्या का निरूपण करना एक भाग है, सूर्य्य को उपक्रम बना कर सृष्टि का निरूपण करना एक भाग है, एवं स्वयम्भू को उपक्रम बना कर सृष्टितत्त्वों का निरूपण करना एक भाग है। विराड्रूप पञ्चपर्वा महाविश्व ही प्रजापति है। इस विराट्प्रजापति का 'स्वयम्भू' नामक प्रथम पर्व इसका मस्तक भाग है, विश्व-केन्द्रस्थ सूर्य्य इस का मध्यरूप हृदयभाग है, एवं विश्वावसानरूप भूपिण्ड इस का पादभाग है। अतएव स्वयम्भूमूला विद्या शिरोमूला कहलाई है, सूर्य्यमूला विद्या हृदयमूला कहलाई है, एवं पृथिवीमूला विद्या पादविद्या कहलाई है। तद्भाषा में भूपिण्ड विराट्प्रजापति के पैर हैं, सूर्य्य हृदय है, अर्थात् मध्यभाग है, एवं स्वयम्भू माथा है।

स्वयम्भू सृष्टि का उपक्रम है सृष्टिरूप से। क्योंकि सृष्टि का आरम्भ स्वयम्भू से ही हुआ है। अतएव इस स्वयम्भूमूला शिरोभावानुगता प्रथमा सृष्टिविद्या को 'सृष्टिमूला सृष्टिविद्या' ही कहा जायगा। सूर्य्य सृष्टि का मध्यप्रतिष्ठा स्थान है स्थितिरूप से। स्वयम्भू से समुत्पन्न पञ्चपर्वा विश्व की स्वरूपस्थिति हृदयस्थानीय इस सूर्य्य पर ही अवलम्बित है। जबतक सूर्य्य है, पुण्याहरूप संसार विद्यमान है। जिस दिन सूर्य्य अस्तंगत बन जायगा, विश्व की स्वरूपस्थिति ही उच्छिन्न हो जायगी। अतएव इस सूर्य्यमूला हृदयभावानुगता दूसरी सृष्टिविद्या को 'स्थितिमूला सृष्टिविद्या' ही कहा जायगा। स्वयम्भू से उत्पन्न पञ्चपर्वा विश्व की स्वरूपदृष्टि पादस्थानीय भूपिण्ड पर ही अवलम्बित है।

हमारी दृष्टि का प्रथमालम्बन भूपिण्ड ही बनता है। इसीलिए इस पृथिवी-मूला पादभावानुगता तीसरी सृष्टिविद्या को-'दृष्टिमूला सृष्टिविद्या' ही माना जायगा। और यों परस्पर सर्वथा विभक्त सृष्टि-स्थिति-दृष्टि-इन तीन अनुक्रमों से पृथक्-पृथक् रूप से ही तीन प्रकार से पञ्चपर्वा विश्वविद्या का निरूपण होगा। सृष्टि-अनुक्रम की दृष्टि से जहाँ स्वयम्भू का पहिला स्थान होगा वहाँ 'दृष्टि' अनुक्रम से भूपिण्ड का ही पहिला स्थान माना जायगा। तो अब इसे ही प्रथम दृष्टिकोण मानते हुए तीनों धाराओं का क्रमिक समन्वय कीजिए।

'दृष्टि' क्रम पहिले भाव से जब हम सृष्टिविद्या के स्वरूपान्वेषण में प्रवृत्त होते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है-मानो भूपिण्ड तो स्थिर है, एवं सूर्य्य चल रहा है। इसी आधार पर भारतीय ज्यौतिषशास्त्र ने सम्भवतः भूपिण्ड को स्थिर मान-लिया एवं सूर्य्य को चल मान लिया। केवल मान्यता ही नहीं है। अपितु 'दृष्टि'

यज्ञ ने इन्द्र को बल प्रदान किया। इसी यज्ञबल से बलवान् बने हुए सौर इन्द्र ने भूपिण्ड के ठोकर लगाई, और इस प्रत्याघात से भूपिण्ड उसी प्रकार घूम पड़ा, जैसे कि वर्त्तमान युग के क्रीड़ाकौशलमात्रासक्त खिलाड़ियों के पादाघात से फुटबाल उछल कर घूम पड़ती है। मन्त्रपठित मख-इन्द्र-ओपश-आदि शब्दों के तत्त्वार्थसमन्वय के लिए तो विज्ञानवादियों को वेद के तत्त्वचिन्तन की ही शरण में आना पड़ेगा।

अब उस तीसरे सृष्टिमूलक दृष्टिकोण की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है, जिसका तो वर्त्तमान विज्ञान ने स्वप्न में भी संस्मरण भी नहीं किया है। क्या सूर्य्य पर ही सृष्टिप्रक्रिया, किंवा विश्व का स्वरूप परिसमाप्त है ?। यही तीसरी दृष्टि है-सृष्टिमूला विश्वविद्या, जिसे हमनें शिरोभावानुगता स्वयम्भुविद्या कहा है। इस तीसरे वास्तविक दृष्टिकोण के अनुसार तो सूर्य्य भी स्थिर नहीं है। अपितु यह भी अपने से कहीं महतोमहीयान् उस महान् ग्रह के चारों ओर अपने 'अयनवृत्त' नामक परिभ्रमणवृत्त पर परिक्रममाण है, जो परिक्रमा २५० वर्षों में पूरी हुआ करती है। विष्वद्वृत्तीय पृथ्वीकेन्द्रात्मक ध्रुव जिस कदम्बवृत्त के आधार पर नाकस्थ पारमेष्ठय विष्णु के चारों ओर अयनपरिक्रमा लगाता रहता है, वह वस्तुगत्या क्रान्तिवृत्तीय पृथ्वीकेन्द्रभूत कदम्ब की सौर परिक्रमा ही है, जिस तत्त्वात्मक रहस्य के विश्लेषण का यहाँ अवसर नही है। सौरपरिभ्रमण-निबन्धन इसी ध्रुव परिभ्रमण का दिग्दर्शन कराते हुए श्रद्धेय गुरुवर ने कहा है—

नाकस्थविष्णो परितस्तु वेदद्गव्यासार्द्धे सञ्चरति ध्रुव ध्रुव।
ध्रुव तत्र क्वापि पुरा युगे स हि प्राङ् मेरुस्वस्तिकगोऽभिजित्यभूत॥

—इन्द्रविजय

क्या परिभ्रमणप्रक्रिया सूर्य्य पर समाप्त हो गई ?। जिस आपोमय-सरस्वान् समुद्ररूप-परमेष्ठी के चारों ओर अपने अयनवृत्त पर सूर्य्य घूम रहे हैं, वे परमेष्ठी भी 'आग्न' नामक अपने वृत्त पर प्राणमय-नभस्वान्-समुद्ररूप-परमाकाशलक्षण स्वयम्भू नामक सर्वपिता महान् महा ग्रह के चारों ओर घूम रहे हैं। और यहाँ आकर दर्शपूर्णमासात्मिका वह परिभ्रमणप्रक्रिया उपरत हुई है, जिसे हमनें विश्वस्वरूपसम्पादिका बतलाया है।

त्रिधारात्मक उक्त सृष्टिविज्ञान के आधार पर अब यह कहा जा सकता है कि, प्राणमय स्वयम्भू प्रजापति को केन्द्र मान कर तदतिरिक्त सभी विश्वावयव परिभ्रमण

आप कहेंगे—वेदमन्त्रों में जैसे-तैसे सूर्य्य का स्थिरत्व तो प्रमाणित करने की चेष्टा कर ली। किन्तु पृथिवी घूमती है ?, यह तो प्रमाणित नहीं हुआ ?। तो सुनिए इस सम्बन्ध में भी वेद क्या कह रहा है—

सोम पूषा च चेततुर्विश्वासां सुक्षितीनाम् ।
देवत्रा रथ्योर्हिता (सामसंहिता पू० ६।१।) ॥

मन्त्र का अक्षरार्थ यही है कि, चन्द्रमा अपने दक्षवृत्त के आधार पर घूम रहा है, एवं पृथिवी अपने क्रान्तिवृत्त पर घूम रही है, जो कि दक्ष-क्रान्ति-रूप रथ देवभावापन्न हैं, अर्थात् प्राणात्मक हैं। तात्पर्य्य यही है कि-कोई स्थूल भौतिक रथ नहीं है। अपितु ये तो मातरिश्व प्राणात्मक मण्डलात्मक रथ हैं। क्यों घूम रहे हैं ?— सम्पूर्ण प्रजाओं के योगक्षेम के लिए। पृथिवी-चन्द्रमा के परिभ्रमण से ही तो ऋतुओं का क्रम होता है ऋतुओं से ही तो कृष्यादि ओषधि-वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं। ये ही तो जीवन के साधन हैं। 'सोमो राजा चन्द्रमाः' एवं 'इयं वै पृथिवी पूषा' इत्यादि वचनों के अनुसार मन्त्रपठित सोम-पूषा-शब्द चन्द्रमा, और पृथिवी के ही वाचक हैं। वर्तमान भूतविज्ञान ने इस दूसरी दृष्टि के आधार पर ही सूर्य्य को स्थिर, और पृथिवी को चल माना है, जो प्रथमा दृष्टि से अद्यावधि भी अपरिचित ही है। भूतविज्ञान ने यह तो मान लिया कि सूर्य्य स्थिर है, और भूपिण्ड घूमता है। किन्तु वह आजतक यह समाधान नहीं कर सका कि, क्यों घूम रहे हैं चन्द्रमा और भूपिण्ड, जबकि ऋषि ने—'विश्वासां सुक्षितीनाम्' रूप से इस क्यों ? का भी समाधान कर दिया। अब इसी सम्बन्ध में एक प्रश्न और उपस्थित करते हैं हम अपनी ओर से भूतविज्ञानवादियों के सम्मुख। किसने घुमाया, कैसे घुमाया इस भूपिण्ड को सूर्य्य के चारों ओर ?। क्या कर सकेंगे वे इस प्रश्न का युक्तितर्कसम्मत समाधान ?। वर्तमान भूतविज्ञानवादियों की दृष्टि में केवल अचिन्त्य-आत्मचिन्तन के अनुगामी, एवं भूतविज्ञान के नामस्मरण से भी अपरिचित ये वेदभक्त भारतीय ऋषि क्या उत्तर देते हैं इस प्रश्न का ?, क्या जानना चाहेंगे हमारे भूतविज्ञानबन्धुगण इस सम्बन्ध में कुछ ?, तो सुनने का अनुग्रह करें हमारे ये अभिनव केवल भूतविज्ञानवादी बन्धु !

यश्च इन्द्रमवर्धयत्, यद् भूमिं व्यवर्त्तयत् ।
चक्राण ओपशं दिवि (ऋक्संहिता ८।१४।५)

सात विवर्त भी मान लिए गए हैं। भूपिण्ड भूः है, सूर्यपिण्ड स्व है। दोनों का मध्यस्थान-जहाँ चन्द्रमा प्रतिष्ठित है,-भुवः है। परमेष्ठी जनत् है। सूर्य और परमेष्ठी दोनों का मध्यस्थान मह है। स्वयम्भू सत्य' है। स्वयम्भू और परमेष्ठी का मध्य स्थान 'तप' है। इसप्रकार पाँच के सात विवर्त हो जाते हैं। सातों में भू-भुव-स्व-मह-जनत्-तप-ये ६ विवर्त तो गतिमान् बनते हुए रजोरूप 'लोक' कहलाए हैं, जैसाकि 'इमे वै लोका रजांसि' श्रुति से स्पष्ट है। सातवाँ सत्य स्वयम्भू अपने विशुद्ध गतिभाव से स्थितिरूप में परिणित रहते हुए गतिलक्षण रजोभाव-लोकभाव से अतीत बनते हुए परोरजा हैं लोकातीत हैं, अज हैं, ब्रह्म हैं, विश्व की मूलप्रतिष्ठा हैं, जिनमें भू-भुवरादि ६ रजोलोक अर्पित हो रहे हैं। इसी उपपर्वा विश्व का स्वरूप व्यक्त करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

अचिकित्वाश्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्।
वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्॥

—ऋक्संहिता १।१६४।६।

ऋषि कहते हैं- 'हम स्वयं इस रहस्यात्मक तत्त्व के विवेचन करने में असमर्थ हैं (अचिकित्वान् हैं)। जो इस विषय के जानकार (चिकित्वान्) क्रान्तिदर्शी तत्त्वद्रष्टा हैं उन्हीं से (नम्रतापूर्वक) हम इसलिए यह पूँछ रहे हैं कि, हमें स्वय इस विषय को जानना है, हम स्वयं इसे नहीं जान रहे। जिज्ञासा यही है कि, जिस किसी ने इन ६ रजो का अपनी शक्ति से स्तम्भन कर रक्खा है, वह ऐसा कौन सा एक तत्त्व है जो अज-अव्यय के रूप में प्रतिष्ठित है"। ध्यान रहे प्रस्तुत मन्त्र के द्रष्टा वे 'दीर्घतमा महर्षि हैं जिन्होंने अपने सुप्रसिद्ध 'अस्यवामीयसूक्त' के द्वारा जटिलतम-गुह्यतम-रहस्यपूर्ण सृष्टिविज्ञान का स्वरूप-विश्लेषण किया है। क्या ऐसे सर्वज्ञ दीर्घतमा महर्षि अचिकित्वान हैं!, क्या वे स्वयं विद्वान् नहीं हैं!। अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाइए महर्षि की इस उद्बोधन शैली को। केवल बुद्धिवादी कभी इस वैदिक सृष्टिरहस्य के अन्तस्तल में अवगाहन नहीं कर सकता जबतक कि व्यक्तिप्रतिष्ठाविमोहक-लोकैषणात्मक अपने बुद्धिदम्भ को विगलित कर आस्थाश्रद्धापूर्वक इस तत्त्वचिन्तन में वह प्रवृत्त नहीं हो जाता। अपने बुद्धिगर्व को, लोकानुगत-व्यक्तिप्रतिष्ठात्मक पदविमोहन को जो विगलित नहीं कर सकते स्वयं अपने आपको महान् बुद्धिमान्-विचारक-तार्किक-नीरक्षीरविवेकी-बनन के शक्तिमान से संयुक्त रखते हुए स्वय उपदेष्टा मानते

गोल है गतिमान् है। क्या स्वयम्भू गतिमान नहीं है ?, प्रश्न के उत्तर में कहा जायगा, कि स्वयम्भू गतिमान् नहीं-अपितु विशुद्ध 'गति' रूप है। विशुद्ध गति उस तत्त्व का नाम है, जो स्थिति से सर्वथा असंस्पृष्ट है। और विज्ञान सिद्धान्त के अनुसार जिस गति में से स्थिति मतागमना निकल जाती है वह विशुद्धा गति स्थितिरूप में परिणत हो जाती है जिसका कभी यथावसर दिग्दर्शन कराने की चेष्टा की जायगी। 'मनसो जवीय' अर्थात् विशुद्ध गतिरूप स्वयम्भू की यही अनवस्था, अविकम्पनत्व है, जिसे लक्ष्य बना कर श्रुति ने कहा है—

'अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥
तदेजति, तन्नैजति, तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्य बाह्यतः ॥'

स्थिति का यों समन्वय कीजिए कि, चन्द्रिकात्मक अपने महिमा मण्डल के साथ चन्द्रमा स्वदक्षवृत्त पर भूपिण्ड के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। समष्टि, चन्द्रमा को स्वरथन्तरसामात्मक महिमा-मण्डल के गर्भ में प्रतिष्ठित रखता हुआ समष्टि भूपिण्ड स्व क्रान्तिवृत्त पर सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। समष्टि चन्द्रमा तथा समष्टि भूपिण्ड को अपने बृहत्सामात्मक महिमामण्डल के गर्भ में अन्तर्भुक्त रखते हुये समष्टि सूर्यनारायण स्व अयनवृत्त पर परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगा रहे हैं। इन समष्टि चन्द्रमा-भूपिण्ड-सूर्य-तीनों को एक बुद्बुद के समान अपने 'सरस्वान्' नामक महिमामण्डल के गर्भ में विलीन रखते हुए समष्टि परमेष्ठी भगवान् स्व 'आन्द' वृत्त पर प्राणमूर्ति, अत एव विशुद्ध गतिमूर्ति, अतएव च विशुद्ध स्थितिमूर्ति स्वयम्भू के चारों ओर प्रशान्तभावेन परिभ्रममाण हैं। इसप्रकार विश्व के चन्द्रमोपलक्षित परज्योति पिण्ड, भूपिण्डोपलक्षित रूपज्योति-पिण्ड सूर्योपलक्षित स्वज्योतिः-पिण्ड, एवं परमेष्ठ्युपलक्षित ऋतपिण्ड सम्पूर्ण गतिमान पिण्ड स्थितिरूप ज्योतिषां ज्योतिर्घन सत्यस्य सत्यं मूर्ति, सत्यात्मक स्वयम्भू को आधार बना कर अपने अपने परिभ्रमणात्मक दर्शपूर्णमासयज्ञ से समन्वित रहते हुए स्वायम्भुव 'सर्वहुतयज्ञ' के अनुस्यूत बने हुए हैं। और यही है पञ्चपर्वा, दूसरे शब्दों में स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-भूपिण्ड-चन्द्रमा-रूप प्राजापत्यसंस्थात्मक विश्व की रूपरेखा का एक संक्षिप्त प्रदर्शन। किन इन पाँच पर्वों के ही सप्तव्याहृतिसंस्था गायत्री के सम्बन्ध से

प्रदेश से होता है, वहाँ ईश्वर का माप उस वितस्ति से-अर्थात् बिलात से होता है, जिसका परिमाण १२ अङ्गुल माना गया है। भूः-भुवः-स्वः-महः-जनः-तपः-सत्यम्-ये सात लोक ही ईश्वरप्रजापति की १२-१२- अङ्गुल की (स्वय विराट् पुरुष के अङ्गुलिपरिमाण से) सात वितस्तियाँ हैं। अतएव यह पुराणभाषा में 'सप्तवितस्तिकाय' कहलाया है, जिसका फलितार्थ ८४ अङ्गुल ही होता है। देखिए पुराण क्या कहता है इस सम्बन्ध में-

क्वाहं तमो महदहं खचराग्निवाभूःसंवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः ।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्यावाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम्
—भागवत १०। पू०। १४ अ०। ११ श्लो०

त्रिधारात्मिका शिर-हृदय पाद-भाव से समन्विता त्रिविधा सृष्टिविद्या से सम्बन्ध रखने वाले पञ्चपर्वा, किंवा सप्तपर्वा इसी विश्वविद्या को 'विराड्विद्या' भी भी कहा गया है, जिसका मूलाधार है यह यजुर्मन्त्र—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं सर्वतस्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥
—यजुःसंहिता ३१।१।

स्वयम्भू प्रजापति इस विश्वप्रवृत्ति के कारण ही 'विश्वकर्म्मा' कहलाए हैं, जिनकी यह पञ्चपर्वा विश्वविद्या 'त्रिधामविद्या' कहलाई है। स्वयम्भू-परमेष्ठी, इन दो पर्वों की समष्टि 'परमधाम' कहलाया है। स्वयं सूर्य्य 'मध्यमधाम' कहलाया है। एवं चन्द्रमा और भूपिण्ड इन दोनों का समुच्चय 'अवमधाम' कहलाया है। तीन धामों से, एवं पाँच पर्वों से समन्विता यह विश्वविद्या विश्वकर्म्मा स्वयम्भू प्रजापति की 'महिमाविद्या' भी मानी गई है। 'प्रकृतिर्विकृतिः कर्त्तव्या'—यद्दै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि' इस ईश्वरीय चिरन्तन इतिहास का अक्षरशः अनुगमन करने वाले सुसंस्कृत सत्यनिष्ठ भारतीयों नें इस प्राकृतिसिद्ध ईश्वरीय त्रिधाम के आधार पर ही अपने उपास्नातत्त्व के संरक्षण के लिए 'तीन धाम' माने हैं जिनका पुराणशास्त्र में विस्तार से विश्लेषण हुआ है। पौराणिक तीन धामों से सम्बन्ध रखने वाली पञ्चपर्वा विश्वविद्या का वेदशास्त्र में त्रिधामरूप से जो विश्ले-षण हुआ है, तत्सम्बन्ध में कतिपय मन्त्र ही उद्धृत कर दिए जाते हैं इन दोनों शास्त्रों के समन्वय-प्रसङ्ग से—

रहते हैं अपने आपको, इसी दम्भ के कारण जो जानकार विद्वानों से प्रणतभाव पूर्वक जिज्ञासा व्यक्त करने में अपनी प्रतिष्ठा की हानि समझते हैं, ऐसे आस्था भद्रशून्य ज्ञानलवदुर्विदग्ध मनुष्य बुद्धिमान् त्रिकाल में भी वैदिक तत्त्वरहस्य के श्रवण के भी अधिकारी नहीं हैं, जैसा कि–'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम' इत्यादि मन्त्रश्रुति से भी स्पष्ट है। इसी प्रासङ्गिक लोकरीतिवर्णन के लिए, वेदरहस्य-बोधोपाय का विश्लेषण करने की लोकमङ्गलभावना से ही दीक्षमना जैसे विदित-वेदितव्य महामहर्षि-'अधिविस्त्यान्-पिधाने-न विद्वान्०' कर रहे हैं।

जिसे लोकभाषा में 'नाम' कहते हैं, वही वेदभाषा में 'व्याहृति' कहलाया है। स्वायम्भुव स्वयम्भाव का नाम (इसके विशुद्धगति भाव के कारण) ऋषि है, जैसा कि इस के 'ऋषि' शब्द निर्वचन में–'प्राणा वा ऋषयः' इत्यादि रूप से बतलाया जा चुका है। ऋषिप्राणात्मक–सर्वहुतयज्ञमूर्ति स्वयम्भू ही विश्वप्रजा के पति हैं, अतएव इनके अनेक नामों में एक नाम है–'प्रजापति ऋषि'। इनके उक्त भूः–भुवः–स्वः–आदि खास विभक्त ही मानों खास नाम हैं। ये ही प्रजापति ऋषि की, अर्थात् स्वयम्भू ईश्वर की खास व्याहृतियाँ हैं, जिनका सुप्रसिद्ध गायत्रीविद्या से स्पष्टीकरण हुआ है। गायत्रीतत्त्व अष्टाक्षर कहलाया है। अक्षर नाम है प्राण का। प्राण का छन्दोदृष्टि से परिमाण है प्रादेश। प्रादेश की माप है १०॥ अङ्गुल। अतएव आठ गायत्राक्षरों से सम्पूर्ण गायत्रीछन्द चतुरशीति-अङ्गुलात्मक-अर्थात् चौरासी अङ्गुल का हो जाता है। यही मापदण्ड जीव का है, यही मापदण्ड ईश्वर का है। इसीप्रकार छान्दोग्य ने गायत्री की दृष्टि से भी विश्वपर्वविद्या का स्वरूपविश्लेषण किया है। प्रत्येक मानव प्राणी–जिसमें गायत्रीतत्त्व प्रधानरूप से मूलाधार बनता है–अपने अपने अङ्गुलिपरिमाण से ८४ अङ्गुलि का ही होना चाहिए। एक ६ मास का शिशु यदि अपने अङ्गुल से ८४ अङ्गुल का है, तो एक प्राप्त-वयस्क भी अपनी अङ्गुलि से इतना ही होगा। यदि कहीं अङ्गुलिपरिमाण में १ अथवा २ अङ्गुल का न्यूनाधिक तारतम्य है, तब तो-'न वै एकेनाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति न द्वाभ्याम्' के अनुसार छन्दःसीमा का अतिक्रमण नहीं माना जाता। यदि इससे न्यूनाधिक ५–७ अङ्गुलियों का अन्तर है तो यह प्रकृतिदोष ही माना जायगा। दाम्पत्यरूप मौलिक यज्ञ का दोष ही इस सीमातिक्रमण का कारण माना गया है जैसा कि अन्यत्र गायत्रीविद्या में स्पष्ट है। ठीक यही गायत्र परिमाण *उस व्याहृत्यात्मक विश्वप्रजापति का माना गया है।* अर्थात् मानवरूप मानव से अभिन्न ईश्वर भी अपनी अङ्गुलि के परिमाण से चौरासी ही अङ्गुल का है। दोनों की मापसीमा में थोड़ा विभेद है। मानव का माप जहाँ साढ़े दस अङ्गुल के

पर्ष्णोत् (शत० १३।७।२ ११) । स ऐक्षत प्रजापति –इम वाऽआत्मन प्रतिमामसृक्षि । ता वा एता प्रजापतेरधिदेवता असृज्यन्त-अग्नि (पृथिवी), सोम (चन्द्रमा), इन्द्र (सूर्य्य), परमेष्ठी प्राजापत्य' । (शत० ११।१।६।१३-१४) ।

अव्ययपुरुष, एव तदाधार पर प्रतिष्ठित स्व० पर सू –चन्द्र० भू०–ये पाँच पर्व, इन ६ भावों की समष्टि ही पुरुषात्मानुगता पञ्चपुण्डीरा प्राजापत्य–स्वात्मिका पञ्चपर्वा विश्वविद्या की संक्षिप्त रूपरेखा है । ठीक यही स्थिति मानव की अध्यात्मसंस्था में विघटित है । केवल नाममात्र में विभेद है । पुरुषाव्यय नाम दोनों संस्थाओं में समान है । केवल पाँचों विश्वसंस्था–नामों में भेद है । अधिदैवत के स्व –पर० सू –चन्द्र –भू –मानव में क्रमश' अव्यक्त–महान्–बुद्धि–मन-शरीर इन नामों से प्रसिद्ध हैं । लक्ष्य बनाइए इस उपनिषच्छ्रुति को, एव तदाधार पर समन्वय करने का अनुग्रह कीजिए इस पुरुषानुगता पञ्चपर्वा विश्वविद्या का—

इन्द्रियेभ्य' परा ह्यर्था , अर्थेभ्यश्च पर मन' ॥
मनस्तु परा बुद्धि–, बुद्धेरात्मा महान् पर ॥१॥
महत परमव्यक्त, अव्यक्तात् पुरुष पर ॥
पुरुषान्न पर किञ्चित, सा काष्ठा सा परा गति ॥२॥
—कठोपनिषत् १।३।१० ११, ।

यह है प्रतिशाय पञ्चपर्वा विश्व का स्वरूप, जिसका पन्द्रह भागों में विभक्त उस 'मनोता' तत्त्व के द्वारा विस्तार हुआ है, जिसका रहस्यपूर्ण विज्ञान एक स्वतन्त्र वक्तव्य का ही विषय माना जायगा । यहाँ केवल उस 'मनोता' तत्त्व की पञ्चदशधा विभूति के नाममात्र ही जान लेना 'अलम्' होगा । लोक में 'तीन–पाँच मत करो' यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है । मूल इस किंवदन्ती का यही प्रतीत होता है कि पाँच स्थानों में तीन तीन का विधान करना ही तीन–पाँच–करना है । और ऐसी अपूर्व क्रतु स्वशक्ति विश्वस्रष्टा प्रजापति में ही है । मानव के लिए तीन–पाँच करना असम्भव है । हाँ तो स्वयम्भू के तीन मनोता क्रमशः वेद–सूत्र–नियति, ये हैं । परमेष्ठी के मनोता भृगु–अङ्गिरा–अत्रि हैं । सूर्य्य के मनोता ज्योति–गौ –आयु हैं । चन्द्रमा के मनोता रत –श्रद्धा–यशः,

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता न ॥
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आ विवेश ॥१॥
विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ॥
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥२॥
या ते धामानि परमाणि, यावमा, या मध्यमा विश्वकर्म्मन्नुतेमा ।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः ॥३॥

—ऋक्संहिता १०। ८१ सूक्त ।

पञ्चपर्वा विश्व के सर्वाग्भूत सर्वरूप स्वयम्भू प्रजापति ही तत्त्वभाषा में 'ब्रह्म' कहलाए हैं दूसरे परमेष्ठी 'विष्णु', तीसरे सूर्य्य 'इन्द्र', चौथी पृथिवी अग्नि पाँचवें चन्द्रमा सोम, नाम से व्यवहृत हुए हैं । ये ही पाँच अक्षर हैं जिनसे प्राणादि क्षरपञ्चक के द्वारा भौतिक सर्ग प्रवृत्त हुआ है । यही पञ्चपर्वा विश्व का संक्षिप्त स्वरूप-निदर्शन है, जिसके अन्त में पृथिवी के अन्नभाग से उत्पन्न चन्द्रमा प्रतिष्ठित हैं, जो कि विश्वावसान-स्थान बनते हुए 'निधन' कहलाए हैं । पाँच क्षरों के आधारभूत पाँच अक्षरों से अनुप्राणित स्व पर आदि पाँचों पर्वों की आधारभूमि है वह पुरुष, जिसे अव्यय कहा जाता है । जिस अव्यय पुरुष का 'अश्वत्थ' रूप से वेद की सुप्रसिद्ध अश्वत्थविद्या में निरूपण हुआ है । जिस पञ्चपर्वा विश्व का दिग्दर्शन कराया गया है वह तो उस अव्ययाश्वत्थ-महत्स्य महावृक्ष की एक शाखामात्र है । ऐसी एसी सहस्र-सहस्र शाखाएँ प्रतिष्ठित हैं उस अव्ययाश्वत्थवृक्ष में । अनन्त है उस अश्वत्थब्रह्म का यह विश्व-विस्तार । सहस्र-सहस्र शाखाओं में से केवल एक शाखा की ही आज के वक्तव्य में उपासना हो रही है । जिस एक शाखा का पारिभाषिक नाम है-वल्शा-(टहनी) । अव्ययेश्वरप्रजापति की एक वल्शा-एक टहनी-के पाँच हैं पुण्डीर, अर्थात् पर्व । जिस प्रकार एक इक्षु (गन्ने-साँठे) में अनेक पर्व-पोर-होते हैं वैसे इस एक प्राजापत्या वल्शा में स्व प सू पृ च ये पाँच पुण्डीर हैं । अतएव यह-'पञ्चपुण्डीरा-प्राजापत्यवल्शा' कहलाई है, जिसका मूलाधार है स्वयं अव्यय-पुरुष । इन पाँचों पुण्डीरों का इन श्रुति-वचनों से भलीभाँति समन्वय किया जा सकता है—

ब्रह्म वै स्वयम्भू-तपोऽतप्यत । तत् सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हुत्वा, भूतानि चात्मनि, सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं

विशकलनप्रक्रिया का आरम्भ हुआ। रस से मल भाग पुनः पृथक् हुआ। यही मल भाग 'रस' मान लिया गया, एवं इस मलात्मक रस का रसभाग (२)–असृक्, अर्थात् रुधिर माना गया। पुन यही प्रक्रिया, असृक् से (३)–मांस–रूप की स्वरूपनिष्पत्ति, एव स्वय असृक् की मलसंज्ञा। पुन मांस में वही प्रक्रिया, मांस से (४)–मेद्–रूप रस की स्वरूपनिष्पत्ति, एव स्वय मांस की मलसंज्ञा। पुन मेद में यही प्रक्रिया, मेद से (५)–अस्थि–रूप रस की स्वरूपनिष्पत्ति, एवं स्वयं मेद की मलसंज्ञा। पुन अस्थि में वही प्रक्रिया, अस्थि से (६)–मज्जा–रूप रस की निष्पत्ति, एवं स्वयं अस्थि की मल संज्ञा। पुनः मज्जा में वही विशकलन, मज्जा से (७)–शुक्र–रूप रस की निष्पत्ति, एवं स्वय मज्जा की मल संज्ञा। इसप्रकार भुक्त अन्न से आरम्भ कर शुक्र पर्य्यन्त प्रक्रान्त रहने वाली रसमलानुगता विशकलनप्रक्रिया की क्रमधारा से–'रस असृक्–मांस–मेद अस्थि–मज्जा–शुक्र– इन सात धातुओं की स्वरूपनिष्पत्ति हुई, जिन सातों का पार्थिव घनतत्त्व से ही सम्बन्ध माना गया है।

क्या शुक्र में म न्थनप्रक्रियासहचारिणी विशकलनप्रक्रिया उपशान्त हो गई ?, नहीं। क्यों ?। इसलिए कि अभी तो भुक्त अन्न के पार्थिव ध्रुवरस–घनरस–का ही इन सात धातुओं में विशकलन हुआ है। अभी अन्न में आन्तरिक्ष्य तरलधातु, एवं दिव्य–चान्द्र विरलधातु–ये दो धातु और प्रतिष्ठित हैं। अन्न के स्वरूपनिर्म्माण में पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ –तीनों लोकों के घन–तरल–विरल–द्रव्य समाविष्ट हैं। पूर्वोक्त सातों धातु तो पार्थिव घनधातु ही हैं। अभी तो तरल, और विरल, इन दो धातुओं का विशकलन और होना है। पार्थिव अन्तिम शुक्र-धातु में पुन वही विशकलन–प्रक्रिया प्रक्रान्त बनी। इससे शुक्र में प्रतिष्ठित आन्तरिक्ष्य वायव्यप्राणरसात्मक धातु पृथक् हो गया, एव यही 'ओज' कहलाया। शुक्र ही इस आन्तरिक्ष्य ओजधातु का क्योंकि उपक्रमबिन्दु बनता है। अतएव शुक्र के संरक्षण पर ही ओज, ओजस्विता का संरक्षण सम्भव बना करता है। यही ओज वैदिक विज्ञानभाषा में 'ऊर्क्' कहलाया है जिसे पूर्व के यज्ञलक्षण में दूसरा स्थान मिला है। अन्न से आरम्भ कर शुक्र पर्य्यन्त सातों धातुओं की समष्टि पृथिव्यत्वेन 'अन्न' शब्द से ही गृहीत है। तदनन्तर आन्तरिक्ष्य 'ओज' नामक 'ऊर्क्' का स्थान आता है।

ऊर्क्रूप ओज 'रस माना गया है एवं तदपेक्षया शुक्र मल मान लिया गया है। इस रसात्मक ओजधातु में अभी दिव्य चान्द्ररस और समाविष्ट है। यही

ये तीन हैं। एवं भूपिण्ड के तीन मनोता याग्-गौः-द्यौः हैं। पाँच विश्वपर्वों के पाँचों पर्वों में प्रत्येक में तीन तीन रूप से विभक्त इन पन्द्रह मनोताओं के विज्ञानपूर्वक पाँचों विश्वपर्वों का स्वरूप ज्ञान होना ही पञ्चपर्वा विश्वविद्या की स्वरूपव्याख्या है। जो पञ्चधा विभक्त इस त्रि-त्रि-तत्त्वसमष्टि का ज्ञान लेता है, वेद के शब्दों में वही वेदवित् है, जैसाकि श्रुति ने कहा है—

> यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति।
> यस्तद्वेद, स वेद सर्वं सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति॥
>
> —छान्दोग्य-उपनिषत् २।२१।३।

सर्वहुतयज्ञमूर्ति विश्वप्रजापति के अन्न के पार्थिव-चान्द्र-लक्षण अग्नि सोम को अन्नमयी बना कर ही सम्यक्स्वरूप से यही प्रजापति मानव के आध्यात्मयज्ञ के प्रवर्त्तक बन रहे हैं। विश्वात्मयज्ञरूप अग्नि-सोमात्मक विश्वयज्ञ से मानव के आध्यात्मिक यज्ञ का स्वरूप कैसे सम्पन्न होता है ?, पूर्वोक्त तत्त्वचर्चा से अनुप्राणित इस आधारचर्चा का भी दो शब्दों में दिग्दर्शन करा दिया जाता है। मानवीय आध्यात्मिक यज्ञ का लक्षण माना गया है-'अन्नोर्क्प्राणानामन्योऽन्यपरिग्रहो यज्ञः'। जिसका अक्षरार्थ यही है कि-अन्न, ऊर्क्, प्राण, इन तीन तत्त्वों का एक दूसरे के साथ प्रक्रान्त बना रहने वाला जो उपकार्य्य-उपकारक-रूप अन्तर्य्याम-सम्बन्ध है वही आध्यात्मिक यज्ञ कहलाता है। समन्वय कीजिए उदाहरण के द्वारा इस यज्ञलक्षण का।

अमुक नियत समय पर अशनाया-लक्षणा बुभुक्षा-अर्थात् भूख लगी। इस भूख को उपशान्त करने के लिए हमनें अपने शारीरिक उस जठराग्निरूप वैश्वानर अग्नि में अन्न की आहुति दी जो अग्नि आलोमभ्यः-आनखाग्रेभ्य -अर्थात् केशलोमों को, तथा नख के अग्र भागों को छोड़ कर सर्वाङ्गशरीर में प्रवाहरूप से धगद्धगद्रूप से प्रज्वलित रहता हुआ दोधूयमान है। इस आहुतिकर्म्म के लिए व्यवहार यह हुआ कि—'हमनें रुचिपूर्वक अन्न खा लिया भोजन कर लिया'। अग्नि में आहुत इस अन्न ने अग्नि के सहयोग से विश्लेषणधर्म्म से अपने आपको प्रथम (१)-रस-रूप में परिणत कर लिया एवं विश्लेषण-प्रक्रिया से पृथक् बन जाने वाले मलात्मक प्रत्यर्यभाग को अग्नि ने पृथक् फैंक दिया। और भी भुक्त अन्न आरम्भ में 'रस-मल' इन दो भागों में विभक्त हो गया। पुन-

इस प्रशासीस भी मारत देश का कि, अपनी मौलिक चिरन्तन विज्ञानपरम्पराओं को विस्मृत कर बैठने वाला वही भारतीय मानव आज अन्न से सम्बन्ध रखने वाली खान-पान की मर्य्यादा के प्रति सर्वथा ही उच्छृ ङ्खल-असमञ्जसादित बन कर ही विश्राम नहीं ले रहा। अपितु-आपिप्रज्ञा के द्वारा निर्द्धारित विज्ञानसिद्ध भारतीय आचारसिद्ध अन्नव्यवस्थाओं के उपहास में भी यही आज सवाग्रणी बन रहा है। इस से अधिक आज के राष्ट्रीय मानव का और क्या पतन होगा ?।

प्रसङ्ग आध्यात्मिक यज्ञ के स्वरूपलक्षण का चल रहा है। पार्थिव सप्त धातुओं के विशकलनात्मक कौशल ने मानव को शारीरस्वस्थता प्रदान की, ओज ने ओजस्विता प्रदान की, एवं शिवसंकल्पात्मक मन ने मनस्विता प्रदान की। बलिष्ठ-ओजिष्ठ-एवं महिष्ठ इत्यभूत मानव का यह आध्यात्मिक यज्ञ अन्न-ऊर्क्-प्राणरूप-सात धातु-ओज-मन-इन तीनों के धारावाहिक चित्र चङ्क्रमण से से सुव्यवस्थित बना हुआ है, वही आध्यात्मिक यज्ञ की स्वरूपव्याख्या है, और यही इस यज्ञ का तात्त्विक समन्वय है।

अब दो शब्दों में लोकभाषा में भी इसका समन्वय कर लीजिए। भोजन-कर्म्म सम्पन्न हुआ। इससे भुक्त अन्न रसरूप में परिणत हो गया। अपनी इस रसाहुति से भुक्त अन्न ने हमारे उस शारीरिक प्राण को सशक्त बना दिया, जो प्राण अन्नग्रहण से पूर्व मूर्च्छितप्राय बना हुआ था। रसाहुति से मूर्च्छित प्राण मानो जग पड़ा, विकसित हो पड़ा, प्रज्वलित हो पड़ा, समिद्ध बन गया, जैसे कि घृत की आहुति से अग्नि समिद्ध हो पड़ता है। तात्पर्य्य-भुक्त अन्न ही रसरूप में परिणत होता हुआ कालान्तर में प्राणावस्था में आ गया। अन्नात्मक यह प्रज्वलित जागरूक प्राण ही मानव की जीवनीय शक्ति कहलाया। जीवनीय शक्ति रूप में परिणत बलिष्ठ प्राण अपने ऐन्द्रियक व्यापार, तथा शारीरिक बाह्य कर्म्म के लिए, अध्यवसायपूर्वक कर्म्मप्रवृत्ति के लिए प्रेरणाबल का प्रवर्त्तक बन गया। प्राण की इसी प्रेरणा से हम कर्म्म में प्रवृत्त हो पड़े। इस कर्म्मसन्तानपरम्परा के द्वारा हमारा प्राण पुनः विस्रस्त हो पड़ा अर्थात् खर्च हो गया। इस विस्रंसन धर्म्म से प्राण ज्यों ज्यों निर्बल-अशक्त-शिथिल होने लगा त्यों त्यों हमारी कर्म्मप्रवृत्ति भी मानो अधिकाधिक शिथिल होने लगी। इस शैथिल्य के साथ साथ प्राण भी मानो मूर्च्छित होने लगा। प्राण की यह मूर्च्छावस्था ही 'अशनाया' कहलाई, जिसका अक्षरार्थ है अशनरूप अन्नग्रहण की इच्छा जिसे लोकभाषा में-'भूख-लगना' कहा जाता है। यही भूख इसके द्वारा पुन उसी अन्न का

यह पारमेष्ठ्य प्रवर्ग्यभूत चान्द्र सौम्य रस है, जिसका-'यो वै शिवतमो रसः' रूप से विश्लेषण हुआ है। यज्ञान्न विश्लेषण-प्रक्रिया से अन्न का भी विश्लेषण हुआ। इससे विभक्त शुद्ध शिव प्राणात्मक शिवतम सौम्यरस ही रस कहलाया, एवं स्वयं अन्न इस रस की अपेक्षा से मलस्थानीय बन गया। यही शिवतम स्निग्धप्राणात्मक सुसूक्ष्म रस सर्वेन्द्रियाधिष्ठाता प्रज्ञान नामक अतीन्द्रिय मन कहलाया है। 'चन्द्रमा मनसो जातः'-'मनश्चन्द्रमा लीयते' इत्यादि श्रुतियाँ जिस मन की उत्पत्ति चन्द्रमा से मान रही हैं, जिसके लिए-'अन्नमयं हि सौम्य ! मन' यह कहा गया है वह यही अन्न की सुसूक्ष्मावस्थारूप दिव्य चान्द्र रस ही है, जिस इत्थंभूत शिवतम रसोलक्षण मन का सत्त्वभाव अन्नविशुद्धि पर ही अवलम्बित है। विज्ञानप्रधान भारतवर्ष के आबालवृद्धवनिता-आमूल विद्वज्जन सभी इस सूक्ति से परिचित हैं कि-'जैसा अन्न, वैसा मन'। सात्त्विक-राजस-तामस-जैसा भी अन्न खाया जायगा, तदनुपात से ही विश्लेषण की अन्तिम सीमा में प्रज्ञानमन सत्त्व रज-तमोभावों में परिणत रहेगा। सत्त्वान्नानुगत चान्द्र रस ही मन के सहजसिद्ध शिवतमरसरूप सात्त्विक भाव की मूलप्रतिष्ठा माना जायगा। तभी हमारा मन शिवसंकल्प का अधिष्ठाता बन सकेगा। इसी सत्त्वमन के लिए श्रुति ने कहा है—

यत् प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥
—यजुःसंहिता

यही कारण है कि, अन्यान्य आचार-धर्म्मों के समतुलन में यहाँ की ऋषिप्रज्ञा ने 'अन्न' के सम्बन्ध में बड़ी ही जागरूकता मानी है। राजर्षि मनु ने तो अन्यान्य दोषों के साथ इस अन्नदोष को ही ज्ञाननिष्ठ भारतीय ब्राह्मण की जीवितमृत्यु का प्रधान कारण माना है। सुनिए—

अनभ्यासेन वेदानां, आचारस्य च वर्ज्जनात् ।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥
—मनु

अन्नशुद्धि का भारतीय मानव के लिए कैसा और कितना महत्त्व है ?, प्रश्न का समाधान उक्त विश्लेषणप्रक्रिया से स्पष्ट है। निःसीम दुर्भाग्य है यह

भागों में विभक्त किया है । जिस अन्न में ये चारों रस विकसित रहते हैं, वही मानवीय रुद्राग्नि का अन्न माना गया है । दूधिया-कच्चा अन्न मानवान्न नहीं बनता । अपितु जब खेत में इसका परिपाक हो जाता है, यह जम जाता है, दूध जब दही बन जाता है तो वैसा पका धान ही इसका अन्न बनता है, जिसमें चारों की मात्राएँ विद्यमान हैं । आटे में जो कणात्मक घन भाग है, वही दधिभाग है, जो मानव के मांस-अस्थि-आदि घनभावों का उपकारक बनता है । आटे को पानी से जब गोंदा जाता है हमारी भाषा के अनुसार ओसणा जाता है, तो उसमें एक प्रकार के स्नेहन-चिक्कण द्रव्य का हम प्रत्यक्ष करते हैं, जिसे 'लोच' कहा गया है । यही घृत का अंश है । दधिभाग पार्थिव द्रव्य था, यह घृतभाग आन्तरिक्ष्य द्रव्य है । श्रुति ने कहा है कि, जब प्रजापति इन द्रव्यों की आहुति से प्रजा का निर्म्माण कर रहे थे, तो वराह का निर्म्माण करते हुए सहसा इन्होंने घृत का पूरा घट का घट डाल दिया । फलस्वरूप वराह नामक शूकर में अन्य पशुओं की अपेक्षा घृत (चर्बी) की मात्रा प्रचुर बन गई । अन्तरिक्ष ही यह द्रोणकलश है, जिसमें घृतरूप आज्य भरा हुआ है । मेदुर वराहपशु में इसकी प्रभूतमात्रा रहती है । घृत ज्योतिर्म्मय है । अतएव वराहपशु ज्योतिष्मान्-अत्यन्त बलिष्ठ पशु है । तभी तो बलिष्ठ को 'शूर' कहा गया है । इसी बलाधानसंस्कार के लिए राजसूय-यज्ञकर्त्ता क्षत्रिय के लिए वाराही उपानत् (शूकरचर्म्म के पादत्राण) का विधान हुआ है ।

तीसरे द्युलोक का रस मधु है जिसका चान्द्रनाड़ी के द्वारा भरणीनक्षत्र के भोगकाल में वर्षण होता रहता है । अतएव भरणीनक्षत्र मधुछत्र (मधु का छाता) माना गया है । सूर्य्य जब भरणीनक्षत्र पर आते हैं तो मधु का ही पौर्णमास्यक आरम्भ हो जाता है, जिसका तात्पर्य्य है प्राणात्मिका मधुमात्रा का प्रभूतमात्रा से भूपिण्ड पर आ जाना । अतएव मधुवर्षणात्मक चैत्रकाल मधुमास माना गया है, जिसमें सर्वत्र चेतनप्रजा, तथा अर्द्धचेतन-इत्यादि प्रजा में मधु का उत्सव आरम्भ हो जाता है । मन में एक प्रकार का मिठास आ जाता है । ओषधियाँ आम्रादि वनस्पतियाँ माध्वी-मधुमती बन जाती हैं इस ऋतुराज वसन्त में । 'वासन्तिका वासरा' प्रसिद्ध हैं भावुक कवियों की कल्पना के साम्राज्य में । हाँ, तो अन्न में रहने वाला मिठास ही मधु का प्रत्यक्ष है । प्रत्येक अन्न में अवश्य ही एक प्रकार का मिठास होता है । आन्तरिक्ष्य घृतरस भाग से मानव के रस-असृक्-मज्जा-आदि तरल पदार्थों का पोषण होता है । एवं सौर दिव्य

आहरण, आहृत अन्न की पुनः उसी शारीरिक अग्नि में आहुति, आहुत अन्न की पुनः रसद्वारा प्राणरूप में परिणति, प्राणात्मक प्राण की पुनः कर्मप्रवृत्ति, कर्मप्रवृत्ति से पुनः प्राण का शैथिल्य, तद्द्वारा पुनः अशनाया की जागरूकता, पुनः इससे अन्न का आदान, इस रूप से अन्न-ऊर्क्-प्राणों का यह धारावाहिक चक्रक्रम अनवरत-निरन्तर प्रवाहित रहता है। एवं यही आध्यात्मिक यज्ञ की संक्षिप्त स्वरूप-व्याख्या है।

चयनविज्ञान के अनुसार गर्भस्थ शिशु का ९ मास पर्यन्त अग्नि की चिति से उत्तरोत्तर स्वरूप-सम्पादन होता रहता है। सप्तचिति-लक्षण यह अग्निचयनकर्म ९ मास में परिसमाप्त हो जाता है। यहीं अग्नि सर्व-कृत्स्न-पूर्ण बन जाता है। एवं प्राणात्मक गमसञ्चारी 'एकयामरुत्' नामक वायुविशेष के अभ्याघात से गर्भाशय को छोड़ कर यही गर्भस्थ शिशु भूमिष्ठ हो पड़ता है, जिसका पहिला व्यापार होता है 'रुदन'। चित्याग्निरूप शिशु साक्षात् रुद्र है। 'अग्निर्वा रुद्रः'। इस रुद्राग्नि से इन्द्रियप्राणदेवता विकम्पित हो जाते हैं। तत्काल गुड़-मधु-आदि अन्न की इस रुद्राग्नि में आहुति दी जाती है। इससे रुद्रदेवता शान्त हो जाते हैं। रोता हुआ अग्निचितिमूर्ति बालक चुप हो जाता है। रुद्रदेवता अन्न-रूप आप से ही शान्त होते हैं। इसीलिए तो भारतीय संस्कृति में मार्ग के श्रम से प्रदीप्त रुद्राग्नि को शान्त करने के लिए रुद्ररूप अतिथि को जलार्घ्यदान से ही सुशान्त करने की पद्धति है। श्रावणमास इसीलिए तो साम्बसदाशिव का आराधनाकाल कहलाया है, जबकि पार्थिव अग्निरूप रुद्र आपोमय समुद्राभिमुख बनते हुए इस मास में आपोमय-साम्ब-सदाशिवरूप में परिणत हो रहे हैं। रुद्राग्नि को शान्त करने वाला यह 'सोम' ही 'शान्तरुद्रिय' अन्न माना गया है जो परोक्ष भाषा में 'शतरुद्रिय' कहलाया है (देखिए शत० ब्रा० ७।१।१।१।)। जागरूक-रुद्राग्नि को इनके न्योक बना सोम ही उपशान्त करते हैं, जैसा कि श्रुति ने कहा है—

अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥

—ऋक्संहिता

अग्नि-सोमरूप इस यज्ञ के द्वारा ही मानव की स्वरूपरक्षा हो रही है। यज्ञाहुतिद्रव्यरूप सोमान्न को श्रुतिमाता ने दधि-घृत-मधु-अमृत, इन चार

भागों में विभक्त किया है । जिस अन्न में ये चारों रस विकसित रहते हैं, वही मानवीय रुद्राग्नि का अन्न माना गया है । दुधिया-कच्चा अन्न मानवान्न नहीं बनता । अपितु जब खेत में इसका परिपाक हो जाता है, यह जम जाता है, दूध जब दही बन जाता है, तो वैसा पका धान ही इसका अन्न बनता है, जिसमें चारों की मात्राएँ विद्यमान हैं । आटे में जो कणात्मक घन भाग है, यही दधिभाग है, जो मानव के मांस-अस्थि-आदि घनभावों का उपकारक बनता है । आटे को पानी से जब गोंदा जाता है हमारी भाषा के अनुसार ओसणा जाता है, तो उसमें एक प्रकार के स्नेहन-चिक्कण द्रव्य का हम प्रत्यक्ष करते हैं, जिसे 'लोच' कहा गया है । यही घृत का अंश है । दधिभाग पार्थिव द्रव्य था, यह घृतभाग आन्तरिक्ष्य द्रव्य है । श्रुति ने कहा है कि, जब प्रजापति इन द्रव्यों की आहुति से प्रजा का निर्म्माण कर रहे थे, तो वराह का निर्म्माण करते हुए सहसा इन्होंने घृत का पूरा घट का घट डाल दिया । फलस्वरूप वराह नामक शूकर में अन्य पशुओं की अपेक्षा घृत (चर्बी) की मात्रा प्रवृद्ध बन गई । अन्तरिक्ष ही वह द्रोणकलश है जिसमें घृतरूप आज्य भरा हुआ है । मेदुर वराहपशु में इसकी प्रभूतमात्रा रहती है । घृत ज्योतिर्म्मय है । अतएव वराहपशु ज्योतिष्मान्-अत्यन्त बलिष्ठ पशु है । तभी तो बलिष्ठ को 'शूर.' कहा गया है । इसी बलाधानसंस्कार के लिए राजसूययज्ञकर्त्ता क्षत्रिय के लिए वाराही उपानत् (शूकरचर्म्म के पादत्राण) का विधान हुआ है ।

तीसरे द्युलोक का रस मधु है जिसका चान्द्रनाक्षी के द्वारा भरणीनक्षत्र के भोगकाल में वर्षण होता रहता है । अतएव भरणीनक्षत्र मधुक्षत्र (मधु का छाता) माना गया है । सूर्य्य जब भरणीनक्षत्र पर आते हैं तो मधु का ही पौर्णमास्यज्ञ आरम्भ हो जाता है, जिसका तात्पर्य्य है प्राणात्मिका मधुमात्रा का प्रभूतमात्रा से भूपिण्ड पर आ जाना । अतएव मधुवर्षणात्मक चैत्रकाल मधुमास माना गया है, जिसमें सर्वत्र चेतनप्रजा, तथा अर्द्धचेतन-वृक्षादि प्रजा में मधु का उत्सव आरम्भ हो जाता है । सब में एक प्रकार का मिठास आ जाता है । ओषधियाँ, आम्रादि वनस्पतियाँ माध्वी-मधुमती बन जाती हैं इस ऋतुराज वसन्त में । 'वासन्तिका वासरा' प्रसिद्ध हैं भावुक कवियों की कल्पना के साम्राज्य में । हाँ, तो अन्न में रहने वाला मिठास ही मधु का प्रत्यक्ष है । प्रत्येक अन्न में अवश्य ही एक प्रकार का मिठास होता है । आन्तरिक्ष्य घृतरस भाग से मानव के रस-असृक्-मज्जा-आदि तरल पदार्थों का पोषण होता है । एव और दिव्य

मानुष्य में मानव के आत्मनिष्ठ तरल शुक्र का पोषण होता है। अतएव शुक्र को 'मधु' भी कह दिया जाता है। अतएव यह शुक्रप्रकोप 'मधुमेह' नाम से प्रसिद्ध हो गया है।

अब चौथा स्थान आता है-'अमृत' का। यह विलक्षण सूक्ष्मतम यह प्राणरूप रस है, जिसका उस चौथे परमेष्ठी लोक से आगमन होता है, जो सूर्य से भी ऊपर स्थित है। वही यह प्रियतम सोमरस है, जो मन का पोषक बनता है। सभी ओषधियों में इस सोमरस की मात्रा रहती है। किन्तु वायु में प्रतिष्ठित इन्द्रप्राण इस सोमरस का पान करते रहते हैं। अतएव सभी अन्न वत हैं। एकमात्र उस चावल में ही इन्द्र प्रवेश नहीं कर सकते, वहाँ अपतत्त्व की प्रधानता से वरुण का साम्राज्य रहता है। एवं वरुण के कारण ही इन्द्र इसे खा नहीं कर सकते। इन्द्र और वरुणप्राण की सहज शत्रुता प्रसिद्ध ही है। सोम के इस अक्षत भाव के कारण ही चावल-'अक्षत' कहलाने लग पड़ा है, जिसका रचात्मिका भारतीय मङ्गलपरम्पराओं में विशेषरूप से ग्रहण हुआ है। सौम्यप्राणप्रधान पितरों की तृप्ति से सम्बन्ध रखने वाले नितान्त वैज्ञानिक प्रेतपितृश्राद्धकर्म्म में इसीलिए चावलपिण्ड का ग्रहण हुआ है। यह पारमेष्ठ्य तत्त्व है, परमेष्ठी के अधिष्ठाता देवता विष्णु हैं। अतएव वैष्णवी एकादशी तिथि को यहाँ चावल खाना निषिद्ध माना गया है। इस अमृतरूप सोम से मानवीय मन का ही पोषण होता है। अतएव जिस अन्न में से यह अमृतरस निकल जाता है, उसे मन रुचिपूर्वक ग्रहण नहीं कर पाता। कहता है मानव इस स्थिति में यह कि-'खाते तो हैं, किन्तु मन मार कर खाते हैं'। वातयाम-बासी-ठंडा-अन्न-इस सोममात्रा से विहीन हो जाता है। वायव्य इन्द्र ही इसका पान कर जाते हैं। अतएव धारोष्ण दुग्ध में जो सोम है, वह पन्द्रों वायु के द्वारा संयुक्त बन जाने वाले दुग्ध में नहीं। समझने मात्र के लिए इस चौथे अमृतरस को हम 'स्वाद' कह सकते हैं, जिसे-'जायका' कहते हैं आजकल के सभ्य मानव।

सम्पूर्ण सौम्य पदार्थों में एकमात्र गौमाता के दुग्ध में ही सोम अपने प्राकृतिकरूप से प्रतिष्ठित रहता है, जैसाकि आयुर्वेद के इस सिद्धान्त से स्पष्ट है—

> स्वादु—पाकरस-स्निग्धं—ओजस्यं—धातुवर्द्धनम्।
> प्रायः पयः, तत्र गव्यं तु जीवनीयं रसायनम्॥
>
> —भावप्रकाश

हिन्दूसंस्कृति का क-च-ट-त-भी न जानने वाले, किन्तु इस सम्बन्ध में अपने आपको सर्वज्ञ मान बैठने वाले आज के भूतविज्ञाननिष्ठ कहा करते हैं कि-"ये भारतीय तो पशु को भी माता मान बैठे, गौ का पूजन करने लगे। सचमुच हिन्दूजाति केवल रूढि की ही भक्त है"। स्वागत ही करेगा इस देश का हिन्दू मानव इस रूढिवाद का। क्योंकि उसकी प्रत्येक रूढि किंवा मान्यता प्रकृति के रहस्यपूर्ण विज्ञान ही पर अवलम्बित है। जो कोई भी प्रज्ञा से यहाँ के तत्त्व का बोध प्राप्त कर लेगा, उसे भी अवश्य ही एक दिन इसी रूढि का भक्त बन जाना पड़ेगा। आप गाय की बात करते हैं। यह हिन्दू तो बलिकर्म में कुत्ते का भी पूजन करता है, काक को भी बलिप्रदान करता है। यही क्यों, यह तो गधों का भी पूजन करना अपना शास्त्रीय कर्म मानता है। शक्तिविशेषरूप से उपस्तुता माता शीतला के वाहनरूप से गधे की मूर्ति का भी शीतलामन्दिर में पूजन होता है। क्या यह प्रत्यक्षतः भूत का उपासक है? । नहीं। यह तो भूत के माध्यम से उपासना करता है प्राण की। यह जानता है कि, गाय भी अन्य पशुओं की भाँति एक पशुमात्र ही है। किन्तु साथ साथ यह इतना और जानता है कि, इस गौपशु की मूलप्रतिष्ठारूप वह गौप्राण है, जिसके साथ रुद्र-वसु-आदित्यादि प्राणशक्तियों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह जानता है कि, इसका दुग्ध सामान्य दूध नहीं है, इन्द्रों का दूध नहीं है। अपितु यह वह दूध है जिसमें जीवनीय रसात्मक पारमेष्ठ्य अमृतसोम प्रभूत मात्रा में प्रतिष्ठित है। अतएव 'अदिति' कहलाया है ऋषिभाषा में यह गौ तत्त्व। इसे कष्ट देना निश्चयेन मानवमात्र का अपने जीवनीय प्राणरस को ही उत्पीडित करना है। यह तो विश्व के मानवमात्र के लिए आराध्य पशु है। नहीं है, तो होना चाहिए। हिन्दू ने इसके मौलिक स्वरूप को पहिचान लिया तो क्या यही इसकी साम्प्रदायिकता हो गई!। हम समझते हैं-वैज्ञानिक तत्त्वों के विलुप्त हो जाने के कारण ही आज मानव इस दिशा में भ्रान्त है। देखिए ऋषि क्या कह रहे हैं गौप्राणात्मक इस गौपशु के लिए—

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां-स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट ॥

—ऋक्संहिता।

"यह गौ पशु रुद्रों की माता है, वसुओं की कन्या है, आदित्यों की बहिन है। मैंने उस प्रज्ञाशील के लिए यह कह दिया है कि, वह इस अनपराधिनी अदितिरूपा गाय को कभी उत्पीडित न करे। क्योंकि यह अमृत-सोम की नाभि

है, केन्द्र है"। मानव का स्वरूप है–आत्मा, और शरीर। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, शरीर प्राणकर्म्मरूप है। ज्ञान, और कर्म, ये दो ही मानव की स्वरूपव्यवस्था हैं। ज्ञानब्रह्म का प्रतीक राष्ट्र का ब्राह्मण है एवं कर्मशरीर का प्रतीक गौपशु है। जिस राष्ट्र का ज्ञानविज्ञाननिष्ठ ब्राह्मणवर्ग अपने स्वरूप से विच्युत हो जाता है, उस राष्ट्र का आत्मा मूर्च्छित हो जाता है। एवमेव जिस राष्ट्र का जीवनीय प्राणरूप गौपशु विकम्पित हो जाता है, उस राष्ट्र का प्राणकर्म्मात्मक शरीर भी विकम्पित हो जाता है। ब्राह्मण, और गौ का विकम्पन राष्ट्र के आत्मा और शरीर का विकम्पन है, यही प्रकृति का विकम्पन है, और यही है धर्म्मग्लानि का स्वरूप-परिचय, जिसके उपशम के लिए प्रकृतिसहचारी पुरुषेश्वर को अवतार लेना पड़ता है। 'गो ब्राह्मणहिताय च' का तत्त्वार्थ है राष्ट्र की ज्ञानशक्ति, एवं कर्म्मशक्ति के हित के लिए, जिसके मूर्त्त प्रतीक हैं राष्ट्र के तत्त्वनिष्ठ ब्राह्मण, एवं गौपशु।

सोमामृतमयी गौ के अनुबन्ध से यह प्रासङ्गिकी तत्त्वचर्चा प्रश्नाशीलों के सम्मुख उपस्थित की गई, जिसका मानव के जीवनीय प्राण से घनिष्ठ सम्बन्ध है। पृथिवी–अन्तरिक्ष–सूर्य्य–परमेष्ठी–विश्व के इन चारों पर्वों से सम्बन्ध रखने वाले दधि–घृत–मधु–अमृत–चारों का मानवीय अन्न में प्रतिष्ठान है। ऐसे अन्न की आहुति से ही मानव का अभोर्ध्व प्राण–परिग्रहलक्षण यह यज्ञ प्रक्रान्त है, जिसके हर्यभूत तात्त्विक दृष्टिकोण को लक्ष्य बनाता हुआ प्रत्येक मानव अपनी 'मानव' उपाधि को धन्य बना सकता है। जिस धन्यता का केन्द्रबिन्दु शिवतम रसरूप चौथा अमृत सोम ही है, जिसके आधार पर मानव की मनःशुद्धि प्रतिष्ठित है। कैसा है मानवीय मन का यह अमृतलक्षण पारमेष्ठ्य शिवतम रस ?, सुनिए !

> पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते ! प्रभुर्गात्राणि पर्य्येषि विश्वतः ।
> अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत् समाशत ॥
> —ऋक्संहिता

सम्भव है इस रूक्ष तत्त्वचर्चा से आपके मनस्तन्त्र श्रान्त हो गए हों। इस अपराध से त्राण पाने के लिए अब एक प्रासङ्गिक कहानी सुना दी जाती है। कहानी का आरम्भ यहाँ से होता है कि– 'एक बार पार्थिव त्रैलोक्य के व्यवस्थापक तीनों देवताओं के सम्मुख अपने त्रैलोक्य की व्यवस्था के सम्बन्ध में कुछ एक समस्याएँ उपस्थित हो पड़ीं। निश्चय यह हुआ कि, भगवान् शङ्कर वैकुण्ठधाम

जायँ, और अनन्त-असंख्य-त्रैलोक्याधिष्ठाता गोलोकवासी क्षीरसमुद्रशायी भगवान् विष्णु के सम्मुख ये समस्याएँ रक्खें। एवं जो आदेश मिलें, तदनुसार यहाँ व्यवस्था की जाय। निर्णयानुसार अपने ब्रह्मनादप्रवर्त्तक, 'एकतारा' वाद्य के साथ भगवान् शङ्कर गोलोकधाम पहुँचे। निरप्रतीक्षा के अनन्तर शेषशायी नारायण का सायुज्य उपलब्ध हुआ। प्रणतभावपूर्वक समस्याएँ उपस्थित की श्रीशङ्कर ने। यथाकाल समाधान प्राप्त किया। उस महासमुद्र में अनन्त शेष शय्या पर आरूढ अखिलब्रह्माण्डाधिनायक भगवान् विष्णु के क्रोड़ में ही जगन्माता महालक्ष्मी विराजमान थी। आपने शङ्कर से आग्रह किया कि-आप तो नादब्रह्मात्मक महासङ्गीत के प्रथमाचार्य्य हैं। बहुत दिन हुए आपका सङ्गीत सुने। आज तो आपको अवश्य ही हमारी इच्छा पूरी करनी पड़ेगी। शङ्कर सङ्कोचवश तटस्थता प्रकट करने लगे, तो स्वयं नारायण ने आग्रह किया कि भोलानाथ! यदि महादेवी का आग्रह है, तो आपको अवश्य ही···· इत्यादि। शङ्कर को विवश बन कर एकतारा से अपनी नादसङ्गीतध्वनि का उपक्रम करना पड़ा। सम्पूर्ण लोकों के देवता भी इस देवदुर्लभ महासङ्गीत के श्रवण के लिए यथास्थान आ बैठे। सङ्गीत आरम्भ हुआ। ज्यों ज्यों सङ्गीतलहरी अधिकाधिक पञ्चम स्वर की अनुगामिनी बनने लगी, त्यों त्यों तत्र समवेत सभी श्रोता मुकुलित-नयन बनने लगे। आगे चल कर सभी देवता इस सङ्गीतप्रभाव से आत्मविस्मृत हो अन्तर्मुख बन गए। और यों भगवान् शङ्कर का यह महासङ्गीत एक अज्ञात महाकाल की अवधि के अनन्तर उपरत हुआ। सङ्गीतानन्तर शनै शनैः सब देवताओं का उद्बोधन हुआ। किन्तु आश्चर्य्य, महा आश्चर्य्य। जिस अनन्त-नागशय्या पर भगवान् विष्णु लेटे हुए थे, उस स्थान में विष्णु का तो अभाव था, एवं तत्र एक प्रकार का ज्योतिर्म्मय सलिल प्रवाहित हो रहा था। हाहाकार-निनाद उद्घोषित हो पड़ा इस अघटित घटना को देख-सुन कर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में। यों नारायण के अभाव से ब्रह्माण्ड के विकम्पित हो पड़ने पर सहसा परमाकाश के गह्वर से यह अभूतपूर्व नाद सुनाई पड़ा कि, हे देवताओ! चिन्ता का कोई अवसर नहीं है। हम भोलानाथ के महासङ्गीत से पिघल कर सलिलरूप में परिणत हो गए हैं, जो हमारे शय्यास्थान में तुम प्रवाहित देख रहे हो। यही पवित्र सलिल किसी समय सौर ब्रह्माण्ड का भेदन कर कुछ समय पर्य्यन्त तो शङ्कर के जटाजूट में ही विचरण करता रहेगा। अनन्तर महाभाग भगीरथ के तपोबल से उत्तर दिशा में प्रतिष्ठित होकर वहाँ से महर्षि 'जह्नु' के तपोबल के द्वारा भूतल का स्पर्श करता हुआ सगरपुत्रों का, एवं सदा सर्वदा भारतवर्ष के सभी आस्था-श्रद्धाशील मानवों का

अनुसार करता रहेगा।" वस्तुतः भगवती भागीरथी जल नहीं है, अपितु 'ब्रह्मद्रवी' है, गर्भात् पियसा हुआ ब्रह्म है जिसमें अवगाहन करने वाले धन्य बन जाया करते हैं—

पार्श्वेनिष्ठुपित-श्वभि प्रचलित गोमायुभिर्लुण्ठितम् ।
स्रोतोभिश्चलित तटाम्बुलुलित वीचीभिरान्दोलितम् ॥
दिव्यस्त्री-करचारुचामरमरैः सवीज्यमान कदा ।
द्रक्ष्येऽहं परमेश्वरी-भगवती-भागरथी स्व वपु ॥

बड़ा ही रहस्यपूर्ण है यह पौराणिक आख्यान, जो अध्यात्म-अधिदैवत-अधिभूत-अधिनक्षत्र-भेद से चारों संस्थानों से समन्वित हो रहा है। एवं इस ब्रह्मणस्पति-सोम नामक पवित्रतम गाङ्गेय चौथे अमृततत्त्व पर ही चतुर्विध उस ब्रह्म की स्वरूपव्याख्या उपरत हो रही है, जिसका अध्यात्मयज्ञप्रसङ्ग से यहाँ दिग्दर्शन हुआ है।

'अन्नमयं हि सौम्य मनः' के अनुसार अन्नात्मक विशुद्ध मन ही मानव के बन्ध, तथा मोक्ष का कारण है। अन्नदोष से मनःस्वरूप दूषित हो जाता है। मनःस्वरूप के विकृत हो जाने से मानव के अव्यक्त-महदादि पर्व विश्व के स्वयम्भू परमेष्ठ्यादि पर्वों के सहज अनुग्रह से वञ्चित हो जाते हैं। तत्परिणामस्वरूप मानव प्रकृतिसिद्ध ईश्वरीय नियमरूप धर्मपथ का अतिक्रमण कर अपना सब कुछ ही तो नष्ट कर लेता है। इसी प्रसङ्ग में एक संक्षिप्त वैदिक आख्यान का भी दो शब्दों में दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

"सुनते हैं—असुर-देवता-पितर-मनुष्य-पशु भेद से प्रजापति ने पाँच प्रजा उत्पन्न की। पाँचों ने प्रजापति के सम्मुख अपनी यह इच्छा प्रकट की कि—'वि नो धेहि, यथा जीवाम'। आप हमारे लिए अन्न, और प्रकाश की व्यवस्था करने का अनुग्रह करें, जिससे हम जीवन-यापन कर सकें, जीवित रह सकें। सबसे पहिले जब उद्दण्डता पूर्वक असुर प्रजापति के सम्मुख उपस्थित हुए, तो प्रजापति ने इनकी यह भर्त्सना कर डाली कि तुम मेरी सब से बड़ी सन्तति हो। छोटी का तो मैंने अभी सन्तोष किया नहीं, और तुम सबसे पहिले आ धमके। बैठ जाओ एक ओर। तुम्हें जो कुछ मिलेगा सबके पीछे मिलेगा। अनन्तर यज्ञोपवीती बन कर प्रणवभाव से देवता आए। प्रजापति ने इनके लिये स्वाहापूर्वक, अन्नाम, एवं सूर्यप्रकाश,

ये दोनों व्यवस्थित किए। एवं सम्वत्सर में एकबार उत्तरायणकाल तिथि इनकी प्रधान तिथि मानी गई। देवता सन्तुष्ट होकर लौट गये। अनन्तर प्राचीनावीती बन कर सौम्यभाव से पितर उपस्थित हुए। इन्हें यह आदेश मिला कि–'स्वधा' तुम्हारा अन्न होगा, प्रतिमास की अमावस्या को महीने में एकबार तुम भोजन कर सकोगे। एवं 'चन्द्रमा' तुम्हारा प्रकाश होगा। तदनन्तर प्रावृत बन कर नमनभावपूर्वक निवीती बनते हुए मनुष्य उपस्थित हुए। इन्हें यह आदेश मिला कि, 'नम' तुम्हारा अन्न होगा। अहोरात्र के २४ घन्टों में सायं-प्रातः-दो बार तुम भोजन कर सकोगे। एवं 'अग्नि' तुम्हारा प्रकाश होगा। अनन्तर अपनी प्राकृत–सहज–सर्वसन्त्रस्वतन्त्र–यथेच्छ मुद्रा से प्रजापति के सम्मुख पशु उपस्थित हुए। प्रजापति ने इन्हें लक्ष्य बना कर कहा कि–"यथाकामं वोऽशनम्। यदैव यूयं कदा च लभाध्वै-यदि काले यदनाकाले, वैवाश्नायेति"। तात्पर्य्य–आपके लिए न तो समय की मर्य्यादा है, न खाद्य पदार्थों की। चलते–फिरते–बैठे सोते–खड़े खड़े पैर पसारे–प्रात–सायं–रात–आधी रात–जब भी इच्छा हो, जो भी भोजन सामने आजाय, खा सकते हो। प्रकाशशील मानव ही तुम्हारे लिए प्रकाश रहेंगे। यों पशु भी सन्तुष्ट होकर चले गए। अब सर्वान्त में चिरकाल से प्रतीक्षा करने वाले सर्वज्येष्ठ बलिष्ठ–केवल भूतधर्म्मा-शरीरधर्म्मा दम्भमुद्रान्वित असुर उपस्थित हुए इस मूक इच्छा को ही मानो व्यक्त करते हुए कि –देखिए। हमनें बहुत धैर्य्य रक्खा है। अतएव हमें सबसे विशिष्ट, हमारा डील–डौल देखते हुए ही हमारे लिए अन्न और प्रकाश की व्यवस्था होनी चाहिए। असुरों के इस भूतधर्म्मा मन्तव्य को लक्ष्यास्थ करते हुए ही मानो प्रजापति ने इनके लिए यह व्यवस्था की कि–माया, छल कपट धूर्त्तता,-ईर्ष्या-कलह-परद्रोह-हिंसा-स्तेय-मिथ्याभाषण-आदि आदि विभूतियाँ !, हीं तुम्हारे अन्न होंगे। एवं घोर घोरतम अन्धकार-अज्ञानान्धकार ही तुम्हारे लिए प्रकाश होगा। गद्गद हो तो हो पड़े मानो अपने स्वरूप के अनुरूप ये असुरमहानुभाव। आगे जाकर इस रहस्यपूर्ण आख्यान का उपसंहार करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि–"न वै देवा अतिक्रामन्ति न पितरः, न पशवः नासुराः। मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति"। अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में अपनी पाँचों प्रजाओं के लिए प्रजापति ने जो मर्य्यादा व्यवस्थित की थी, उसका देवता अतिक्रमण नहीं करते, पितर अतिक्रमण नहीं करते, पशु अतिक्रमण नहीं करते, असुर अतिक्रमण नहीं करते। किन्तु बड़े दुःख के साथ कहना पड़ता है कि,–'मनुष्या एवैके अतिक्रामन्ति'। अर्थात् मानव

समुद्धार करता रहेगा ।" सचमुच भगवती भागीरथी जल नहीं है, अपितु 'ब्रह्मद्रव' है, साक्षात् पियूष हुआ जल है जिसमें अवगाहन करने वाले धन्य बन कहा करते हैं—

> काकैर्निष्कुषितं-श्वभिः कवलितं गोमायुभिर्लुण्ठितम् ।
> स्रोतोभिश्चलितं तटाम्बुलुलितं वीचीभिरान्दोलितम् ॥
> दिव्यस्त्री-करचारुचामरमरैः संवीज्यमानं कदा ।
> द्रक्ष्येऽहं परमेश्वरी-भगवती-भागीरथी स्वं वपुः ॥

बड़ा ही रहस्यपूर्ण है यह पौराणिक आख्यान, जो अध्यात्म-अधिदैवत-अधिभूत-अधियज्ञ-भेद से चारों संस्थानों से समन्वित हो रहा है । एवं इस प्रजोत्पत्ति-क्षेम नामक पवित्रतम गाङ्गेय चौथे अमृततत्त्व पर ही चतुर्विध उस अन्न की स्वरूपव्याख्या उपरत हो रही है, जिसका अध्यात्मयज्ञप्रसङ्ग से यहाँ दिग्दर्शन हुआ है ।

'अन्नमयं हि सौम्य मनः' के अनुसार अन्नात्मक विशुद्ध मन ही मानव के बन्ध, तथा मोक्ष का कारण है । अन्नदोष से यज्ञस्वरूप दूषित हो जाता है । यज्ञस्वरूप के विकृत हो जाने से मानव के अव्यक्त-महदादि पर्व विश्व के स्वयम्भू परमेष्ठ्यादि पर्वों के सहज अनुग्रह से वञ्चित हो जाते हैं । तत्परिणामस्वरूप मानव प्रकृतिसिद्ध ईश्वरीय नियमरूप धर्मपथ का अतिक्रमण कर अपना सब कुछ ही तो नष्ट कर लेता है । इसी प्रसङ्ग में एक संक्षिप्त वैदिक आख्यान का भी दो शब्दों में दिग्दर्शन करा दिया जाता है ।

"सुनते हैं—असुर-देवता-पितर-मनुष्य-पशु भेद से प्रजापति ने पाँच प्रजा उत्पन्न की । पाँचों ने प्रजापति के सम्मुख अपनी यह इच्छा प्रकट की कि—'वि नो धेहि, यथा जीवाम' । आप हमारे लिए अन्न, और प्रकाश, की व्यवस्था करने का अनुग्रह करें, जिससे हम जीवन-यापन कर सकें, जीवित रह सकें । सबसे पहिले बड़ उदग्रता पूर्वक असुर प्रजापति के सम्मुख उपस्थित हुए, तो प्रजापति ने इनकी यह भर्त्सना कर डाली की तुम मेरी सब से बड़ी सन्तति हो । छोटों का तो मैंने अभी सन्तोष किया नहीं, और तुम सबसे पहिले आधमके । बैठ जाओ एक ओर । तुम्हें जो कुछ मिलेगा सबके पीछे मिलेगा । अनन्तर महोत्सीत्री बन कर प्रणतभाव से देवता आए । प्रजापति ने इनके लिये स्वाहापूर्वक, यज्ञ, एवं सूर्यप्रकाश,

ये दोनों व्यवस्थित किए। एवं सम्वत्सर में एकबार उत्तरायणकाल तिथि इनकी प्रधान तिथि मानी गई। देवता सन्तुष्ट होकर लौट गये। अनन्तर प्राचीनावीती बन कर सौम्यभाव से पितर उपस्थित हुए। इन्हें यह आदेश मिला कि–'स्वधा' तुम्हारा अन्न होगा, प्रतिमास की अमावस्या को महीने में एकबार तुम भोजन कर सकोगे। एवं 'चन्द्रमा' तुम्हारा प्रकाश होगा। तदनन्तर प्रावृत बन कर नमनभावपूर्वक निवीती बनते हुए मनुष्य उपस्थित हुए। इन्हें यह आदेश मिला कि, 'नमः' तुम्हारा अन्न होगा। अहोरात्र के २४ घन्टों में सायं-प्रातः– दो बार तुम भोजन कर सकोगे। एवं 'अग्नि' तुम्हारा प्रकाश होगा। अनन्तर अपनी प्राकृत–सहज–सर्वतन्त्रस्वतन्त्र–यथेच्छ मुद्रा से प्रजापति के सम्मुख पशु उपस्थित हुए। प्रजापति ने इन्हें लक्ष्य बना कर कहा कि–"यथाकामं वोऽशनम्। यदैव यूयं कदा च लभाध्वै-यदि काले यद्यनाकाले, वैवाश्नायेति"। तात्पर्य्य– आपके लिए न तो समय की मर्य्यादा है, न खाद्य पदार्थों की। चलते–फिरते बैठे- सोते–खड़े खड़े पैर पसारे–प्रात–सायं–रात–आधी रात–जब भी इच्छा हो, जो भी भोजन सामने आजाय, खा सकते हो। प्रज्ञाशील मानव ही तुम्हारे लिए प्रकाश रहेंगे। यों पशु भी सन्तुष्ट होकर चले गए। अब सर्वान्त में चिरकाल से प्रतीक्षा करने वाले सर्वज्येष्ठ बलिष्ठ–केवल भूतधर्म्मा-शरीरधर्म्मा दम्भमुद्रान्वित असुर उपस्थित हुए इस मूक इच्छा को ही मानो व्यक्त करते हुए कि,–देखिए! हमने बहुत धैर्य्य रक्खा है। अतएव हमें सबसे विशिष्ट, हमारा डील–डौल देखते हुए ही हमारे लिए अन्न और प्रकाश की व्यवस्था होनी चाहिए। असुरों के इस भूतधर्म्मा मन्तव्य को लक्ष्यारूढ करते हुए ही मानो प्रजापति ने इनके लिए यह व्यवस्था की कि–माया, छल, कपट धूर्त्तता, ईर्ष्या-कलह-परद्रोह-हिंसा-स्तेय- मिथ्याभाषण-आदि आदि विभूतियाँ!, हीं तुम्हारे अन्न होंगे। एवं घोर घोरतम अन्धकार-अज्ञानान्धकार ही तुम्हारे लिए प्रकाश होगा। गद्‌गद ही तो हो पड़े मानो अपने स्वरूप के अनुरूप ये असुरमहानुभाव। आगे जाकर इस रहस्यपूर्ण आख्यान का उपसंहार करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि–"न वै देवा अतिक्रामन्ति, न पितरः, न पशवः नासुराः। मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति"। अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में अपनी पाँचों प्रजाओं के लिए प्रजापति ने जो मर्य्यादा व्यवस्थित की थी, उसका देवता अतिक्रमण नहीं करते, पितर अतिक्रमण नहीं करते, पशु अतिक्रमण नहीं करते, असुर अतिक्रमण नहीं करते। किन्तु बड़े दुःख के साथ कहना पड़ता है कि,–'मनुष्या एवैके अतिक्रामन्ति'। अर्थात् मानव

समुद्धार करता रहेगा।" इसमुक्त भगवती भागीरथी जल नहीं है, अपितु 'अमृत' है, साक्षात् पिघला हुआ ब्रह्म है जिसमें अवगाहन करने वाले धन्य बन कहा करते हैं—

कार्कोनिष्पुपित-स्वभि फलितं गोमायुभिर्लुण्ठितम् ।
स्रोतोभिश्चलितं तटाम्बुलुलितं वीचीभिरान्दोलितम् ॥
दिव्यस्त्री-करचारुचामरमरैः सवीज्यमानं कदा ।
द्रक्ष्येऽहं परमेश्वरी-भगवती-भागरथी स्व वपुः ॥

बड़ा ही रहस्यपूर्ण है यह पौराणिक आख्यान, जो अध्यात्म-अधिदैवत-अधिभूत-अधियज्ञ-भेद से चारों संस्थानों से समन्वित हो रहा है। एवं इस ब्रह्मणस्पति-सोम नामक पवित्रतम गाङ्गेय चौथे अमृततत्त्व पर ही चतुर्विध उस ब्रह्म की स्वरूपव्याख्या उपरत हो रही है, जिसका अध्यात्मयज्ञप्रसङ्ग से यहाँ दिग्दर्शन हुआ है।

'अन्नमयं हि सौम्य मनः' के अनुसार अन्नात्मक विशुद्ध मन ही मानव के बन्ध, तथा मोक्ष का कारण है। अन्नदोष से यज्ञस्वरूप दूषित हो जाता है। यज्ञस्वरूप के विकृत हो जाने से मानव के अव्यक्त-महदादि पर्व विश्व के स्वयम्भू-परमेष्ठ्यादि पर्वों के सहज अनुग्रह से वञ्चित हो जाते हैं। तत्परिणामस्वरूप मानव प्रकृतिसिद्ध ईश्वरीय नियमरूप धर्म्मपथ का अतिक्रमण कर अपना सब कुछ ही तो नष्ट कर लेता है। इसी प्रसङ्ग में एक संक्षिप्त वैदिक आख्यान का भी दो शब्दों में दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

"सुनते हैं—असुर-देवता-पितर-मनुष्य-पशु भेद से प्रजापति ने पाँच प्रजा उत्पन्न की। पाँचों ने प्रजापति के सम्मुख अपनी यह इच्छा प्रकट की कि—'वि नो धेहि, यथा जीवाम'। आप हमारे लिए अन्न, और प्रकाश की व्यवस्था करने का अनुग्रह करें, जिससे हम जीवन-यापन कर सकें, जीवित रह सकें। सबसे पहिले अब उद्दण्डता पूर्वक असुर प्रजापति के सम्मुख उपस्थित हुए, तो प्रजापति ने इनकी यह भर्त्सना कर डाली कि, तुम मेरी सब से बड़ी सन्तति हो। छोटों का तो मैंने अभी सन्तोष किया नहीं, और तुम सबसे पहिले आधमके। बैठ जाओ एक ओर। तुम्हें जो कुछ मिलेगा सबके पीछे मिलेगा। अनन्तर यज्ञोपवीती बन कर प्रणतभाव से देवता आए। प्रजापति ने इनके लिये स्वाहापूर्वक, अन्नाम एवं सूर्यप्रकाश,

पञ्चस्रोतोऽम्बु पञ्चयोन्युग्रवक्रां-
पञ्चप्राणोर्म्मि पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्।
पञ्चावर्त्तां पञ्चदुःखौघवेगां
पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषत् १।५।

ओमित्येतत्

पञ्चपुण्डीरा-प्राजापत्यमन्त्रात्मिका
'पञ्चपर्वात्मिका-विश्वविद्या'
नामक
द्वितीय-वक्तव्य उपरत
२

ही एकमात्र महापति-ईश्वर की मर्य्यादा का उल्लंघन कर बैठता है। ऐसा क्यों !, प्रश्न का तो एक स्वतन्त्र व्याख्य से ही सम्बन्ध माना जायगा।

माननीय प्रज्ञाशील बन्धुओ ! सृष्टिविद्यात्मिका आज की पञ्चपर्वा-विश्वविद्या का उपसंहार करते हुए अन्त में प्रणतभाव से हमें यह और नम्र निवेदन कर देना है आप से कि भारतीय संस्कृति, किंवा हिन्दूसंस्कृति के मूलाधार वेद कोई साम्प्रदायिक ग्रन्थ नहीं हैं। यह तो ईश्वरीय ज्ञानविज्ञान का वैसा महाकोश है, जिसके नित्य सिद्ध मौलिक सिद्धान्तों के प्रति किसी भी युग के किसी भी प्रज्ञाशील मानव को कदापि कोई भी विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती, नहीं होनी चाहिए। दुर्भाग्य है यह इस भारतराष्ट्र का कि, अनुमानतः विगत तीन हजार वर्षों से नवीन नवीन रूप से आविर्भूत-तिरोभूत होते रहने वाले मानवीय मन के तात्कालिक विमुग्धों के निग्रहानुग्रह से राष्ट्र की इस मूलनिधि के अन्तस्तल पर पहुँचने का ही अवसर नहीं मिल सका है यहाँ की आस्था-श्रद्धाशीला प्रजा को। अतएव अन्यान्य सम्प्रदायवाद-मतवादों की भाँति ईश्वरीय नित्य नियमरूपा यह आर्षसंस्कृति भी आज 'सम्प्रदायवाद' जैसी सीमित दृष्टि से देखी-सुनी-समझी जाने लगी है। सर्वसम्प्रदायवादात्मक मतवादों के प्रति सर्वथा निरपेक्ष बने रहने वाले सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र भारतराष्ट्र के सर्वोच्च पद पर समासीन भारतीय संस्कृतिनिष्ठ महामहिम राष्ट्रपति महाभाग से आप-सबको सम्मिलितरूप से यही नम्र आवेदन कर ही देना है कि—

महामहिम ! "आज के इस महद्भाग्यशाली स्वतन्त्रयुग में आप जैसे विशुद्ध मानवसंस्कृतिनिष्ठ महाप्राज्ञ मानवश्रेष्ठ की प्रेरणा से अवश्य ही राष्ट्र की मूलप्राण-प्रतिष्ठात्मा ज्ञानविज्ञानसिद्धा उस वेदसंस्कृति का ज्ञानविज्ञानात्मिका तत्त्वदृष्टि से उद्धार होना ही चाहिये, जिससे राष्ट्र का महिमामय सांस्कृतिक गौरव अनुदिन वर्द्धमान ही प्रमाणित होगा। इसी मङ्गलाशंसा के साथ पञ्चपुण्डीर-प्राजापत्य-स्वरूपा से समन्विता 'पञ्चपर्वात्मिका विश्वविद्या' पञ्चपर्वा प्रकृतिदेवी के इस रहस्यपूर्ण संस्मरण के माध्यम से उपरत हो रही है—

श्रीः

मानव का स्वरूप-परिचय

नामक

तृतीय-वक्तव्य

३

ता० १६। १२। ५६

समय-६॥ से ८ पर्य्यन्त (सायम्)

श्री

पञ्चपुण्डीरा-प्राजापत्यमन्त्रानुगता

'पञ्चपर्वात्मिका-विश्वविद्या'

नामक

द्वितीय वक्तव्य–उपरत

२

—•—

तत्वविमर्शक-योग्य-अधिकारी-जिज्ञासु उपलब्ध हो गए थे। अतएव अन्ततो-गत्वा पुराणपुरुष भगवान् व्यास महर्षि के पावन मुखपङ्कज से यह सरस्वतीधारा प्रवाहित हो ही तो पड़ी कि—

"गुह्य ब्रह्म तदिद ब्रवीमि-न हि मानुषात् श्रेष्ठतर हि किञ्चित्"।

पुराणपुरुष ने कहा कि, "हे ऋषियो! आप लोगों के सम्मुख आज हम यह रहस्यपूर्ण सुगुप्त 'ब्रह्म', अर्थात् 'तत्व' समुपस्थित कर रहे हैं, जिसे सुन कर आप सभी सहसा आश्चर्यविभोर हो जायँगे। आप सभी को अपने प्रश्न के सम्बन्ध में आज से यह उत्तर हृत्प्रतिष्ठ कर ही लेना चाहिए कि-'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्टम्'-'अहं मनुरभवम्' 'अहं सूर्य्य इवाजनि'-'योऽहं-सोऽसौ, योऽसौ-सोऽहम्-'पूर्णमदः-पूर्णमिदम्' इत्यादि नैगमिक सिद्धान्तों के अनुसार विश्वाधिष्ठाता सर्वभूतान्तरात्मा प्रजापति के सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-विराट्-भावों से सर्वात्मना समतुलित प्राज्ञ-तैजस-वैश्वानर-मूर्ति, अतएव सर्वमूर्ति पूर्णता सम्पन्न 'पुरुष' ही अपने हृदयस्थ 'मनु' तत्व के सम्बन्ध से 'मानव' नाम से प्रसिद्ध होता हुआ इस त्रैलोक्य में सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित हो रहा है। सचमुच विश्व में उस मानव से अतिरिक्त और कोई भी श्रेष्ठ नहीं है, जिस नेदिष्ठ श्रेष्ठतर मानव ने अपने प्रज्ञाबल से श्रेष्ठतम देवता-पितर-ब्रह्मा आदि को भी अपनी ज्ञानसीमा में अन्तर्भुक्त करते हुए-'ब्रह्मविद्यया ह वै सर्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते मनुष्याः' इस उदात्त घोषणा का ऐकान्तिक अधिकार प्राप्त कर लिया है।

सर्वश्रेष्ठ मानव, सर्वपितृया वास्तव में श्रेष्ठ श्रेष्ठतर श्रेष्ठतम मानव अपने बुद्धि मन-शरीर-निबन्धन प्रकृतिसिद्ध गुण-धर्मों के प्रभाव से, तथा आत्मसिद्ध शाश्वत मानवधर्म के अनुग्रह से अपने पुराकाल में कैसा, क्या, और कौन था!, एवं आज वर्त्तमान में वही श्रेष्ठतम मानव अपने इस सहजसिद्ध आत्मधर्म्म, तथा प्रतीकभूतात्मक प्राकृतिक धर्म्म के परित्याग से कैसा, क्या, कौन बन गया!, यह महती समस्या एक जटिल प्रश्न बन गया है। अतीत के श्रेष्ठतम भी परिपूर्ण भी मानव की वर्त्तमान में ऐसी निकृष्टतमा दशा, किया हुई या कैसे, और क्यो हो गई!, इस सामयिक प्रश्न के समाधान की जिज्ञासा अभिव्यक्त करता हुआ ही यह भावुक मानव आज की श्रेष्ठमानव 'संसत्' के सम्मुख, इसके प्रज्ञाशील मनीषी महानुभावों के सम्मुख प्रणतभाव से यह निवेदन करने की धृष्टता कर रहा है कि, वे अनुग्रह कर लोकभावुकतानुगता लोकसंग्रहभावना का संरक्षण

श्री

मानव का स्वरूप-परिचय

(तृतीय-वक्तव्य)

३

——※——
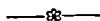
पञ्चपर्वात्मिका विश्वविद्या का उपसंहार करते हुए कल वैदिक आख्यान से सम्बन्ध रखने वाले इस वेदवचन की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया गया था कि- "न वै देवा अतिक्रामन्ति, न पितरः, न पशवः, नासुराः। मनुष्या एवैके अतिक्रामन्ति"। आज हमें आदेश हुआ है कि, वैदिक दृष्टिकोण से 'मानव' के स्वरूप के स्वरूप-परिचय के सम्बन्ध में ही हम कुछ निवेदन करें। प्राजापत्या सृष्टिमर्य्यादा का, दूसरे शब्दों में ईश्वर के द्वारा प्रकृति के माध्यम से निर्दिष्ट सत्य विधि-विधानों का मानव कैसे, और क्यों अतिक्रमण कर जाता है ?, इस प्रश्न के समाधान से प्रधान सम्बन्ध रखने वाले 'मानव' के स्वरूप का परिचय सर्व प्रथम हम आख्यानमाला के माध्यम से भारतवर्ष की संस्कृति के अनन्य संरक्षक-प्रचारक सत्यवतीसुनु भगवान् बादरायण व्यास के द्वारा ही समुपस्थित कर रहे हैं।

सुप्रसिद्ध नैमिषारण्य के सस्यश्यामल-दिव्यतरुपल्लवसुशोभित-गिरिगह्वरनिर्झर-नदीनां स्वात्मारमक-प्रज्ञाविकासक्षेत्रानुगत-शान्त-पावन क्षेत्र में वैदिक तत्त्वज्ञान विमर्श के लिए समवेत ऋषिसंसत् के प्रज्ञाक्षेत्र से किसी अचिन्त्य प्रेरणा से सहसा एक दिन यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न विनिःसृत हो पड़ा कि—

'इस पञ्चपर्वा महा विश्व में सब से श्रेष्ठ कौन ?'

तत्र समवेत महामहर्षियों में से अध्यात्मज्ञाननिष्ठ विश्वेश्वरस्वरूपवेत्ता तपःपूत किसी महर्षि की ओर से संसत् के सम्मुख उक्त प्रश्न का यह समाधान उपस्थित हुआ कि- 'सर्वसकलविशिष्टहरसैकघन, शाश्वतब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध, मायातीत, निरञ्जन, निर्गुण, निर्विकार, अद्वय, दिग्देशकाल से अनन्त, सच्चिदानन्दलक्षण, सर्वधर्म्मोपपन्न, सर्वेश्वर विश्वेश्वर ही इस पञ्चपर्वा विश्व में सर्वश्रेष्ठ है"।

तत्वविमर्शक-योग्य-अधिकारी-जिज्ञासु उपलब्ध हो गए थे। अतएव अन्ततोगत्वा पुराणपुरुष भगवान् व्यास महर्षि के पावन मुखपङ्कज से यह सरस्वतीधारा प्रवाहित हो ही तो पड़ी कि—

"गुह्य ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि-न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्" ।

पुराणपुरुष ने कहा कि, "हे ऋषियो! आप लोगों के सम्मुख आज हम यह रहस्यपूर्ण सुगुप्त 'ब्रह्म', अर्थात् 'तत्त्व' समुपस्थित कर रहे हैं, जिसे सुन कर आप सभी सहसा आश्चर्यविभोर हो जायँगे। आप सभी को अपने प्रश्न के सम्बन्ध में आज से यह उत्तर हृदयप्रतिष्ठ कर ही लेना चाहिए कि–'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्'–'अहं मनुरभवम्'-'अहं सूर्य्य इवाजनि'–'योऽहं–सोऽसौ, योऽसौ–सोऽहम्–'पूर्णमदः–पूर्णमिदम्' इत्यादि नैगमिक सिद्धान्तों के अनुसार विश्वाधिष्ठाता सर्वभूतान्तरात्मा प्रजापति के सर्वज्ञ–हिरण्यगर्भ–विराट्–भावों से सर्वात्मना समतुलित प्राज्ञ-तैजस-वैश्वानर-मूर्ति, अतएव सर्वमूर्ति पूर्णता सम्पन्न 'पुरुष' ही अपने हृदयस्थ 'मनु' तत्त्व के सम्बन्ध से 'मानव' नाम से प्रसिद्ध होता हुआ इस त्रैलोक्य में सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित हो रहा है। सचमुच विश्व में उस मानव से अतिरिक्त और कोई भी श्रेष्ठ नहीं है, जिस नेदिष्ठ श्रेष्ठतर मानव ने अपने प्रज्ञाबल से श्रेष्ठतम देवता–पितर–ऋषि आदि को भी अपनी ज्ञानसीमा में अन्तर्भुक्त करते हुए–'मर्यादया ह वै सर्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते मनुष्याः' इस उदात्त घोषणा का ऐकान्तिक अधिकार प्राप्त कर लिया है।

सर्वश्रेष्ठ मानव, सर्वविद्या वास्तव में श्रेष्ठ श्रेष्ठतर-श्रेष्ठतम मानव अपने बुद्धि मनः–शरीर–निबन्धन प्रकृतिसिद्ध गुण–धर्मों के प्रभाव से, तथा आत्मसिद्ध शाश्वत मानवधर्म के अनुग्रह से अपने पुराकाल में कैसा, क्या, और कौन था!, एवं आज वर्त्तमान में वही श्रेष्ठतम मानव अपने इस सहजसिद्ध आत्मधर्म्म, तथा प्रतीकभूतात्मक प्राकृतिक धर्म्म के परित्याग से कैसा, क्या, कौन बन गया!, यह महती समस्या एक जटिल प्रश्न बन गया है। अतीत के श्रेष्ठतम भी, परिपूर्ण भी मानव की वर्त्तमान में ऐसी निकृष्टतमा दशा, किंवा दुर्दशा कैसे, और क्यों हो गई!, इस सामयिक प्रश्न के समाधान की जिज्ञासा अभिव्यक्त करता हुआ ही यह भावुक मानव आज की श्रेष्ठमानव संसद्' के सम्मुख, इसके प्रज्ञाशील मनीषी महानुभावों के सम्मुख प्रणतभाव से यह निवेदन करने की धृष्टता कर रहा है कि, वे अनुग्रह कर लोकभावुकानुगता लोकसंग्रहभावना का संरक्षण

संसद् में समवेत तत्त्वज्ञ सदस्यों ने इस उत्तर को सुन कर परस्पर मूकभाव से दृष्टिनिक्षेप करते हुए मानो अपने ये ही मनोभाव व्यक्त कर डाले कि, वे इस उत्तर से सन्तुष्ट नहीं हैं। 'यत्तो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष ते मन''-आदि का मूक वातावरण ही मानव के मनोभाव प्रकट कर देता है इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार मनोविज्ञान के पारदर्शी उत्तरप्रदाता महर्षि ने ऋषिसंसद् के इस मानस असन्तोष को तत्काल लक्ष्य बना लिया। एवं तत्क्षण ही उनकी ओर से यह दूसरा उत्तर उपस्थित हो पड़ा कि- 'सर्वेश्वर परात्परब्रह्म की विभूतिलक्षणा महिमा से महामहिम बने हुए ज्ञान क्रिया-अर्थ-शक्तिमय द्युलोकाधिष्ठाता सर्वकर्मूर्त्ति इन्द्र, अन्तरिक्षलोकाधिष्ठाता हिरण्यगर्भमूर्त्ति वायु, एवं पार्थिवलोकाधिष्ठाता विराट्-मूर्त्ति अग्नि ही इस विश्व में सर्वश्रेष्ठ माने जायेंगे"। पुनः वही तटस्थता, उदासीनवदासीनता, एवं पारस्परिक मूकदृष्टिनिक्षेप। तत्त्ववेत्ता महर्षि की ओर से इसी क्रमिक उदासीनता-परम्परा के अनुपात से यह समाधान-परम्परा उपस्थित हुई कि—

"महानिःश्वसित वेदमूर्त्ति गायत्रीमात्रिक वेद के स्रष्टा सृष्ट्युत्पादक भगवान् ब्रह्मा सर्वश्रेष्ठ हैं किंवा सर्वद्रुमयज्ञमूर्त्ति वामन-सत्यनारायण-गोसव नामक गोलोकाधिष्ठाता सृष्टिपालक भगवान् विष्णु सर्वश्रेष्ठ हैं किंवा सर्वाभादमूर्त्ति-भूतपति-पशुपति-यत्र मायोऽवस्थित, दक्षिणामूर्त्ति, पञ्चमुख, सर्वरक्षक सर्वसंहारक भगवान् रुद्र सर्वश्रेष्ठ हैं, किंवा सृष्टिरहस्यवेत्ता, अतएव सर्ववेत्ता प्राणविद्याविद् महामहर्षि सर्वश्रेष्ठ हैं किंवा प्राणविद्या के आधार पर यज्ञविद्या का वितान कर इसके द्वारा मानवसमाज के विविध तापों का उन्मूलन करने वाले विश्वमानव के लिए शान्तिसन्देशवाहक करने वाले वेदवित् भारतीय विद्वान् सर्वश्रेष्ठ हैं" आदि आदि।

तथाकथित पारम्परिक उत्तरों के साथ साथ ही उत्तरप्रदाता महर्षि अपने अन्तर्जगत् में यह भी अनुभव करते गए कि, संसद् का एक भी सदस्य इन उत्तरों में से एक भी उत्तर से अंशतः भी तो सन्तुष्ट नहीं है। वही प्रत्यक्ष परिणाम में परिणत भी हुआ। सम्पूर्ण उत्तरों को अपने मानस जगत् में केवल कल्पनाभावात्मक काल्पनिक उत्तर ही अनुभूत करने वाले किसी भी सदस्य के मुख से सन्तुष्ट्यात्मक-किंवा तुष्ट्यात्मक 'ओमित्येतत्' इस स्वीकृतिलक्षण प्रणव का उच्चारण न हुआ। पुराणपुरुष संसद् के इस मूकभाव से तटस्थता से सहसा शान्तानन्दविभोर ही तो हो पड़े इसलिए कि, आज की इस ऋषिसंसद् में इन्हें वास्तविक तत्त्वपरीक्षक-

अस्मिता–अविद्या आदि से बुद्धिगर्वनिष्ठ बन जाने वाले मानव का एकप्रकार से बुद्धिविमोहन के द्वारा आत्मस्वरूप-व्यामोहन ही हो जाता है, जिसे व्यक्तित्व विमोहन भी कहा गया है। प्रत्यक्षप्रमाणमूला परदर्शनानुगता भावुकता से आकर्षित मनोवशवर्त्ती मानव गतानुगतिक बनता हुआ स्वस्वरूप से सर्वथा विपरीत अन्धानुकरण का ही अनुगामी बन जाता है। यों जब यह ईश्वर से भी अधिक पुरुषार्थ करने के लिए आकुल हो पड़ता है, दूसरे शब्दों में ईश्वरीय नियमों की अवहेलना कर अपनी मानस कल्पनाओं के आधार पर जब यह काल्पनिक विधि–विधान बनाने में प्रवृत्त हो जाता है तो उस दशा में अवश्य ही इसका स्खलन हो जाता है, जो कि इसका अतिक्रमण ही माना गया है। इस अतिक्रमण से इसे जो जो दुष्परिणाम भोगने पड़ते हैं उन्हें मानव अपने अन्तःकरण में अनुभूत करता हुआ भी पदप्रतिष्ठा–व्यामोहनात्मक व्यक्तित्व–विमोहन के पाशबन्धन के कारण भले ही अपने श्रीमुख से व्यक्त न करे। किन्तु कालान्तर में इनके विस्फोटन से कभी मानव अपना परित्राण नहीं कर सकता।

'मानव' शब्द का अक्षरार्थ है 'मनु' का पुत्र। अतएव 'मनोरपत्यं मानवः' लक्षण हुआ है मानव शब्द का। क्या मनु से वे राजर्षि मनु अभिप्रेत हैं, जिनका इतिहास-पुराणादि में एक ऐतिहासिक मानवरूप से वर्णन आता है? । नहीं। 'मनु' तो उस प्रकृतिसिद्ध नित्य तत्त्व का नाम है, जो विश्व की मूलप्रतिष्ठा माना गया है एवं श्रद्धातत्त्व जिस मनुतत्त्व की पत्नी माना गया है। विश्वपर्वविद्या में हमने 'प्रजापतिश्चरति गर्भे०' इत्यादि रूप से कल के वक्तव्य में सत्यस्य सत्य-रूप केन्द्रसत्य का दिग्दर्शन कराया था। उस प्राजापत्य केन्द्रसत्य का ही नाम 'मनु' तत्त्व है। यद्यपि विश्व के सभी जड़–चेतन पदार्थों का यह केन्द्रसत्य अनुग्राहक बना हुआ है। और इस दृष्टि से सभी पदार्थ इस मनुतत्त्व की सन्तति बनते हुए 'मानव' कहलाने चाहिए थे। तथापि क्योंकि मानव से इतर जड़–चेतन पदार्थों में क्योंकि यह मनुतत्त्व स्वतन्त्र केन्द्रलक्षण उक्थरूप से प्रतिष्ठित न होकर केवल अर्कभाव से, रश्मिभाव से प्रतिष्ठित रहता है। अतएव वे मनु से साक्षात् रूप से उपकृत नहीं हैं, जब कि पुरुष में मनु स्वतन्त्र उक्थरूप से प्रतिष्ठित है। यही तो मानव की व्यक्तित्वमूला परिपूर्णता है, सर्वश्रेष्ठता है। सृष्टि के विभिन्न अनुबन्धों से यह प्राजापत्य केन्द्रस्थ मनुतत्त्व अग्नि–इन्द्र–प्राण–शाश्वतब्रह्म–आदि रूप से विभिन्न नामों से समन्वित हुआ है, जिसका यों निरूपण हुआ है–

करते हुए मानव के स्वरूप-परिचय के सम्बन्ध में किसी वैसे मौलिक-चिरन्तन-तत्त्व के अन्वेषण में ही प्रवृत्त हों, जिसके द्वारा द्रुतवेग से अपनी मौलिकता विस्मृत करता हुआ विश्वमानव, विशेषतः निगमनिष्ठ भारतीय मानव उद्बोधन प्राप्त कर सके, एवं तन्माध्यम से अपनी ज्ञानविज्ञानपूर्णा संस्कृतिनिष्ठा के बल से पुन एक बार अपनी इस पौरुषता से मानवधर्म्म-विरोधी असुरों को विकम्पित कर दे कि—'न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्'।

प्ररोचनात्मक उक्त आख्यानमाला के द्वारा हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना है कि, सर्वेश्वर परमेश्वर के साथ सालोक्य-सामीप्य-सारूप्य-सायुज्यभाव-द्वारा अद्वयभाव में यदि कोई परिणत हो सकता है, तो वैसा प्राणी सम्पूर्ण विश्व में एकमात्र मानव ही है। ईश्वरप्रजापति की पूर्ण शक्तियों से अनुप्राणित, केन्द्रस्थ प्रजापतिरूप शाश्वतब्रह्मलक्षण 'मनु' तत्त्व से नित्य समन्वित इस आत्ममनु प्रतिष्ठा से ही 'मानव' नाम से प्रसिद्ध मनु का अपत्य यह मानवश्रेष्ठ सचमुच अपने मानवीय स्वरूप से सर्वश्रेष्ठ है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं। फिर ऐसे परिपूर्ण भी, सर्वश्रेष्ठ भी एकमात्र मानव ने ही विश्वमर्य्यादा का अतिक्रमण क्यों किया ?, सचमुच यह दुरधिगम्य प्रश्न है, जिसका हमें अवधानपूर्वक भाव के तारतम्य के द्वारा अन्वेषण कर लेना है।

मानव ने क्यों अतिक्रमण किया ?, इस प्रश्न की मूलभूमिका यही मानी जायगी कि, ईश्वर में जो कुछ भी विभूतियाँ हैं, वे तो सब इस मानव में हैं ही। किन्तु जो विभूतियाँ ईश्वर में नहीं हैं, मानव में वे विभूतियाँ ? और आशाती हैं। 'क्लेशकर्म्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' इस पातञ्जलयोग-सिद्धान्तानुसार ईश्वर जहाँ अविद्या-अस्मिता-आसक्ति-अभिनिवेश-रूप क्लेश-भावों से, कर्म्मविपाक-आशयों से, ईर्ष्या-मद-दम्भ-मात्सर्य्यादि पाप्मा-लक्षणा आसुरी विभूतियों से सर्वथा असंस्पृष्ट है वहाँ मानव अपने स्वतन्त्र पुरुषार्थ का दुरुपयोग करता हुआ इन विभूतियों ! का अर्जन करता हुआ मानो ईश्वर से भी कुछ अधिक बन जाने के लिए आतुर हो जाता है। और निश्चयेन यह अधिक बन जाने का व्यामोहन ही मानव को ईश्वरीय मर्य्यादाओं से अतिक्रान्त कर देता है। सरल शब्दों में ईश्वरीय नियमरूप सत्य-सनातन-नियमों के ठीक विपरीत अपने काल्पनिक मनोभावों से उत्पन्न काल्पनिक विधि-विधानों का सवर्जन कर इनके व्यामोहन-पाश से आबद्ध मानव स्वस्वरूप को विस्मृत कर अतिक्रमण कर बैठता है ईश्वरीय मर्य्यादाओं का। दम्भ-मान-मद-अभिनिवेश-आसक्ति-

चारों की समन्वित अवस्था का ही नाम है–'मानव', और यही है मानव–स्वरूप की प्रारम्भिक रूपरेखा, जिसके आधार पर हमें मानव के स्वरूप से परिचित होना है। एवं इस परिचय-प्रसङ्ग में पार्थिव प्राणियों के चार श्रेणि-विभागों को ही सर्वप्रथम हमें अपना लक्ष्य बना लेना है।

सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च को सबसे पहिले आप चेतनवर्ग, जड़वर्ग, भेद से दो श्रेणियों में विभक्त कीजिए। यह स्मरण रखिए कि, सब व्यापक आत्मा की दृष्टि से इन दो वर्गभेदों का कोई सम्बन्ध नहीं है। जड़पदार्थ हो, अथवा चेतनप्राणी, सभी में आत्मा निगूढ़रूप से प्रतिष्ठित है, जैसा कि–'ईशावास्यमिदं सर्वं–यत्-किञ्च जगत्यां जगत्' सिद्धान्त से स्पष्ट है। इसी आधार पर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। सब साधारण ने ऐसा मान रक्खा है कि, जिसमें आत्मा है, वह तो चेतन है। एवं जिसमें आत्मा नहीं है, वह जड़ है। किन्तु तत्त्वदृष्टि से यह मान्यता सर्वथा भ्रान्त है। आत्मसत्ता एवं आत्मा का अभाव कभी जड़-चेतन वर्ग का विभाजक नहीं है। क्योंकि आत्मा तो जड़ में भी है, और चेतन में भी है। इस वर्गभेद का विभाजक है–इन्द्रियभाव, जैसा कि–'सेन्द्रियं चेतनद्रव्यं-निरिन्द्रियमचेतनम्' (चरकसंहिता) इस वचन से स्पष्ट है। जिन पदार्थों में इन्द्रियों का विकास है, वे चेतन हैं, जिनमें इन्द्रियों का विकास नहीं है, वे जड़ हैं। ध्यान दीजिए इस मन्त्र पर –

> पराञ्चि खानि व्यतृणत्-स्वयम्भू–
> तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
> कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष–
> दावृत्त चक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥
>
> —उपनिषत्

प्रजापति ने 'ख' रूप इन्द्रिय–विवर बाहिर की ओर बनाए हैं। अतएव प्राणी अपने से बाहिर की ओर ही देखता है। सामने-भौतिक जगत् पर ही तो हमारी दृष्टि जाती है। किन्तु हम स्वदर्शन–आत्मदर्शन–में असमर्थ बने रहते हैं। इन्द्रियज्ञान ही बहिर्ज्ञान है। जिसके दम्भ में आकर हम यह कहने लग पड़ते हैं कि –'हम तो देख लेंगे, तभी मानेंगे'। इसी मतव्यामोहन से इन्द्रियवादी प्रत्यक्षवादी परोक्ष प्राणरूप अन्तर्जगत् की सत्ता के बोध से वञ्चित बने रह जाते हैं

आत्मैव देवताः सर्वा सर्वमात्मन्यवस्थितम् ॥
आत्मा हि जनयत्येषां कर्म्मयोग शरीरिणाम् ॥१॥
प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ॥
रुक्माभ स्वप्नधीगम्यं तं विद्यात् पुरुषं परम् ॥२॥
एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ॥
इन्द्रमेके, परे प्राणं, मपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥३॥
एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य तिष्ठति ॥
जन्म-वृद्धि-क्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् ॥४॥
—मनु

तात्पर्य्य यही है कि, केन्द्रस्थ आत्मतत्त्व का ही नाम 'मनु' है। इसका स्वरूपतः विकास जिस प्राणी में हुआ है, वही 'मानव' अभिधा का अधिकारी है, जिसका स्पष्ट अर्थ यही होता है कि—'मानव' उसका नाम है, जो आत्मस्वरूप से सर्वात्मना अभिव्यक्त है। यहीं मानव के स्वरूप के सम्बन्ध में हमें विशेषरूप से कुछ समझ लेना है। पञ्चपर्वा विश्व में भूपिण्ड—चन्द्रमा—सूर्य—ये तीन विश्वपर्व प्रत्यक्षदृष्ट हैं, आपके सम्मुख हैं, व्यक्त हैं। तीन से अतिरिक्त जो सुसूक्ष्म कोई मायात्मक चौथा सर्वाधार तत्त्व है, वही अव्यक्त है। यों विश्व को आप एक अव्यक्तभाव, तीन व्यक्तभाव, रूप से चार पर्वों में भी विभक्त मान सकते हैं। इन चारों से ही मानव के स्वरूप का निर्म्माण हुआ है। अतएव इन चारों पर्वों की समन्वित अवस्था को ही 'मानव कहा जायगा, कहा गया है। भूपिण्ड का जो भाग मानव में आता है उसे मानवीय 'शरीर' कहा गया है। चन्द्रमा का अंश मानवीय 'मन' कहलाया है। सूर्य्य का अंश मानवीया 'बुद्धि' कहलाई है। एवं अव्यक्तांश ही मानवीय 'आत्मा' कहलाया है। यही प्राणमूर्त्ति अव्यक्तात्मा मनु' तत्त्व है, जिसके स्वस्वरूप से विकसित होने के कारण ही मानव को मानव कहा गया है। यों मानव के स्वरूप में लोकातीत—अव्यक्त—भावापन्न आत्मा, सौरी बुद्धि, चान्द्र मन, पार्थिव शरीर इन चार भावों की सत्ता सिद्ध होजाती है, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि, केवल शरीर भी मानव नहीं है, केवल मन भी मानव नहीं है केवल बुद्धि भी मानव नहीं है, एवं केवल आत्मा भी मानव नहीं है। अपितु आत्मा—बुद्धि—मन—शरीर, इन

चारों की समन्वित अवस्था का ही नाम है–'मानव', और यही है मानव–स्वरूप की प्रारम्भिक रूपरेखा, जिसके आधार पर हमें मानव के स्वरूप से परिचित होना है। एवं इस परिचय-प्रसङ्ग में पार्थिव प्राणियों के चार श्रेणि-विभागों को ही सर्वप्रथम हमें अपना लक्ष्य बना लेना है।

सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च को सबसे पहिले आप चेतनवर्ग, जड़वर्ग, भेद से दो श्रेणियों में विभक्त कीजिए। यह स्मरण रखिए कि, सब व्यापक आत्मा की दृष्टि से इन दो वर्गभेदों का कोई सम्बन्ध नहीं है। जड़पदार्थ हो, अथवा चेतनप्राणी, सभी में आत्मा निगूढ़रूप से प्रतिष्ठित है, जैसा कि–'ईशावास्यमिदं सर्वं–यत्-किञ्च जगत्यां जगत्' सिद्धान्त से स्पष्ट है। इसी आधार पर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। सर्वसाधारण ने ऐसा मान रक्खा है कि, जिसमें आत्मा है, वह तो चेतन है। एवं जिसमें आत्मा नहीं है, वह जड़ है। किन्तु तत्त्वदृष्टि से यह मान्यता सर्वथा भ्रान्त है। आत्मसत्ता एवं आत्मा का अभाव कभी जड़-चेतन वर्ग का विभाजक नहीं है। क्योंकि आत्मा तो जड़ में भी है, और चेतन में भी है। इस वर्गभेद का विभाजक है–इन्द्रियभाव, जैसा कि–'सेन्द्रियं चेतनद्रव्यं-निरिन्द्रियमचेतनम्' (चरकसंहिता) इस वचन से स्पष्ट है। जिन पदार्थों में इन्द्रियों का विकास है, वे चेतन हैं, जिनमें इन्द्रियों का विकास नहीं है, वे जड़ हैं। ध्यान दीजिए इस मन्त्र पर –

> पराञ्चि खानि व्यतृणत्- स्वयम्भू–
> स्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
> कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष–
> दावृत्त चक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥
>
> —उपनिषत्

प्रजापति ने 'ख' रूप इन्द्रिय-विवर बाहिर की ओर बनाए हैं। अतएव प्राणी अपने से बाहिर की ओर ही देखता है। सामने-भौतिक जगत् पर ही तो हमारी दृष्टि जाती है। किन्तु हम स्वदर्शन–आत्मदर्शन–में असमर्थ बने रहते हैं। इन्द्रियज्ञान ही बहिर्ज्ञान है। जिसके दम्भ में आकर हम यह कहने लग पड़ते हैं कि,–'हम तो देख लेंगे, तभी मानेंगे'। इसी मूलमिथ्यामोहन से इन्द्रियवादी प्रत्यक्षवादी परोक्ष मायामय अन्तर्जगत् की सत्ता के बोध से वञ्चित बने रह जाते हैं

केवल बहिर्दृष्टिपरायण पशुओं की भाँति। आज सत्य, अहिंसा, आदि भावों का पक्ष ही समादर हो रहा है, जो इस राष्ट्र के लिए महद्भाग्य ही माना जायगा। स्वागत ही किया जायगा राष्ट्र की इस शीलवृत्ति का। किन्तु कहीं ऐसा तो नहीं है कि, हमनें ऐन्द्रियक सत्य को ही सत्य मान बैठने की भ्रान्ति कर डाली हो, किंवा मानस काल्पनिक अनुभूति के आधार पर ही कल्पिता प्रत्यक्षा अहिंसा को ही प्रश्रय दे डाला हो ?। यदि ऐसा हुआ, तो निश्चयेन ऐसे काल्पनिक सत्य-अहिंसा-भावों से हम अपने परिपूर्ण मानवस्वरूप को प्रत्यक्षप्रमाणोत्पादिका कल्पित मानवता के आवेश-अभिनिवेश से आक्रान्त होकर उस शून्यवादात्मक अनात्मवाद में ही परिणत कर लेंगे, जिसका महावरदान ! दुःखं दुःखं ही माना गया है। अतएव यह आवश्यक है कि, केवल मानस-ऐन्द्रियक-भावों के प्रत्यक्षभावनिबन्धन, अतएव तात्कालिकरूप से प्रभावोत्पादक सत्य-अहिंसा-आदि शब्दमात्रों के भावावेश से प्रभावित न होकर इनके मौलिक तत्त्वस्वरूप को ही हमें लक्ष्य बनाना चाहिए। स्पष्ट है कि, जो मानव आवेश में आकर भूल देखने में भूल कर जाया करते हैं, उन्हें यावज्जीवन पश्चात्ताप करना पड़ता है। अतएव भूल देखने में कभी भूल नहीं होनी चाहिए।

उदाहरण के लिए 'सत्य' शब्द को ही लीजिए। सब साधारण की दृष्टि में सत्यभाषण का बहुत बड़ा महत्त्व है। होना भी चाहिए। किन्तु श्रुतिदृष्टि कहती है—सत्य तो तत्त्वतः आत्मा का स्वरूप है जिसका वागिन्द्रिय से कदापि अभिनय नहीं किया जा सकता। व्यावहारिक सत्य का भाषण भले ही सत्यभाषण मान लिया जाय। किन्तु परमार्थ सत्य कदापि भाषण का विषय नहीं बना करता। वस्तुतस्तु व्यवहार में भी अमुक सीमा पर्य्यन्त मानवीय इन्द्रियमात्र सत्य का स्पर्श मात्र ही कर सकता है, सर्वात्मना सत्य का ग्रहण नहीं कर सकता। घटिका-यन्त्र आपके सामने है। आपसे पूँछा जाता है—घड़ी देख कर बतलाइए। इस समय ठीक ठीक क्या बजा है ?। आपकी दृष्टि जाती है घड़ी की सुई पर, और आप कह बैठे हैं—'इस समय ठीक आठ बजे हैं'। क्या आपका यह 'ठीक' शब्द 'ठीक' है ?। नहीं है। इसलिए यह 'ठीक' ठीक नहीं है कि जब आपकी आँख ठीक आठ पर जाती है उसी क्षण में तो आप बोल नहीं सकते, जब बोलते हैं—उस समय दृष्टि से सम्बन्धित आठ का समय अनेक क्षण अतिक्रान्त कर जाता है। अतएव स्पष्ट है कि—व्यावहारिक ऐन्द्रियक सत्य भी इन्द्रियगम्य नहीं है ठीक ठीक रूप से। तो अब बतलाइए क्या महत्त्व रहा सत्यभाषण का ?। इसी आधार पर स्वयं वेद ने इस सम्बन्ध में इसी विप्रतिपत्ति का उत्थान कर एक कोमलदृष्टि से उस का समाधान

किया है। यज्ञ में दीक्षित यजमान के लिए जब–'स वै सत्यमेव वदेत्'–अर्थात् यज्ञावभृथपर्यन्त यज्ञकर्ता को सत्य ही बोलना चाहिए, यह आदेश दिया जाता है, तो तत्काल ऋषि प्रश्न कर बैठते हैं कि—'कोऽर्हति मनुष्येषु सत्यं वदितुम्'। अर्थात् इन्द्रियद्वारा जब सत्य पकड़ में ही नहीं आ सकता, तो उसे सत्यभाषण का आदेश किस आधार पर दे दिया गया ! ।

स्वयं श्रुति समाधान करती है–'चक्षुर्वै सत्यम्'। क्या चर्मचक्षुओं का नाम सत्य है ! । नहीं । यह तो चार्वाक की, शून्यवादी नास्तिक की मिथ्यादृष्टि है, जिसे प्रत्यक्षदृष्टि कहा जाता है, एवं जिसका सत्य से कोई सम्बन्ध नहीं है–'प्रत्यक्षमेवेति चार्वाका'। चक्षु का अर्थ है यहाँ विज्ञानदृष्टि तत्त्वदृष्टि, जिसका 'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा' से स्पष्टीकरण हुआ है। सुसूक्ष्म प्राणविज्ञान ही तत्त्वविज्ञान है। एवं यही विज्ञानदृष्टि वास्तविक दृष्टि है, जिस के माध्यम से मानव की बुद्धि शनैः शनैः केन्द्रस्थ सत्य तत्त्व की अनुगामिनी बन जाया करती है। वागिन्द्रिय से कदापि सत्य परिगृहीत नहीं होता। इसी सम्बन्ध में वेद में एक आख्यान आता है, जिसकी संक्षिप्त रूपरेखा यही है कि–'एक बार मन, और वाणी में परस्पर अहंश्रेयो–भाव उदित हो पड़ा। 'यदि मैं संकल्प न करूँ, तो तुम कुछ बोल ही नहीं सकती'–इस हेतु को आगे करते हुए मन ने वाणी से कह डाला कि–मैं ही तुमसे श्रेष्ठ हूँ, बड़ा हूँ'। ठीक इसके विपरीत–'यदि मैं न रहूँ– तो तुम्हारा संकल्प संकल्प ही बना रह जाय, वह कभी काव्यरूप में परिणत न हो' इस तर्क को आगे कर वाणी ने मन से कह डाला कि, 'मैं ही तुम से बड़ी हूँ'। दोनों में यों–'मैं बड़ा–मैं बड़ी' इसप्रकार की अहमहमिका उत्पन्न हो पड़ी। दोनों जब परस्पर निर्णय करने में असमर्थ हो गए, तो प्रजापति के समीप पहुँचे निर्णय कराने के लिए। प्रजापति ने कह दिया कि–'मन ही वाणी से बड़ा है'। फिर क्या था। वाणी रुष्ट हो गई प्रजापति से। और यह कहती हुई बाहिर की ओर लौट गई वाणी कि आज से मैं तुम्हारे लिए हवि का वहन न करूँगी। यही कारण है कि, प्रजापति के लिए बिना मन्त्रोच्चारण के उपांशु ही आहुति दी जाती है"।

आख्यान का रहस्यार्थ स्पष्ट है। वाणी की अपेक्षा मन आत्मसत्यप्रजापति के अधिक समीप है। जिनका मन आत्मसत्य से समन्वित हो जाता है, उनके संकल्प बिना वाणी के भी पूरे हो जाते हैं। एवं जिनके संकल्प आत्मसत्य से पराङ्मुख हो जाते हैं, उनके संकल्प वाणी से भी पूरे नहीं होते। मानना पड़ेगा कि,

आत्मसत्य ही सत्य की वास्तविक परिभाषा है, जिसका प्रत्याख्यान नहीं होता। वाणी का उद्घोष तो सत्य का स्वरूप अभिभूत ही कर देता है। करना यहाँ धर्म है, कहना अधर्म है। विधि ही यहाँ धर्म की परिभाषा है, निषेध नहीं। घोषणाओं की अपेक्षा कर्त्तव्यनिष्ठा ही यहाँ सत्योपासना का महान् राजपथ माना गया है, जिसका-सत्य-सत्य शब्द के घोषणापूर्ण आडम्बरों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

यही स्थिति 'अहिंसा' शब्द की है। 'किसी को पीड़ा न पहुँचाना' कदापि अहिंसातत्त्व का स्वरूपलक्षण नहीं है। क्योंकि अहिंसा का भी सम्बन्ध सुसूक्ष्म प्राणतत्त्व से ही सम्भव है। ऐसे भी हिंसा कर्म्म हैं, जिनके अनुगमन से मानव स्वास्थ्य लाभ करता है। अतः ऐसी हिंसा भी अहिंसा ही मानी जायगी। ऐसे भी अहिंसात्मक करुणाभाव हैं, जिनसे मानव का स्वरूप ही उच्छिन्न हो जाता है। ऐसी अहिंसा भी हिंसा ही कहा जायगी। केवल प्रत्यक्ष-स्थूलदृष्टि से कदापि हिंसा-अहिंसा का निर्णय नहीं किया जा सकता। 'मा हिंस्यात्-सर्वा भूतानि' का प्राणपरिभाषा पर ही विश्राम है। स्थूलदृष्टि से तो अहिंसा के लिए इसलिए कोई स्थान ही नहीं रह जाता कि,-'जीवो जीवस्य नाशकः' के अनुसार प्रतिक्षण विलक्षणरूप से परिवर्तित विश्व के प्रत्येक पदार्थ में अग्नि-सोम-लक्षण अन्न-अन्नादभाव प्रक्रान्त हैं। सब खाने वाले हैं, सब खाद्य हैं। 'सर्वमिदमन्नादः, सर्वमिदमन्नम्' सिद्धान्त को वैज्ञानिकता का कौन अहिंसावादी विरोध कर सकेगा ?। 'यो मा ददाति स इ देव मावत्। अहमन्न-मन्नमदन्तमद्मि' (श्रुति) सिद्धान्त प्रसिद्ध है। जो मुझे उत्पन्न करता है, अन्ततः वही मुझे खा जाता है। मैं उसका अन्न बन रहा हूँ। और उस खाते हुए को मैं भी खा रहा हूँ। फिर क्या महत्त्व शेष रह जाता है प्रत्यक्षप्रमाणमूला इन्द्रियसमाधा अवस्था आपातरमणीया अहिंसा-अहिंसा के आन्दोलन का ?। 'स्वस्वरूपसंरक्षण-पूर्वक परस्वरूपसंरक्षणकर्म्म' से सम्बन्ध रखने वाले अहिंसाबीज का 'स्वस्वरूप, और परस्वरूप ही आधार बना करता है जिसकी स्वरूपव्याख्या आज का विषय नहीं है। इस प्रासङ्गिक चर्चा को यहीं उपरत कर पुनः प्रक्रान्त भेदविभाग की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जा रहा है।

निवेदन किया गया है कि, जिन पदार्थों में इन्द्रियों का विकास है उन्हें चेतनद्रव्य कहा गया है, एवं जिनमें इन्द्रियविवर नहीं हैं अतएव जिनके केन्द्रस्थ आत्मज्योतिर्मय को बहिःप्रसार का अवसर नहीं मिला, वे अचेतनद्रव्य हैं। यों

सम्पूर्ण पदार्थों को आरम्भ में हम चेतन, जड़ अर्थात् सेन्द्रिय-निरिन्द्रिय-भेद से दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। दोनों में किस का स्थान श्रेष्ठ है ?, उत्तर है—भूताना प्राणिन श्रेष्ठाः'। अर्थात् सम्पूर्ण भूत-भौतिक पदार्थों में जो भौतिक पदार्थ इन्द्रियप्राणों से समन्वित हैं, वे निरिन्द्रिय भूतपदार्थों के समतुलन में श्रेष्ठ हैं। अचर विभाग जड़वर्ग है चर विभाग चेतनवर्ग है। 'जड़' का अर्थ है बाह्य भौतिक-शरीरभाव, एवं चेतनभाव का अर्थ है समनस्क इन्द्रियभाव। इन्द्रप्राण ही इन्द्रिय की प्रतिष्ठा है। प्रज्ञाप्राणात्मक प्रज्ञान नामक चान्द्र मन का प्रज्ञात्मक प्राण हीं इन्द्र है। इससे समन्वित होकर ही इन्द्रियाँ स्वव्यापार में समर्थ बनती हैं। बिना मन के इन्द्रियों का व्यापार असम्भव है। अतएव सेन्द्रिय जीव का अर्थ है-समनस्क जीव एवं निरिन्द्रिय जीव का अर्थ है-अमनस्क जड़ भूत। तात्पर्य्य-जिनमें केवल पृथिवी का भूतभाग ही प्रधानरूप से व्यक्त रहता है ऐसे लोष्ट-पाषाण-मृत्पिण्डादि केवल शरीरधर्म्मा-शरीरजीवी अमनस्क-अनिन्द्रिय पार्थिव पदार्थ ही 'जड़' हैं। एवं जिनमें पृथिवी के साथ साथ चान्द्र भाग भी व्यक्त हो जाता है वे ही समनस्क-सेन्द्रिय-चेतनजीव कहलाए हैं, जिनके 'कृमि-कीट-पक्षी-पशु' ये चार विवर्त्त माने जा सकते हैं। सूक्ष्मदृष्टि से इन चारों समनस्क जीवों में भी पार्थिव-चान्द्र-मात्रा की क्रमिक अभिवृद्धि से यद्यपि श्रेणिविभाग माना जा सकता है। तथापि इन चारों का पर्य्यवसान है मनस्तन्त्र पर ही। अतएव इनका एक ही वर्ग मान लिया जाता है।

इन्हीं चारों मनोजीवी जीवों में से विशेष प्रकार के कृमियों-(सर्पों), भ्रमरादि कीटों, चक्रवाक-पिक-शुकादि पक्षियों, तथा गज-तुरगादि-पशुओं में सामान्य कृमि-कीट-पक्षी-पशु-आदि की अपेक्षा कुछ विशेषता रहती है, जिसे कहा गया है बुद्धिशीलता ऐसे भी वर्ग हैं इन चेतन जीवों में, जिनमें बुद्धिगर्विष्ठ मानव की अपेक्षा भी विशेष बुद्धियाँ उपलब्ध हैं। इस दृष्टि से इन चतुर्विध चेतन-जीवों के आगे चल कर मनोजीवी प्राणी, बुद्धिजीवी प्राणी, भेद से दो श्रेणिविभाग हो जाते हैं। जिन चेतन-जीवों में चन्द्रमा के साथ साथ सूर्य्य के प्राण का भी समन्वय हो जाता है, वे ही बुद्धिजीवी कहलाए हैं। 'ज्ञानमस्ति समस्तस्य जन्तो र्विषयगोचरे' के अनुसार मानस ज्ञान जहाँ प्राणिसामान्य में है, वहाँ बौद्धिक विज्ञान तथाविध विशेष पक्षी-पशुओं का ही धर्म्म माना गया है, जो सामान्य पक्षी-पशु श्रेणि की अपेक्षा श्रेष्ठ माने जायेंगे। यही तीसरा प्राणीवर्ग होगा, जिसे लक्ष्य बना कर कहा जायगा—'प्राणिना बुद्धिजीविन श्रेष्ठा'

शरीरजीवी पाषाणादि जड़ पदार्थ, मनोजीवी सामान्य पक्षी-पशु आदि चेतन-जीव, बुद्धिजीवी विशेष पक्षी-पशु-आदि, इसप्रकार तीन वर्ग हो गए प्राणीजगत् में। यहाँ आकर व्यक्त विश्व से सम्बन्ध रखने वाले पृथिवी-चन्द्रमा-सूर्य-इन तीन भावों की परिसमाप्ति हो गई पार्थिव विवर्त्त की दृष्टि से। भूपृष्ठ पर प्रतिष्ठित जड़-पदार्थ शरीरधर्म्मा हैं, सामान्य पश्वादि प्राणी मनोधर्म्मा हैं, एवं विशेष पश्वादि बुद्धिधर्म्मा हैं। तीनों क्रमशः पृथिवी-चन्द्र-सूर्य्य-भावों से अनुप्राणित रहते हुए प्रथम-मध्यम-उत्तम-श्रेणियों में विभक्त हैं।

स्वयं चान्द्र प्राणिसर्ग आठ भागों में विभक्त है, सौर प्राणसर्ग ११ भागों में विभक्त है, जिन इन दोनों सर्गों का प्रथम दिन के वक्तव्य में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। इन सभी प्राणीविध-तथा प्राणविध जीवसर्गों का सूर्य्य पर अवसान है। अब शेष रह जाता है-अव्यक्त आत्मभाव। जिस प्राणी में इस आत्मभाव की स्वस्वरूप से पूर्ण अभिव्यक्ति होगी, वही सर्वश्रेष्ठ प्राणी माना जायगा, वही सर्वोत्तम आत्मनिष्ठ प्राणी माना जायगा, एवं जिसे इस सर्वोत्तम आत्मभाव के ही कारण पार्थिव त्रिविध सर्ग, अष्टविध चान्द्र प्राणिसर्ग, नवविंशतिविध सौर देवप्राणसर्ग, इन यथयावत् त्रैलोक्य-सर्गों की अपेक्षा श्रेष्ठ-श्रेष्ठतर-श्रेष्ठतम माना जायगा, एवं वही चौथा-'मानव' सर्ग होगा, जिसके लिए 'बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः' यह कहा गया है। शरीरजीवी-मनोजीवी-बुद्धिजीवी-आत्मनिष्ठ-इन चार वर्गों की क्रमिक श्रेष्ठता-ज्येष्ठता को लक्ष्य बना कर ही भगवान् मनु ने कहा है—

> भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः, प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
> बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः ॥
>
> —मनुः

१—[(क)—लोष्ट-पाषाणादि-भूतभावाः, (ख)—ओषधिवनस्पतयश्च]—पार्थिवाः (शरीरजीविनः)—प्रथमाः

२—सामान्याः कृमि-कीट-पक्षी-पशु-भावाः]—चान्द्राः (मनोजीविनः)—मध्यमाः

३—विशेषाः-कृमि-कीट-पक्षी-पशु-भावाः]—सौराः (बुद्धिजीविनः)—उत्तमाः

४—आत्मस्वरूपनिष्ठा—मानवाः]—अव्यक्तानुगताः (आत्मनिष्ठाः)—सर्वोत्तमाः

क्या कृमि-कीट-पक्षी-पशुओं में आत्मा नहीं है ? । कौन कहता है कि नहीं है । आत्मा कहाँ नहीं है । सर्वत्र ही आत्मा का साम्राज्य है । फिर केवल मानव को ही आत्मनिष्ठ क्यों कहा गया ? । प्रश्न बड़ा गम्भीर है, जिसका महान् तत्त्ववाद से सम्बन्ध है । जीव और आत्मा, दोनों शब्द दर्शनवादमूला भ्रान्त-दृष्टि से आज पर्य्याय बने हुये हैं । अतएव लोक में 'जीवात्मा' शब्द प्रचलित हो रहा है । वस्तुत जीव का अक्षरप्रकृति से सम्बन्ध है, जैसाकि 'जीवभूतां महाबाहो ! ययेद धार्य्यते जगत्' (गीता) से स्पष्ट है, जबकि आत्मा का क्षर-अक्षर-प्रकृतियों से अतीत शाश्वत-सनातन-उस अव्यय पुरुष से ही सम्बन्ध है जो कि सामान्य विभूति-सम्बन्ध से सम्पूर्ण भूतों का आधार बनता हुआ भी स्वस्वरूप से पूर्णतया अभिव्यक्त होता है केवल मानव में ही । अतएव यही मानव ' रुप' नाम की अव्यय-अभिधा से प्रसिद्ध हुआ है । अन्य समस्त प्राणी जहाँ प्राकृत जीव हैं, वहाँ मानव प्रकृतिको स्व आत्मसीमा में मुक्त रखता हुआ आत्मनिष्ठ पुरुष है,और यही तो इसकी प्रजापति से नेदिष्ठता है । अन्य प्राणी जहाँ प्रकृतितन्त्र से सञ्चालित है, वहाँ यह मानव स्वपुरुषार्थ से समन्वित रहता हुआ सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र है, जो कि इसका आभिजात्य अधिकार माना गया है । पशु आदि में जीव है, किन्तु आत्मा नहीं । आत्मा भी है, किन्तु विभूतिरूप से । स्वतन्त्र केन्द्र-भावानुगत आत्मा की स्वरूपाभिव्यक्ति तो एकमात्र मानव में ही है ।

जहाँ तक शरीर का सम्बन्ध है, वहाँ तक मानव अचेतन-जड़भूतों की श्रेणि में प्रतिष्ठित है । जहाँ तक मन का सम्बन्ध है, वहाँ तक मानव चेतन-सेन्द्रिय-समनस्क सामान्य पश्वादि जीवों की श्रेणि में प्रतिष्ठित है । एवं जहाँ तक बुद्धि का सम्बन्ध है, वहाँ तक मानव चेतन-समनस्क-बुद्धियुक्त विशेष पश्वादि की श्रेणि में प्रतिष्ठित है । और यों शरीर-मन-बुद्धि-इन तीन पार्थिव-चान्द्र-सौर-अनुबन्धों की सीमा-पर्य्यन्त तो मानव भी इन तीन श्रेणियों में से ही किसी एक श्रेणि का जीवमात्र ही बना हुआ है । इस दृष्टि से तो मानव को मानव न कह कर 'प्राणी'-जीव'-'जन्तु' इन नामो का ही अधिकार मिल सकता है । चाथे आत्मस्वरूप की पूर्णाभिव्यक्ति की सीमा से समन्वित होकर ही यह 'मानव नाम का अधिकारी बनता है, जिसका तात्पर्य्य यही है कि, सुदृढ-बलिष्ठ-लम्बा-चौड़ा शरीर कदापि मानव की मानवता का मापदण्ड नहीं है । क्योंकि ऐसे शरीरधर्म्मा मानव से कहीं बलिष्ठ-ज्येष्ठ-श्रेष्ठ-सिंह-शरभ-आदि पशुओं की कमी नहीं है विश्वप्राङ्गण में जिनकी हुङ्कारमात्र से मानव का दर्प विदलित हो जाता है । एवमेव शिल्प-कला-सङ्गीतादि मानस-भावों में विभोर चान्द्र मन भी मानवता का

शरीरजीवी पाषाणादि जड़ पदार्थ, मनोजीवी सामान्य पक्षी-पशु आदि चेतन-जीव, बुद्धिजीवी विशेष पक्षी-पशु-आदि, इसप्रकार तीन वर्ग हो गए प्राणीजगत् में। यहाँ आकर व्यक्त विश्व से सम्बन्ध रखने वाले पृथिवी-चन्द्रमा-सूर्य-इन तीन भावों की परिसमाप्ति हो गई पार्थिव विमर्श की दृष्टि से। भूतल पर प्रतिष्ठित जड़-पदार्थ शरीरधर्म्मा हैं, सामान्य पश्वादि प्राणी मनोधर्म्मा हैं, एवं विशेष पश्वादि बुद्धिधर्म्मा हैं। तीनों क्रमशः पृथिवी-चन्द्र-सूर्य-भावों से अनुप्राणित रहते हुए प्रथम-मध्यम-उत्तम-श्रेणियों में विभक्त हैं।

स्वयं चान्द्र प्राणीसर्ग आठ भागों में विभक्त है, सौर प्राणसर्ग ११ भागों में विभक्त है, जिन इन दोनों सर्गों का प्रथम दिन के वक्तव्य में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। इन सभी प्राणीविध-तथा प्राणविध जीवसर्गों का सूर्य्य पर अवसान है। अब शेष रह जाता है-अव्यक्त आत्मभाव। जिस प्राणी में इस आत्मभाव की स्वस्वरूप से पूर्ण अभिव्यक्ति होगी, वही सर्वश्रेष्ठ प्राणी माना जायगा, वही सर्वोत्तम आत्मनिष्ठ प्राणी माना जायगा, एवं जिसे इस सर्वोत्तम आत्मभाव के ही कारण पार्थिव त्रिविध सर्ग,अष्टविध चान्द्र प्राणीसर्ग,त्रयस्त्रिंशद्विध सौर देवप्राणसर्ग, इन यथायाक्रम् त्रैलोक्य-सर्गों की अपेक्षा श्रेष्ठ-श्रेष्ठतर-श्रेष्ठतम माना जायगा, एवं यही चौथा-'मानव' सर्ग होगा, जिसके लिए 'बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः' यह कहा गया है। शरीरजीवी-मनोजीवी-बुद्धिजीवी-आत्मनिष्ठ-इन चार वर्गों की क्रमिक श्रेष्ठता-ज्येष्ठता को लक्ष्य बना कर ही भगवान् मनु ने कहा है—

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः, प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः ॥

—मनुः

१—[(क)—लोष्ट-पाषाणादि-भूतभावा, (ख)—ओषधिवनस्पतयश्च]—पार्थिवाः (शरीरजीविनः)—प्रथमा

२—सामान्या-कृमि-कीट-पक्षी-पशु-भावाः]—चान्द्राः (मनोजीविनः)—मध्यमाः

३—विशेषा-कृमि-कीट-पक्षी-पशु-भावा]—सौराः (बुद्धिजीविनः)—उत्तमाः

४—आत्मस्वरूपनिष्ठा-मानवाः]—अव्यक्तानुगताः (आत्मनिष्ठाः)—सर्वोत्तमा

———•———

इन विभक्त आवरणों को विनष्ट कर केवल 'मानवता'–'मानवता' नाम के उद्‌घोष का नाम कदापि मानवता नहीं है। अपितु मानवता तो वह सुसूक्ष्म आत्मतन्त्र है, जिसका कदापि शब्द से उद्‌घोष नहीं होता। अपितु प्रकृतिसिद्ध–विभक्त–स्वधर्मात्मक–स्वरूप से जिस मानवता का आचरण ही हुआ करता है। और यहाँ आकर अब हम यह कह सकते हैं कि, "आत्मा से समन्वित बुद्धि-मन-शरीर-भावों की यथास्वरूप–व्यवस्थिति ही मानव की मानवता है, एवं यही मानव की संक्षिप्त स्वरूप–दिशा है"। मानव का यह स्वरूपसंस्थान बड़ा ही विलक्षण है।

आत्मा–बुद्धि–मन–शरीर–समन्वयात्मक मानव के इस स्वरूप–परिचय के आधार पर अब यह कहा जा सकता है कि—कतिपय मानव केवल शरीरव्यासङ्ग में ही आज आसक्त हैं जिन्हें मन–बुद्धि-आत्म-विकास का संस्मरण भी नहीं होता। दूसरा वर्ग केवल मनोविनोदों में आसक्त रहता हुआ शरीर–बुद्धि आत्म–भावों से पराङ्मुख बना हुआ है। तो एक तीसरा वर्ग शुष्क बुद्धिवादों–तत्त्वविजृम्भणों की गहनाटवी में भ्रमण करता हुआ शरीर–मन–आत्मा–तीनों से विमुख हो रहा है। तो एक चौथा वर्ग काषायवस्त्र धारण कर अपने आपको केवल आत्मवादी वेदान्तनिष्ठ घोषित करता हुआ समस्त बौद्धिक विकास–मानसिक उल्लास–तथा शारीरिक विकास से पृथक् बन राष्ट्र के लिए महद्‌भार ही प्रमाणित हो रहा है। यों आज मानववर्ग इन चारों पर्वों को विभक्त बना कर शरीर से श्रान्त, मन से क्लान्त, बुद्धि से परिभ्रान्त, एवं आत्मा से अशान्त ही प्रमाणित हो रहा है।

सहज भाषानुसार इस परिस्थिति का इन शब्दों में भी अभिनय किया जा सकता है कि, काषायकम्प्रधारी केवल आत्मवादी अपने आपको राष्ट्रीय जीवनधारा से पृथक् कर अपने आपको अलौकिक मानव प्रमाणित करने के लिए समातुर हैं। बुद्धिसम्मत तत्त्ववाद, मनोऽनुगता उपासना, शरीरानुगता भक्ति से सर्वथैव वञ्चित ऐसे आत्मवादी एवं इनके पदचिह्नों का अनुगमन करने वाले अन्यान्य वीतरागी आश्रमजीवन की सहज–स्वस्थता, तथा प्रकृतिस्थता से राष्ट्र को पराङ्मुख बनाते हुए, कल्पित सत्य-अहिंसा-मानवता-विश्वबन्धुत्व का उद्‌घोष करते हुए 'स्व' तत्त्व–परिज्ञान–विहीना जनता को दिग्भ्रान्त बनाते जा रहे हैं। जिनमें एक आस्था–श्रद्धा–शून्य बुद्धिवादी अपना कल्पित तत्त्ववाद में निमग्न हैं, तो उन्हें न तो मनोविनोद ही अच्छा लगता, न शरीर ही उनका स्वस्थ। एवं न सहृदयसम्प्रदाय–शीला भगवद्‌माधुरी से ही इन शुष्क स्थाणुओं का कोई सम्बन्ध। सर्वथा रूक्ष,

मापदण्ड नहीं माना जा सकता। क्योंकि मनोजयी सामान्य प्राणी भी इन मनोऽनु कम्पी कौशलों से समन्वित है। कहाँ मानव की वैखरी वाणी, एवं कहाँ पिक की स्वरमाधुरी। एवमेव बुद्धिमानी भी मानवता का मापदण्ड इसी हेतु से नहीं माना जा सकता। क्योंकि गज-अश्वादि विशेष प्राणी अपने बुद्धिकौशल से कई क्षेत्रों में मानव की बुद्धि का भी अतिक्रमण करते देखे-सुने गए हैं। तो अब हमें यह कह देना चाहिये कि—

आप बहुत सुन्दर हैं शरीर से, तो एतावता ही आप मानव तो नहीं हैं। आपका मन विशिष्ट से विशिष्ट कल्पनाएँ कर सकता है, शिल्प—कला—सङ्गीतादि का अनुधावन कर सकता है। फिर भी इन्हीं हेतुओं से तो आपको मानव नहीं कहा जा सकता। आप बहुत बुद्धिमान् हैं, अपने बुद्धिकौशल से आप भौतिक जगत् में आश्चर्यप्रद भौतिक आविष्कारों के सर्जन की क्षमता रखते हैं, बुद्धिबल से मूर्खमण्डल का आप नेतृत्व कर सकते हैं, बुद्धिसम्मत तर्क—युक्ति—भाषणों से आप अपना व्यक्तित्व दूसरों पर प्रतिष्ठित कर सकते हैं। आदि आदि इन समस्त बौद्धिक व्यापारों के रहने पर भी अभी तक 'मानवता' की परिभाषा से तो आपको समन्वित नहीं माना जा सकता। क्योंकि—'यो बुद्धेः परतस्तु सः' (गीता) के अनुसार मानवता का एकमात्र आधार अव्ययपुरुषात्मा तो इस बुद्धि की सीमा से भी पृथक् ही है। जबतक उस आत्मभाव से आप अपने आपको—जीवभाव को—सम न्वित नहीं कर लेवे, दूसरे शब्दों में आपके शरीर—मन—बुद्धि—तीनों तन्त्र आत्म—भाव से समन्वित नहीं हो जाते, तबतक वेदमहर्षि आप-हम-को 'मानव' तो नहीं कह सकते, नहीं कहना चाहिये। क्योंकि आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्व ही एकमात्र मानवता का मापदण्ड है। यही मानव का स्वस्वरूप है। इसका बोध ही ऋषिदृष्टि से मानव का पुरुषार्थ माना गया है जो पाण्डित्य की सीमा से सर्वथा असंस्पृष्ट है। देखिए! श्रुति क्या कह रही है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥

—कठोपनिषत् १।२।२२।

'मानवता' का मूलबीज आत्मस्वरूप है, जिससे सम्बन्ध रखने वाले आत्म—दर्शनात्मक सम्पर्शन के आधार पर मानव के प्रकृतिजन्य से सम्बन्ध रखने वाले बौद्धिक—मानसिक—शारीरिक-भाव यथास्थान यत्नशील बने रहते हैं। प्रकृति के

पूर्वक अयन–गमन–करने के लिए ऋषिप्रज्ञा की ओर से जो स्वस्तिभावप्रवर्त्तक–मर्यादा–नियम व्यवस्थित हुए हैं, वे ही 'स्वस्त्ययन–कर्म्म' कहलाए हैं, जिनके यथावत् अनुगमनमात्र से मानव अभ्युदयपथ का अधिकारी बन जाता है। लोकभाषा में इन्हीं को 'सुलक्षण' कहा गया है, जब कि तद्विपरीतभाव 'कुलक्षण' कहलाए हैं। स्वस्त्ययनकर्म्म ऋषिप्रज्ञा की सचमुच ऐसी बड़ी देन है, जिसे भूत–विज्ञान के चाकचिक्य में आकर विस्मृत करते हुए हमनें अपना बड़ा ही अमङ्गल कर लिया है। सुनते हैं–सुप्रसिद्ध १३ तेरह कुलक्षणों से अर्थतन्त्र स्वतन्त्र–प्रभुसत्तासमर्थ राष्ट्र भी श्री, और लक्ष्मी से विहीन हो जाया करता है। भौतिक अर्थसम्पत्ति को 'लक्ष्मी' कहा जाता है, एवं इसकी आधारभूता ऊर्ज्जस्वती–पयस्वती–रसवती–प्राणप्रधाना ऐश्वर्यविभूति को 'श्री' कहा जाता है। 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ–' के अनुसार दोनों हीं तत्त्व परमेष्ठी–विष्णु से विनिर्गत हैं। अतएव इन्हें 'विष्णुपत्नी' कहा जाता है। अवश्य ही हम अपने भूतबल से भूतप्रधाना लक्ष्मी का तो सञ्चय कर सकते हैं, अर्थतन्त्र में तो सफलता प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु बिना प्राणप्रतिष्ठा के प्राणरूप 'श्री'–भाव का, ऐश्वर्य्य का संग्रह असम्भव है। एवं ऐश्वर्य्य–श्रीविहीना लक्ष्मी अमुक कुलक्षणों से निश्चयेन कालान्तर में विनष्ट ही हो जाया करती है। श्रीसमन्विता लक्ष्मी ही राष्ट्र का वास्तविक वैभव माना गया है, जो अमुक दोषपरम्पराओं से निर्वीर्य्या हो बन जाया करता है। सुनिए !

> नित्यं छेदस्तृणानां, भुवि नखलिखन पादयो–रल्पपूजा
> दन्तानामल्पशौच, वसनमलिनता ग्रासहासाविरेक ।
> द्वे सन्ध्ये चापि निद्रा, विवसनशयनं, रूक्षता मूर्द्धजानाम् ॥
> स्वाङ्के पीठे च वाद्य हरति धनपते केशवस्यापि लक्ष्मी ॥

अर्थात्—

> तृण तोरे, नख लिखे, भूमि–निज अङ्ग बजावे।
> कौर काट के खाय, भोग कबहू नहिं लावे ॥
> शीघ्र भुखारी करे, पाँव–कर प्रथम धोवे ।
> नगन वसन तन, खाट प्रात सन्ध्या को सोवे ॥
> रूख शिखा, मैला वसन, दिन मैथुन जे करहिं नर।
> इन तेरह अवगुननतें रहे न विद्या, लक्ष्मी–राजधर ॥

दीन-हीनवत् प्रतीयमान ऐसे शुष्क बुद्धिवादियों की भी आज कमी नहीं है। इधर कोई मनस्तन्त्रमात्र में आसक्त है, तो वह केवल झम्झावातमृदङ्गगीत-वाद्यवस्यादि के वेतालचेष्टित आटोपप्रदर्शन के अतिरिक्त किसी वास्तविक सांस्कृतिक आयोजन की कल्पना भी नहीं कर सकता। मनश्शरीरमात्रानुबन्धी नृत्य-गीतादि तो युग-युग में परिवर्तनीय सभ्यताओं के ही अनुरञ्जनात्मक तात्कालिक प्रतीक हैं, जिनका आत्मबुद्धिसमन्विता संस्कृति से यत्किञ्चित् भी तो सम्पर्क नहीं है। अन्ध वर्ग केवल मत्त-शरीरों का ही अनुगमन कर रहा है। उसे क्या विदित कि मनमें अनुक कोमल अनुभूतियाँ भी प्रतिष्ठित हैं। निष्कर्षतः मानव के आत्मा-बुद्धि-मनः-शरीर-चारों ही पर्व समन्वयनिष्ठा से च्युत होते हुए आज सर्वथा विभक्त ही प्रमाणित हो रहे हैं जिस इस विभक्तिकरण के ही दुष्परिणाम-स्वरूप आज राष्ट्रीय मानव शरीर से अपुष्ट, मन से असन्तुष्ट बुद्धि से अतृप्त एवं आत्मा से अशान्त ही बनता जा रहा है। मानव आज सम्भवतः मानव से यह मूक प्रश्न कर रहा होगा कि, सम्पूर्ण साधन-परिग्रहों की विद्यमानता पर भी आज मानव सर्वात्मना सुखी-शान्त क्यों नहीं ?। स्वयं मानव को ही इस प्रश्न का समाधान ढूँढ निकाल लेना है अपने वर्तमान तथाकथित विभक्त-अव्यवस्थित-मानवीय-पर्वों के द्वारा। भगवान् व्यास के-'तत्तु समन्वयात्' इस आदेश की उपेक्षा ही इस की अशान्ति का मुख्य कारण है।

भारतीय ऋषिप्रज्ञा ने चतुष्पर्वा मानव की समन्वयमूला सर्वाङ्गीण सुखसमृद्धि-तुष्टि-पुष्टि-शान्ति-स्वस्ति-के लिए जिन चार पुरुषार्थों की व्यवस्था की थी, आज मानव ने अपने प्रज्ञादोष से चारों को ही अव्यवस्थित बना लिया है। शरीरानुबन्धी अर्थ, मनोऽनुबन्धी काम, बुद्ध्यनुबन्धी धर्म, एवं आत्मा-नुबन्धी मोक्ष, इन चार पुरुषार्थों में से मानव ने आत्मा और बुद्धि से सम्बन्धित मोक्ष तथा धर्म्म को तो कर दिया एकान्ततः विस्मृत, एवं मन, तथा शरीर से सम्बन्ध रखने वाले काम, तथा अर्थ को बना लिया प्रधान। अर्थ खा गया धर्म्म को, एवं काम खा गया मोक्ष को। आत्मबुद्धि की प्रतिष्ठा से वञ्चित मानव-शारीरिक काम और अर्थ-भोगों की जघन्या लिप्सा ला रही है आज मानव को। ऐसे लक्ष्य-विहीन मानव को 'मानव' भी कहा जाय कि नहीं-इसमें सन्देह है।

जाने दीजिए तत्त्वमूला समन्वयनिष्ठा की बातें। आज तो उन स्वस्त्ययन-कर्म्मों से भी मानव उदासीन बन गया है जिनके अनुगमन से अमृतस्वरूप से मानव-स्वरूप अशेष सुरक्षित बना रहता था। सर्वसामान्य मानव-समाज के स्वस्ति-

हुआ सौम्या स्त्री से अनुप्राणित रहता है। सोममयी श्रद्धा शक्तितत्त्व है, स्त्रीतत्त्व है। अग्निमय विश्वास रुद्रतत्त्व है शिवतत्त्व है। * भवानी-शङ्करात्मक बौद्धिक-मानसिक इन विश्वास-श्रद्धा-तत्त्वों के समसमन्वय से ही मानव और मानवी का स्वस्वसंरक्षण है। जब दोनों क्षेत्र विभक्त हो जाते हैं, तो दोनों ही अतिक्रमण पथ के अनुगामी बन जाते हैं। दोनों अपने दाम्पत्यभाव से पृथक न हों, इसका उपाय ही 'रति' तत्त्व माना गया है, जिसे समझने के लिए मानस-प्रेम की पाँच धाराओं को समझ लेना पड़ेगा।

मन को एक वैसा पात्र समझिए, जिसमें स्नेहनगुणात्मक सरलभावापन्न सोमरस उसी प्रकार भरा हुआ है, जैसेकि किसी पात्र में पानी भरा रहता है। पात्र स्थित पानी जैसे छलकता रहता है, एवमेव मनोमय सोमरस छलकता रहता है, प्रवाहित रहता है। इस रसप्रवाहवृत्ति का नाम ही है- प्रेम'। यह प्रवाह क्योंकि पाँच ही प्रकार से सम्भव है। अतएव प्रेम के पाँच ही परिणाम निश्चित हैं। छोटे का मानस रस बड़े के मानस रस की ओर जब प्रवाहित होता है, तो यह रसावस्था 'श्रद्धा' नामक प्रेम कहलाया है। पुत्र का पिता से शिष्य का गुरु से, उपासक का उपास्य से, सेवक का स्वामी से जो प्रेम है, वही श्रद्धा है, जिसमें प्रेम करने वाले का स्थान नीचा है, जिसके साथ प्रेम किया जाता है, उसका स्थान ऊँचा है। सहज हैं ये दोनों भाव। अब स्थिति को परिवर्त्तित कर दीजिए। बड़ों के मानस रस का छोटों की ओर प्रवाहित होना ही- 'वात्सल्य' नामक प्रेम है। छोटों की बड़ों पर श्रद्धा कठिनता से होती है। क्योंकि तरल आप्य मानस रस की सहजगति निम्ना ही मानी गई है। अतएव अपने स्थान से ऊर्ध्व प्ररोहण में कठिनता होती है, प्रयास करना पड़ता है। यह अविस्मरणीय है इस 'श्रद्धा' के सम्बन्ध में कि, संसार की सम्पूर्ण विभूतियाँ विलुप्त होकर पुन प्राप्त हो जाया करतीं हैं। किन्तु श्रद्धारस यदि अभिभूत हो जाता है सूख जाता है, तो जीवन में उसका पुनःप्रवाह प्रायः असम्भव ही हो जाता है। अतः जिसका श्रद्धारस सूख जाता है, वह श्रद्धामय आत्मपुरुषानुग्रह से वञ्चित होता हुआ आत्मानुबन्धी अपने मानवस्वरूप को ही खो बैठता है। अतएव बड़े से बड़ा मूल्य चुका कर भी येन केन प्रकारेण श्रद्धा' रस का तो

---

*-भवानी-शङ्करौ वन्दे श्रद्धा-विश्वास-रूपिणौ'।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धा स्वान्तस्थमीश्वरम् ॥

निरर्थक बैठे बैठे चुटकी बजाना, मुखवाद्य-सीटी-बजाना, पैर पसार कर बैठना, दोनों हाथों से सिर खुजलाना, नख-छेद करना, भोजन के समय हाहा-हीही करते जाना, आदि आदि यथयावत् कुलक्षणों की, तथा तन्निरोधक सुलक्षणों की शास्त्र में बड़े विस्तार से गणना हुई है * । मानव की प्राणसंस्था में क्या विप्लव हो जाता है इन कुलक्षणों से, तथा सुलक्षणों से प्राणसंस्था कैसे व्यवस्थित बन जाती है ?, सचमुच बड़ा ही रहस्यपूर्ण विषय है यह भारतीय 'स्वस्तिशास्त्र' का । आज का मानव तो ऐसा प्रत्यक्षवादी बन गया है कि, अपराध करते ही यदि इसके मुख पर थप्पड़ मार दी जाय, तभी यह समझता है कि-कुछ हुआ है । प्राण से सम्बन्ध रखने वाले ये सुसूक्ष्म परिवर्त्त न कदापि भूतवादी मानव की प्रज्ञा में नहीं आ सकते । कारण स्पष्ट है । प्राणानिबन्धन कर्म्मों का तत्काल ही परिपाक नहीं हो जाया करता । हमें अपनी स्थूलदृष्टि से यह विदित नहीं है कि, किस कर्म्म का, कब, कैसे परिपाक हुआ करता है, एवं कब ये प्रारब्ध बन कर हमें उत्पीड़ित कर देते हैं ? । इस अज्ञानता से ही प्रत्यक्षवादी यह कहने की धृष्टता कर बैठता है कि, "अरे ! क्या हो गया, ऐसा कर लिया तो । यह सब तो यहाँ के विज्ञानशून्य पुराणपन्थियों के रूढिवादमात्र हैं, जिनका आज के वैज्ञानिक युग में कोई महत्त्व नहीं है" ।

सचमुच प्रलय तो नहीं हो जाता इन कुलक्षणों से । प्रत्यक्षभूतवादी प्राकृत मानव की भाँति प्रकृति भी यदि तत्काल व्यग्र बन कर प्रतिक्रियाकारिनी बन बैठती तो सम्भवतः एक भी मानव जीवित न रहता । हाँ—'प्रकृतिस्त्वा' नियोक्ष्यति' के अनुसार कालपरिपाकानन्तर प्रकृति जैसा जो कुछ दण्डप्रहार कर दिया करती है उसका स्मरण न करना ही अच्छा है । सम्भव है यही—कालपुरुष कभी उन भ्रान्त मानवों का भी उद्‌बोधन करादे ।

मानव क्यों अतिक्रमण कर जाता है ?, इस प्रक्रान्त प्रश्न को लेकर मानव की स्वरूपगाथा का यशोगान किया गया । मानव के इस अतिक्रमणभाव के समन्वय के लिए चारों पर्वों में से बुद्धि, और मन, इन दो पर्वों को लक्ष्य बनाइए, जिनसे बुद्धिमानी, और मनमानी नाम के दो भाव निकला करते हैं । सौरी बुद्धि आग्नेयी है, चान्द्र मन सौम्य है । विश्वास विकासात्मक आग्नेय तत्त्व बनता हुआ आग्नेय पुरुष से अनुगत रहता है, एवं श्रद्धा संकोचात्मक स्नेहतत्त्व बनता

*—देखिए—गीताविज्ञानभाष्यान्तर्गत—स्वलक्षण—कर्मपरिगणना—प्रकरण

सम्पूर्ण विश्व में। उपास्य देव, तथा दाम्पत्य क्षेत्र, दो ही रतिप्रेम के क्षेत्र माने गए हैं। आत्मरति, तथा दाम्पत्यरति, भेद से दो क्षेत्रों में विभक्त रतिप्रेम ही मानव का स्वरूपसंरक्षक है। एवं धर्म्मनिष्ठापूर्वक इन दोनों क्षेत्रों का अनुगमन करते हुए मानव, और मानवी कभी अतिक्रमण नहीं करते विश्वमर्य्यादाओं का।

मुमुक्षु योगी उपास्य के प्रति श्रद्धा करते हैं, जिस श्रद्धेय स्वरूप का भगवान् के आत्मबुद्धिनिबन्धन अलौकिक सर्वात्मक उस 'वासुदेव' स्वरूप से सम्बन्ध माना जायगा, जिसके लिए-'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः' यह प्रसिद्ध है। वात्सल्यप्रेम भी अनुप्राणित है भावुक भक्तों की दृष्टि से, जिसका भगवान् के मनःशरीरनिबन्धन लौकिक नन्दनन्दनात्मक बालभाव से सम्बन्ध है। स्नेहरूप सख्यभाव भी विभक्त है साक्षी उपास्य, तथा भोक्ता उपासक का, जिसके प्रचयदोदाहरण कृष्णसुदामामैत्री, तथा कृष्णार्जुनमैत्री बने हुए हैं, एवं जिसका निम्नलिखित मन्त्र से समर्थन हुआ है—

> द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्ष परिषस्वजाते।
> तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥
>
> —यजुःसंहिता

एवं—"अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः।
उपासकानां सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना"॥

इत्यादि नैदानिक सिद्धान्तानुसार अनुरूप-प्रतिरूप-प्रतीक-निदान-आदि भेद से अनेक प्रकारों में विभक्त प्रतिमोपासना का कामभावत्व तो स्पष्ट ही है। इसप्रकार आत्मानुगता उपासना के क्षेत्र में उपास्य के साथ यह आत्मरति सर्वात्मना समन्वित हो रही है, जो-'आत्मैवेद सर्वम्'। इति स वा एष एवं पश्य-न्नेवं मन्वान, एवं विजानन् आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्द - स स्वराट्-भवति' (छां० उप० ७।२५।२।) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है।

दूसरा क्षेत्र है 'दाम्पत्यरति' का, जो आत्ममिथुनरूपा आत्मरति के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। इसीलिए तो भारतीय विवाह सामान्य लोकानुबन्ध न होकर एक ही साम्वत्सरिक आत्मा के अर्द्धवृगलात्मक दो भूतात्माओं का सहज

सरक्षण ही करना चाहिए। श्रद्धाविहीन मानव एक श्मशान के वृक्ष-मयादा-उद्वेगकर वृक्ष से कोई अधिक महत्त्व नहीं रखता। वात्सल्य स्वतःस्वारी रस है। पुत्र माता-पिता के प्रति श्रद्धा नहीं भी कर सकता है। किन्तु माता-पिता स्वसन्तति के प्रति वात्सल्य न रक्खें, यह असम्भव है। क्योंकि निम्नगामी इस रस का निरोध कठिन हो जाता है। विशेषतः मनःप्रधाना माता तो कदापि सन्तति से विमुख नहीं होती। ऐसे माता-पिता से, विशेषतः माता से विमुख होजाने वाले महामन्दभागी पुत्र का निस्तार कदापि सम्भव नहीं है। 'कुपुत्रो जायेत-क्वचि-दपि कुमाता न भवति' प्रसिद्ध ही है। लौकिक उदाहरण प्रसिद्ध है कि, एक वयस्क पुत्र छत पर धूप में पतङ्ग उड़ा रहा था। पिता ने कई बार निरोध किया। किन्तु-'तुम्हारी तो टाँय-टाँय-करने की आदत पड़ गई' कह कर सुपुत्र! पिता की भर्त्सना ही करता रहा। किन्तु वात्सल्यरसपूर्ण पिता का हृदय सन्तोष न कर सका। एक नवीन प्रकार सोच कर अपने पौत्र को लेकर पिता भी छत पर टहलने लगे। पुत्र का ध्यान सहसा अपने पुत्र की ओर गया, जो धूप से आँखे मींच रहा था। कहने लगे वे पुत्र महानुभाव पिता से कि, 'इसे क्यों साथ हो धूप में। धूप नहीं लग जायगी इसे'। तत्काल आवेशपूर्वक पिता के मुख से यह आर्द्रवाणी निकल पड़ी कि मूर्ख! जैसा तेरा वात्सल्य इस पर है, वैसा ही तुझ पर मेरा है जिसे तू अब समझा है, इत्यादि।

ऊँचा-नीचा-भाव हटा दीजिए। जहाँ जिस धरातल पर दो समान-शीलव्यसननिष्ठ प्राणियों का समानरूप से एक दूसरे की ओर मानसरस प्रवाहित रहता है, वही सौम्या 'स्नेह' नामक प्रेम कहलाया है। दो मित्रों में ऐसे ही प्रेम की प्रधानता है। जहाँ समानता नहीं है, और वहाँ भी यदि 'मित्रता' सुनी जाती है, तो निश्चयेन ऐसी मैत्री में स्वार्थमूलक छल ही होना चाहिए। महद्-भाग्यशाली हैं वे मानव, जिन्हें अपने जीवन में एक भी वैसा समानशीलव्यसन सम्मित्र उपलब्ध हो जाता है। बहुत से मित्रों की उपलब्धि तो असम्भव ही है आज के युग में। श्रद्धा-वात्सल्य-स्नेह-तीनों में प्रेमपात्र चेतन हीं है। केवल चेतन में हीं यह त्रिविध प्रेम होता है। अब एक प्रेमभाव ऐसी है जिस का केवल जड़भाव से ही सम्बन्ध है। पुस्तक-वस्त्र-आभूषण-प्रासाद-उद्यान-वाहन-आदि भूतपरिग्रहों को विदित नहीं है-प्रेम की परिभाषा। किन्तु इन जड़ पदार्थों के साथ भी मानस रस प्रवाहित रहता है। एकतोऽनुयोगिक वही जड़प्रेम 'काम' कहलाया है। इन चारों प्रेमभावों का जिस एक केन्द्रबिन्दु में समन्वय हो जाता है, वही सर्वसमष्टिरूप विलक्षण प्रेम 'रति' कहलाता है, जिसके दो ही पात्र हैं

अपितु वस्तुगत्या इसे आचरण में नारी के प्रति श्रद्धादि का समर्पण करना पड़ेगा। तभी नारी की यह प्रतिक्रिया शान्त हो सकेगी। निवेदन यहाँ तो यही करना है कि, पत्नी की भाँति पति भी गृहिणीरूप से पत्नी के प्रति श्रद्धा भी रखता है, वात्सल्य भी प्रक्रान्त है, स्नेह भी प्रमाणित है, एवं 'हरन्ति सन्तो मणिनूपुरा इव' के अनुसार कामदृष्टि भी प्रक्रान्त है। यों चारों के समन्वय से मानव भी रतिसमर्पण कर रहा है—मानवी को। क्या परिणाम होता है इस उभयनिष्ठा रति का ?, बस इसी प्रश्न के समन्वय के आधार पर मानव से सम्बन्ध रखने वाले उस वचन का समाधान सम्भव है, जिसका-'मनुष्या एवैके अतिक्रामन्ति' रूप से कल भी उद्देश हुआ था, एवं आज के वक्तव्य का भी जो वाक्य उपक्रम बना हुआ है। अवधानपूर्वक समन्वय करने का अनुग्रह कीजिए इस वचन के समाधान का।

मानव की परिपूर्णता का, सप्तमेष्ठता का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है। अवश्य ही परिपूर्ण मानव कदापि मर्य्यादाओं का अतिक्रमण नहीं कर सकता। अतिक्रमण करता है अपूर्ण मानव। यहाँ आकर अब हमें मानव की यज्ञमूला उस परिपूर्णता का अन्वेषण करना पड़ेगा, जिसका खगोलीय साम्वत्सरिक यज्ञ से सम्बन्ध है। प्रथम दिन के वक्तव्य में हमनें अग्नि-सोमात्मिका ऋतु के सम्बन्ध से अग्निवृत्तीय सम्वत्सर का दिग्दर्शन कराया था। आज पुन: उसी की ओर आपका ध्यान आकर्षित कराया जा रहा है। ४८ अंशों के परिसर में व्याप्त क्रान्तिवृत्त ही सम्वत्सर है, जिसे हम 'यज्ञाकाश' कहेंगे। इस यज्ञाकाश में सूर्य्य, और चन्द्रमा प्रतिष्ठित हैं। सूर्य्य दिन के अधिपति हैं, अहस्पति हैं। चन्द्रमा रात्रि के पति हैं, निशानाथ हैं। सम्वत्सरीय आधे आकाश के अधिपति सूर्य्य हैं, आधे आकाश के अधिपति चन्द्रमा हैं। अहरनुगत अर्द्ध सौर आग्नेय आकाशात्मक २४ अंशात्मक आधे सम्वत्सर से मानव का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है, एवं रात्र्यनुगत अर्द्ध चान्द्र सौम्य आकाशात्मक २४ अंशात्मक आधे सम्वत्सर से मानवी के स्वरूप का विकास हुआ है। खगोलीय साम्वत्सरिक ब्रह्माण्ड में सूर्य्यानुगत अर्द्धाकाश पतिभाव है, चन्द्रमानुगत अर्द्धाकाश पत्नीभाव है। इन दो अर्द्धों के समन्वय से दोनों अर्द्धाकाशों के दाम्पत्यरूप-समन्वय से ही सम्वत्सररूप यज्ञपुरुष परिपूर्ण बना हुआ है। यों एक ही सम्वत्सरप्रजापति अपने इन दो सौर-चान्द्र शकलों-खण्डों-से पति-पत्नी-रूप में परिणत होते हुए विराट्रूपा त्रैलोक्य-प्रजा के उत्पादन में

समन्वय माना गया है। लोकभाषा में भी–'दो आत्माओं का मिलन' ही माना गया है यह दाम्पत्यप्रेम। पत्नी के लिए पति श्रद्धेय है–'पतिरेव गुरु स्त्रीणाम्'। पत्नी पति के साथ अपने 'आया' भाव से वात्सल्य भी करती है जो केवल स्वानुभवैकगम्य ही विषय माना जायगा। 'सहधर्म्म चरताम्' इत्यादि-रूप से स्नेह भी प्रसिद्ध ही है। पति के भौतिक शरीर के प्रति रहने वाला सहज आकर्षणात्मक काममाव भी प्राकृतिक ही है। इसप्रकार पत्नी पति के प्रति सर्वात्मना सर्वसमन्वयरूपा रति का अनुगमन कर रही है।

एवमेव पति भी पत्नी के प्रति श्रद्धा करता है। 'यत्र नार्य्यस्तु पूज्यन्ते' सिद्धान्त प्रसिद्ध ही है। यह स्मरण रहे कि, आज यह वाक्य केवल आदर्श–वाक्य ही रह गया है। प्रतारणा ही कर रहा है आजका मानव इस वाक्य से मानवी की। भारतीय मानव की इस अवन्या प्रतारणा के दुष्परिणाम स्वरूप ही आज आर्य्यनारी का अन्ततः बहिःस्वरूप सर्वथैव कात्स्नालिकृत है, शोचनीय है। कहने-सुनने मात्र के लिए नारी पूजनीया, तत्समर्थक वचनों की उच्च घोषणा। किन्तु व्यवहार में ठीक इसके विपरीत। तभी तो आज भारतीय नारी प्रतिक्रिया–पथों का अनुसरण करती जारही है। तत्परिणामस्वरूप ही तो आज वैसे विविध विधि–विधान–'बिल'–निर्मित हो रहे हैं, जिनसे कालान्तर में नारीत्व सर्वथा ही अभिभूत हो जायगा एव साथ साथ ही मानव का स्वरूप भी, मानवत्व भी सर्वथा विस्मृत ही हो जायगा। मानव के स्वयं अपने ही प्रज्ञादोष से उत्पन्न हो पड़ने वाली इस प्रतिक्रिया के आवेश में आकर आज की नारी जो कुछ भी न कर बैठे, ठीक है। नारी के प्रशंसक भारतीय मानव विशेषतः अपने आपको धर्म्मिष्ठ मानने वाले मानव बड़े गौरव से यह कहा करते हैं कि—"हमारे घर की ये देवियाँ तो सचमुच धीरता की प्रतिमूर्त्तियाँ हैं। धैर्य्यपूर्वक सबकुछ चुपचाप सहन करती रहने वाली ये गृहदेवियाँ सचमुच अपने मातृपद को अक्षरशः चरितार्थ कर रही हैं"। कदापि ऐसे प्ररोचनात्मक वाक्यों के द्वारा नारी का नारीत्व सुरक्षित नहीं रक्खा जा सकता। कौटुम्बिक भार का समस्त उत्तरदायित्व एकमात्र नारी पर ही थोप देने वाला नारी का प्रशंसक यह धर्म्मिष्ठ ! भारतीय मानवीय यों कदापि तटस्थ बन कर सुखी–शान्त नहीं रह सकता। 'सहधर्म्म चरताम्' का आदर्श विस्मृत कर दिया है आज के भारतीय मानव ने, जिसके दुष्परिणाम भी इसे भोगने पड़ रहे हैं। एवं नहीं सँभला, तो निश्चित नहीं-क्या क्या भोग भोगने पड़ेंगे इसे। केवल आदर्श–वचनों की घोषणा से ही समस्या का समन्वय न होगा।

जैसे वेदसिद्ध निश्चित सिद्धान्तों को लक्ष्य बना कर पारस्परिक कलह में प्रवृत्त होते रहते हैं। बालभावात्मक इन प्रश्नों का उत्तर इसलिए आवश्यक नहीं है कि, कालान्तर में स्वतः ही इनका समाधान हो जाया करता है। अतएव भारतीय विद्वत्प्रज्ञा को कभी ऐसे बालप्रश्नों को लेकर विवाद नहीं करना चाहिए। यहाँ की प्रज्ञा किस प्रकार के प्रश्नोत्तर विमर्शों का अनुगमन करती रहती थी ?, इस सम्बन्ध की एक ऐतिहासिक घटना आपके सम्मुख उपस्थित की जा रही है। सुनिए !

एक बार किसी यज्ञ के ब्रह्मा बनने के लिए उस युग के सुप्रसिद्ध यज्ञरहस्यवेत्ता अरुण के पुत्र उद्दालक पश्चिमोत्तरदेश (पञ्जाब) पधारे। वहाँ उनके सम्मानातिथ्य के लिये प्रमुख सुवर्णराशि निष्क (धरोहर) रूप से रख दी गई थी। पञ्जाब के सुप्रसिद्ध तत्त्वज्ञ महर्षि स्वैदायन ने इस रूप से इनसे प्रश्न करना आरम्भ कर दिया कि—हे गौतमपुत्र उद्दालक ! उसे बाहिर निमन्त्रित होकर ब्रह्मा बनने के लिए जाने का साहस करना चाहिए, जो इन प्रश्नों के रहस्यात्मक समाधान करने की क्षमता रखता हो। बतलाओ ! अनस्थिमत् अर्थात् घनतारल्य-तरल शुक्रद्रव्य की जो आहुति होती है शोणित में, एवं इससे प्रजा उत्पन्न होती है हड्डी वाली !। ऐसा क्यों ?। बतलाओ। प्रजा जब उत्पन्न होता है ?, तो उसके दाँत क्यों नहीं पैदा होते ? फिर क्यों उत्पन्न होते हैं ?, उत्पन्न होकर फिर क्यों टूट जाते हैं ?, फिर क्यों उग पड़ते हैं ?, और फिर टूट कर क्यों नहीं उगते ?। पाँच ही अङ्गुलियाँ क्यों उत्पन्न होतीं हैं ?। अवस्थाक्रम से बालों के रंगों में क्यों परिवर्त्तन होता रहता है ?। उद्दालक इन प्रश्नों का समाधान करने में असमर्थ होकर प्रणतभाव से अपने सम्मान-सुवर्ण द्रव्य को स्वैदायन के प्रति समर्पित कर देते हैं। और समिधा हाथ में लेकर प्रणतभाव से शिष्य बन कर स्वैदायन के सम्मुख जिज्ञासा-भाव से खड़े हो जाते हैं। स्वयं स्वैदायन ही सम्वत्सरयज्ञ-रहस्य के माध्यम से ही उक्त अनस्थिप्रश्नात्मक प्रश्नों का विस्तार से समाधान करते हैं। 'स वै गौतमस्य पुत्र यूतो जनं-धावयेत् ' इत्यादि रूप से 'शतपथ-भाष्य' में विस्तार से इस पावन चर्चा का विश्लेषण हुआ है।

इन सभी रहस्यों का व्याख्या-प्रश्नात्मिका उस जिज्ञासा से ही समन्वय सम्भव है, जिसका उक्त आख्यान से स्पष्टीकरण हो रहा है। कुरुपाञ्चालदेश के महान् तत्त्वज्ञ उद्दालक महर्षि जैसे विद्वान् सम्वत्सरयज्ञरहस्यवेत्ता महर्षि स्वैदायन के सम्मुख समिधा हाथ में लेकर शिष्यबुद्धि से उपस्थित होने में जहाँ कोई संकोच नहीं

समर्थ बने हुए हैं, जिस इस प्राकृतिक नित्य स्थिति का राजर्षि मनु ने इन शब्दों में अभिनय किया है—

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्द्धेन नारी, तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः ॥
—मनु १।३२।

अर्द्धाग्रशात्मक सौर सम्वत्सर प्रकृतिमण्डलरूप आधिदैविक जगत् के मनु हैं, अर्द्धाकाशात्मक चान्द्र सम्वत्सर अधिदैवतजगत् की श्रद्धारूपा मनुपत्नी है। सौर मनुरूप पति से अर्द्धयुगलात्मक मानव का स्वरूप-निर्माण हुआ है, चान्द्र मनुपत्नी-रूपा श्रद्धा से अर्द्धयुगलात्मिका मानवी का स्वरूप-विकास हुआ है। यों मनु, और श्रद्धायुक्त सम्वत्सररूप पूर्ण आकाश प्रजासृष्टि में मानव-और मानवी के रूप से अभिव्यक्त हुआ है, जो दोनों एक दूसरे के उसी प्रकार पूरक बने हुए हैं जैसे विधि का पूरक निषेध, एवं निषेध की पूरिका विधि मानी गई है। न मानव ही परिपूर्ण है, न मानवी ही परिपूर्ण है। अपितु दोनों का दाम्पत्यलक्षण 'पति-पत्नी' भाव ही परिपूर्ण है। जैसा स्वरूप सम्वत्सरयज्ञ का है वैसा ही स्वरूप इस आध्यात्मिक सम्वत्सरयज्ञ का है, जैसाकि-'सम्वत्सरो वै यज्ञः यज्ञो वै पुरुषः, पुरुषो वै यज्ञः' इत्यादि वचनों से प्रमाणित है। सम्वत्सर का विष्वद्वृत्त नामक मध्यवृत्त ही यहाँ मेरुदण्ड है। पति-पत्नी जब समसम्मुख खड़े हो जाते हैं, तो मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) पूरा वृत्त बन जाता है। क्रान्तिवृत्त के २४ अंश मानव के २४ पशु हैं २४ अंश मानवी के २४ पशु हैं। दोनों के समन्वय से ४८ अंशात्मक पूर्ण क्रान्तिवृत्त का स्वरूप सम्पन्न हो रहा है। निष्कर्षतः जैसा जो कुछ सम्वत्सर में है, ठीक वैसा-वही सब कुछ इस दाम्पत्यभाव में समन्वित है। 'यदमुत्र तदन्विह'। सम्वत्सरयज्ञ के माध्यम से ही सम्पूर्ण प्रजाओं की उत्पत्ति हुई है। अतएव यज्ञ को इष्टकामधुक् माना गया है, जैसा कि इस गीता-वचन से स्पष्ट है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

इसी यज्ञ से सम्पूर्ण वैविध्य समुद्भूत है। प्राचीन भारत में यज्ञ को आधार बना कर ही सृष्टिरहस्य के सम्बन्ध में तात्त्विक प्रश्नोत्तर-विमर्श प्रक्रान्त रहते थे, जब कि आज हम अपनी बालबुद्धि से प्रेरित होकर मूर्तिपूजन-अवतार-श्राद्ध-

जैसे वेदसिद्ध निश्चित सिद्धान्तों को लक्ष्य बना कर पारस्परिक कलह में प्रवृत्त होते रहते हैं। बालभावात्मक इन प्रश्नों का उत्तर इसलिए आवश्यक नहीं है कि, कालान्तर में स्वतः ही इनका समाधान हो जाया करता है। अतएव भारतीय विद्वत्प्रज्ञा को कभी ऐसे बालप्रश्नों को लेकर विवाद नहीं करना चाहिए। यहाँ की प्रज्ञा किस प्रकार के प्रश्नोत्तर विमर्शों का अनुगमन करती रहती थी ?, इस सम्बन्ध की एक ऐतिहासिक घटना आपके सम्मुख उपस्थित की जा रही है। सुनिए।

एक बार किसी यज्ञ के ब्रह्मा बनने के लिए उस युग के सुप्रसिद्ध यज्ञरहस्यवेत्ता अरुण के पुत्र उद्दालक पश्चिमोत्तरदेश (पञ्जाब) पधारे। जहाँ उनके सम्मानार्थ शिष्य के लिये प्रभूत सुवर्णराशि निष्क (धरोहर) रूप से रख दी गई थी। पञ्जाब के सुप्रसिद्ध तत्त्वज्ञ महर्षि स्वैदायन ने इस रूप से इनसे प्रश्न करना आरम्भ कर दिया कि—हे गौतमपुत्र उद्दालक ! उसे बाहिर निमन्त्रित होकर ब्रह्मा बनने के लिए जाने का साहस करना चाहिए, जो इन प्रश्नों के रहस्यात्मक समाधान करने की क्षमता रखता हो। बतलाओ ! अनस्थिमत्-अर्थात् घनताशून्य-सरल शुक्रद्रव्य की जो आहुति होती है शोणित में, एवं इससे प्रजा उत्पन्न होती है हड्डी वाली ?। ऐसा क्यों ?। बतलाओ ! क्या जब उत्पन्न होता है ?, तो उसके दाँत क्यों नहीं पैदा होते ?, फिर क्यों उत्पन्न होते हैं ?, उत्पन्न होकर फिर क्यों टूट जाते हैं ?, फिर क्यों उग पड़ते हैं ?, और फिर टूट कर क्यों नहीं उगते ?। पाँच ही अङ्गुलियाँ क्यों उत्पन्न होतीं हैं ?। अवस्थाक्रम से बालों के रँगों में क्यों परिवर्त्तन होता रहता है ?। उद्दालक इन प्रश्नों का समाधान करने में असमर्थ होकर प्रणतभाव से अपने सम्मान-सुवर्ण द्रव्य को स्वैदायन के प्रति समर्पित कर देते हैं। और समिधा हाथ में लेकर प्रणतभाव से शिष्य बन कर स्वैदायन के सम्मुख जिज्ञासा-भाव से खड़े हो जाते हैं। स्वयं स्वैदायन ही सम्वत्सरयज्ञ-रहस्य के माध्यम से ही उक्त अनस्थिप्रश्नात्मक प्रश्नों का विस्तार से समाधान करते हैं। 'स वै गौतमस्य पुत्र वृतो सर्न-धावयेस्०' इत्यादि रूप से 'शतपथ-भाष्य' में विस्तार से इस पावन चर्चा का विश्लेषण हुआ है।

इन सभी रहस्यों का आस्था-श्रद्धात्मिका उस जिज्ञासा से ही समन्वय सम्भव है, जिसका उक्त आख्यान से स्पष्टीकरण हो रहा है। कुरुपाञ्चालदेश के महान् तत्त्वज्ञ उद्दालक महर्षि जैसे विद्वान् सम्वत्सरयज्ञरहस्यवेत्ता महर्षि स्वैदायन के सम्मुख समिधा हाथ में लेकर शिष्यबुद्धि से उपस्थित होने में जहाँ कोई संकोच नहीं

करते, वहाँ आज के युग में किसी तात्त्विक विषय के सम्बन्ध में न जानने वाले महानुभाव भी इसप्रकार से भारतीय तत्त्ववाद के सम्बन्ध में उद्दण्डतापूर्वक प्रश्न कर बैठते हैं, मानो वे जानते तो पहिले से ही सबकुछ हैं। केवल अपनी विशता को, मान्यता को मुख्य बनाने के लिए ही वे प्रश्न कर रहे हैं। प्रणत-भावात्मिका आस्था-श्रद्धा-विश्वास के अभाव से ही तो हम रहस्यबोध से आज वञ्चित हो रहे हैं। बड़ी ही रहस्यपूर्ण है वेदशास्त्र की वह यज्ञविद्या जिसके गर्भ में समस्त प्रश्नों का समाधान निगूढ है, जिसके-'अग्नीषोमौ प्राणान्योऽन्यपरिग्रहलक्षण' एक लक्षण का कक्ष के वक्तव्य में दिग्दर्शन कराया गया है। नामानेदिष्ठ-वाशखिल्या-एवयामरुत्-वृषाकपि-आदि आदि गमर्सचारी-प्राणों से सम्पन्न, सम्वत्सरयज्ञ की प्रतिमूर्ति मानव-मानवी का दाम्पत्य जिस सम्वत्सरयज्ञ पर प्रतिष्ठित है, उसी की प्रतिकृति पर ऋषियों ने यज्ञविद्या का आविष्कार किया है, जो भारतीय ब्रह्मविज्ञानधारा के आधार पर प्रतिष्ठित रहने वाला महान् विज्ञान है। दुर्भाग्य है इस देश का कि, ऐसी रहस्यपूर्ण तत्त्वात्मिका यज्ञविद्या इसी देश के वेदभक्तों के द्वारा कल्पित पद्धतियों के द्वारा केवल वायुविशोधन की सुविधा मानी-मनवाई जा रही है। आलम्यालम्। अहो महतीयं विडम्बना भगवतो यज्ञपुरुषस्य।

प्रकृत का अनुसरण कीजिये। और अर्द्ध सम्वत्सरधारा से उत्पन्न मानव अपूर्ण है तबतक, जबतक कि इसके शेष अर्द्ध आकाश में चान्द्र अर्द्ध सम्वत्सरधारा से उत्पन्ना मानवी प्रतिष्ठित न हो जाय। 'सोऽयमाकाशः पत्न्याऽपूर्यते' के अनुसार इस रिक्त आधे आकाश की पूर्ति पत्नी ही करती है। तभी तो पत्नी पति की अर्द्धाङ्गिनी कहलाई है। यों-'स एकाकी न रमते। तद् द्वितीयमैच्छत्-पतिश्च-पत्नी च' इत्यादि श्रौत सिद्धान्त के अनुसार एक ही भूतात्मा सम्वत्सर-यज्ञ के द्वारा पति, पत्नी-रूप में परिणत होकर पूर्णात्मा बना हुआ है एवं यही मानव की परिपूर्णता का लौकिक स्वरूप है, जिसमें मानव, और मानवी, दोनों दाम्पत्यरस से समन्वित हैं।

पूर्ण प्रजापति से मिल कर ही मानव पूर्ण बना करता है। पूर्णेश्वर से आरमरति करके ही मानव पूर्णपद का अधिकारी बनता है। इस अधिकारप्राप्ति के लिए पहिले मानव को अपना साम्वत्सरिक स्वरूप ही पूर्ण बनाना पड़ेगा, अर्थात् सर्व-प्रथम गृहस्थाश्रम के द्वारा इसे दाम्पत्यजीवन का ही अनुगामी बनना पड़ेगा। गृहस्थधर्म्म ही मानव को दाम्पत्यरूपा साम्वत्सरिकी वह पूर्णता प्रदान करता है,

जिस पर धर्म्मंस प्रतिष्ठित रहने वाला न तो मानव ही अतिक्रमण कर सकता न मानवी ही अतिक्रमण कर सकती । गृहस्थधर्म्मनिरूपना एकमात्र आश्रमव्यवस्था ही मानव-मानवी को मर्य्यादातिक्रमण से बचाए रखने की क्षमता रखती है, जिसका कवि के मुख से यों यशोगान हुआ है —

> शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां, यौवने विषयैषिणाम् ।
> वार्द्धके मुनिवृत्तीनां, योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥
>
> —कालिदासः

आरम्भ में ब्रह्मचर्य्यद्वारा विद्याध्ययन तदनन्तर युवावस्था में गृहस्थाश्रमद्वारा साम्वत्सरिक पूर्णता की प्राप्ति तदनन्तर प्रौढावस्था में आत्मतत्त्वसंस्मरण एवं सर्वान्त में शुद्धज्ञाननिष्ठा की अनुगति यही इस देश की वह आश्रमव्यवस्था है, जिसमें अनन्यनिष्ठा से प्रतिष्ठित रहता हुआ मानव अपना ऐहिक, आमुष्मिक जीवन धन्य बना लेता है । जिस इत्थंभूता आश्रमजीवनपद्धति का अनुगामी मानव मनःशरीरानुबन्धी श्रमजीवन से अपने मन और शरीर को अतिक्रमण से बचा लेता है, बुद्ध्यनुबन्धी परिश्रमजीवन से अपनी बुद्धि को सुव्यवस्थित रख लेता है । एवं ऐसे श्रम-परिश्रम से समन्वित मानव अपने आसमन्तात्‌श्रम-लक्षण 'आश्रम' रूप मानवीय आत्मधर्म्मों से आत्मस्वरूप को परिपूर्ण प्रमाणित कर लेता है । यों आत्मनिबन्धन आश्रम, बुद्धिनिबन्धन परिश्रम, मनःशरीरनिबन्धन-श्रम,-के समन्वय से अनुप्राणित कर्त्तव्यनिष्ठात्मक जीवन से, जीवनपद्धति से अपने आत्मा-बुद्धि-मन-शरीर-चारों पर्वों को कर्त्तव्यनिष्ठा से नियन्त्रण करता हुआ मानव सभी प्रकार के अतिक्रमणों से अपना सन्त्राण कर लेता है । ऐसे मानव ही—'न अतिक्रामन्ति' । स्पष्ट है कि, इत्थंभूता श्रम-परिश्रम-आश्रम-मावसमन्विता आत्मबुद्धिमनःशरीर-समन्वयात्मिका आश्रमजीवनपद्धति का मूलाधार दाम्पत्य-भावात्मक 'गृहस्थाश्रम' ही माना गया है जिसके आधार पर मानव के ब्रह्मचर्य्य वानप्रस्थ-संन्यास-नामक शेष तीनों आश्रम प्रतिष्ठित हैं । सर्वाश्रमप्रतिष्ठाभूत इसी सर्वश्रेष्ठ गृहस्थाश्रम का यशोवर्णन करते हुये आश्रमस्वरूप-विश्लेषक भगवान मनु कहते हैं—

> वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।
> अविप्लुतब्रह्मचर्य्यो गृहस्थाश्रममावसेत् ॥१॥

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥२॥
यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥३॥

—मनु

ब्रह्मचर्य्यपूर्वक संयमपूर्वक गृहस्थाश्रम का पालन करते हुए तत्त्वचिन्तननिष्ठा के माध्यम से आत्मरत बने रहना ही मानव की परिपूर्णता है, जिस इत्थंभूत गृहस्थाश्रम में ही चारों आश्रम समन्वित हो रहे हैं। और यही भारतीय आर्षदृष्टि का वह महान् राजपथ है, जिसका अनुसरण करता हुआ भारतीय मानव अपने वैय्यक्तिक-पारिवारिक-सामाजिक-राष्ट्रीय-संस्थानों को सुसमृद्ध बनाता हुआ इस आश्रमशील से-'यथा च सुसहासति' लक्षण 'सहास्तित्त्व' धर्म्म के माध्यम से विश्वबन्धुत्वलक्षणा मानवता का महान् सन्देशवाहक बना रहता है।

स्पष्ट है कि, विगत २-३ हजार वर्षों के साम्प्रदायिक युग में मानव ने अवश्य ही परिपूर्णतालक्षणा दाम्पत्यजीवन की मूलप्रतिष्ठारूप इस गृहस्थाश्रम की उपेक्षा कर प्रकृतिविरुद्ध संन्यासत्याग की काल्पनिकी शून्य-शून्या-बुद्धं-बुद्धा-क्षणिकं-क्षणिका नास्तिभावना का अनुगमन कर काल्पनिक सत्य-अहिंसा-शौचादि-विभूमणों को लक्ष्य बनाया है तब तब ही हमें स्खलन-परम्पराओं का ही सामना करना पड़ा है। करना पड़ेगा तबतक, जबतक कि हम आश्रमजीवनपद्धति के मूलाधारभूत दाम्पत्य जीवन को व्यवस्थित नहीं बना सेंगे। संसिद्ध है कि, शून्यवादी नास्तिवादी मानव ही-'मनुष्या एवैके अतिक्रामन्ति' के लक्ष्य बना करते हैं। अवश्य ही पूर्व से मिलने के लिए मानव को पहिले पूर्ण बनना पड़ेगा। तत्त्व धर्म्मपूर्वक सम्वत्सराग्नि की साक्षी में दाम्पत्यजीवन में दीक्षित होना पड़ेगा, तभी मानव में मानवी को जन्म लेते हुये सम्वत्सरयज्ञ की पूर्णता का उदय होगा। तभी मानव प्राकृतिक ऋत-मर्य्यादात्मिका विश्वमर्य्यादा में प्रतिष्ठित हो सकेगा अपने अर्द्धाङ्ग के साथ। मर्य्यादात्मक भारतीय इतिहास साक्षी है कि, मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम को स्वयज्ञकर्म्मसंसिद्धि के लिये जगन्माता सीता की स्वर्णप्रतिमा के माध्यम का ही अनुगामी बनना पड़ा था। 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' के अनुसार पत्नी का पत्नीत्व इस यज्ञकर्म्म पर ही अवलम्बित है, जो कि मानव के स्वस्वरूपरक्षक-मर्यादा-त्मक-अभ्युदयक-दाम्पत्यभाव का ही संग्राहक बना हुआ है।

'सहधर्म्मं चरताम्' को चरितार्थ करने वाला यह दाम्पत्यधर्म्म किस प्रकार मानव को संसारयात्रा का सफल यात्री प्रमाणित कर देता है ?, सापिण्ड्यसम्बन्धानुगत प्रजातन्तुविधान के द्वारा यह दाम्पत्यजीवन मानव-मानवी के शुक्र-शोणितरूप मानव महानात्मा को मयिकञ्चन से विमुक्त कर कैसे मुक्त बना देता है ?, किस प्रकार सम्पूर्ण लौकिक-पारलौकिक-अभ्युदय-निःश्रेयस-इस दाम्पत्य के द्वारा ही सम्पन्न होते रहते हैं ? इत्यादि प्रश्नों के रहस्यात्मक समाधानों के लिए तो हमें प्रामाण्य वेदशास्त्र की ही शरण में आना चाहिए । 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' । राष्ट्र की वैय्यक्तिक, तथा राष्ट्रीय, यच्चयावत् कामनाओं का मूलकेन्द्र है दाम्पत्यजीवन, एवं इस दाम्पत्यजीवन का मूलकेन्द्र है मातृपद पर समासीन 'नारी' माव, जिसके प्रति-'नरकस्य द्वारम्' कहने वाले प्रौढ पुरुषों ने निश्चयेन अपने स्वरूप पर ही धूलिप्रक्षेप किया है । पुरन्धियोषा ही भूमिदर्थ में राष्ट्रीय दाम्पत्यजीवन की वह महती कामना है, जिसकी सफलता से ही राष्ट्र की ज्ञान-पौरुष-अर्थ-आदि आदि इतर समस्त कामनाएँ सर्वाङ्गीण बना करतीं हैं । क्या स्वरूप है भारतराष्ट्र की उन कामनाओं का ?, दूसरे शब्दों में क्या चाहता है भारतराष्ट्र ? सुनिए ! मनन कीजिए !! एवं अनुसरण कर धन्य बनाइए !!! इन कामनाओं के द्वारा अपने राष्ट्र का—

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् !

आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम् !

दोग्ध्री धेनु, र्वोढानड्वान्, आशुः सप्तिः !

पुरन्धिर्योषा !

जिष्णू रथेष्ठाः !

सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम् !

निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु !

फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम् !

योगक्षेमो नः कल्पताम् !

—यजुःसंहिता २२।२२।

"हे प्रजापते ! हमारे राष्ट्र में ब्रह्मवर्चस्वी ज्ञानविज्ञाननिष्ठ ब्राह्मण उत्पन्न होते रहें ! राष्ट्र के पौरुषशक्तिशाली मानव वीर, शस्त्रयुत, नीरोग वाहनसम्पत्ति से युक्त हों ! गाएँ दुधारी हों ! बैल भारवाही हों ! घोड़े शीघ्रगामी हों ! नारी पुरन्धि–पुररूपा प्रजा का संरक्षण करने वाली हो ! रथी जयशील बनें ! यजमान का युवापुत्र सभा-समिति-प्रिय हो ! धार हो ! समय समय पर पर्जन्यदेवता हमारे राष्ट्र में वृष्टि करते रहें ! इससे राष्ट्र की ओषधियाँ–फलपुष्पवती बन कर पकती रहें ! और यों राष्ट्र का योग–क्षेम स्वस्वरूपपूर्वक प्रक्रान्त रहे" ।

योगक्षेमात्मिका अभ्यवस्त्र की कामना लोकदृष्टि से सबसे बड़ी कामना है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं है । उसी के समाधान के लिए प्रयत्नशील बना भी हुआ है हमारा सर्वतन्त्रस्वतन्त्र आज का भारत राष्ट्र । यह भी ठीक है कि, जब तक योगक्षेमरूपा भोजनाच्छादान की चिन्ता दूर नहीं हो जाती तबतक राष्ट्र को और कुछ भी सुझाई नहीं देता । अवश्य ही मन शरीरानुबन्धिनी इस राष्ट्रीय मान्यता का अभिनन्दन ही करना चाहिए । किन्तु प्रश्न इस सम्बन्ध में यह उपस्थित है कि निरन्तर उद्योग करते रहने पर भी मानव क्यों निष्फल बन जाता है योगक्षेम की समाधान दिशा में ? । वेदमहर्षि ने इस प्रश्न का जो समाधान किया है, उसे भी सुनने का अनुग्रह कर लीजिए ।

जिस राष्ट्र का ज्ञानकोशात्मक महाबल सुप्त हो जाता है, अथवा तो स्वार्थलिप्सु साम्राज्यकामुक कुनैतिकों के घातक राजनैतिक तन्त्र से अभिभूत हो जाता है, वह राष्ट्र प्रयास करता हुआ भी, योगक्षेम के संरक्षक परिग्रहों के विद्यमान रहते हुए भी उनसे लाभ उठाने में सर्वात्मना असमर्थ ही बना रह जाता है । सुप्रसिद्ध है कि, मूर्खों की सम्पत्ति का उपभोग बुद्धिमान ही किया करते हैं । तात्पर्य स्पष्ट है । राष्ट्र का प्रमुख बल है ज्ञानबल, जिसे ऋषि ने ज्ञानविज्ञानात्मक 'ब्रह्मवर्चस' कहा है, जिसका लौकिक अर्थ है– 'ज्ञानप्रकाश' । यही राष्ट्र की पहिली, तथा प्रमुख कामना मानी गई है । आज भी मानी जानी चाहिए, जिसके सफल हो जाने पर योग-क्षेम जैसी साधारण कामनाएँ तो स्वयं ही व्यवस्थापूर्वक समन्वित बन जाया करती हैं । इसी आधार पर श्रुति ने–'आ ब्रह्मन् ! ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्' रूप से भारतराष्ट्र की पहिली प्रमुख कामना 'वर्चस' रूपा ज्ञानज्योति को ही माना है जिसे गतानुगतिक बद्धमूलव्यामोहन से हमारे राष्ट्र ने विस्मृत कर आज अपना सभी कुछ ही विस्मृत, किंवा परायत्त बना लिया है । मुख्यरूप

है कि, जबतक राष्ट्र में ज्ञान को मूलप्रतिष्ठा नहीं बना लिया जायगा, तबतक अन्यान्य-बहुभूतमात्रात्मक शत-सहस्र-आयोजन-योजनाओं से भी राष्ट्र की सुव्यवस्थिता योगक्षेमकामना का कदापि समन्वय सम्भव न बन सकेगा।

ब्रह्मवर्चोपेता पौरुष-युक्ता राष्ट्रीय प्रजा के लिए योगक्षेम का प्रश्न सर्वथा नगण्य है। ऐसी ऊर्जस्वती ज्ञाननिष्ठा वशिष्ठा रयेष्ठा प्रजा का उत्पादन क्यों अवरुद्ध हो गया आज हमारे राष्ट्र में? प्रश्न का 'पुरन्धियोंपा' नाम की महती कामना से ही सम्बन्ध है। नारी आज केवल विनोद का माध्यम बना ली गई है। पुरभावसरक्षक-पुरंधिगुण अभिभूत कर दिया है नारी का आज के काममोग परायण मानव ने। फलस्वरूप राष्ट्र की दाम्पत्यजीवनपद्धति ही आज ग्रस्त व्यस्त बन गई है। धर्म्मनिष्ठा से पराङ्मुख मानव ने 'सहधर्म्मं चरताम्' आदर्श को जलाञ्जलि समर्पित कर इस सहधर्म्मचारिणी-आत्मबुद्धि साक्षिणी-पुरंधि योपा को आज सहकामचारिणी-मनःशरीरविनोदमात्र कारिणी 'नारी' जैसी लौकिक भावना से ही समन्वित कर दिया है। ऐसे नर-नारी के श्रद्धा-वात्सल्य-स्नेह-विहीन केवल कामभाव से यदि ज्ञाननिष्ठा-वशिष्ठा-मंहिष्ठा-यशस्विनी प्रजा उत्पन्न न हो, तो क्या आश्चर्य्य है?। एवं केवल काममूलक ऐसे नर-नारी मर्य्यादाओं का अतिक्रमण करना ही अपना प्रधान पौरुष मान बैठें, तो इसमें भी क्या आश्चर्य्य है?।

जब तक यहाँ का नारी-समाज पुरन्धिगुण से समन्वित न होगा तबतक मानव का दाम्पत्यजीवन कदापि आश्रमजीवनपद्धति पर प्रतिष्ठित न होगा। एवं बिना आश्रमव्यवस्था के मानव का दाम्पत्यजीवन केवल काममूलक ही बना रहेगा, जिसमें आत्मरतिमूला-दाम्पत्यरति का प्रवेश भी निषिद्ध बना रहता है, जो कि दाम्पत्यरति-'तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तः' इत्यादि श्रुति के अनुसार आत्मानन्द की ही उपक्रमबिन्दु मानी गई है। ऐसे आत्मरतिमूलक दाम्पत्यरूपानन्द से उत्पन्ना सन्तति ही श्रद्धा-वात्सल्य-स्नेह-काम-भावों से समन्वित हो सकेगी। इस समन्वय से ही मानव-प्रजा परिपूर्ण बन सकेगी। अपने समन्वयात्मक इस सुविकसित स्वरूप से ही राष्ट्र के मानव, और मानवियाँ अपने वैय्यक्तिक-पारिवारिक, तथा सामाजिक विकास के साथ साथ राष्ट्र के प्रति श्रद्धा-वात्सल्य-स्नेह-काम-भावों को समन्वित करते हुए उस 'राष्ट्ररति'-को सर्वात्मना चरितार्थ प्रमाणित कर सकेंगे, जिसका आज के युग में केवल कामभाव

प्राधान्य से संस्मरण कर लेना भी अपराध बना हुआ है। राष्ट्र से हमें 'काम' है, इसमें भी कोई सन्देह नहीं। अमुक सीमा पर्य्यन्त मनोऽनुबन्धी 'स्नेह' भी रखते हैं हम राष्ट्र से। किन्तु वाग्मस्वरसाप्लुता श्रद्धा अभिभूत हो गई है आज हमारी राष्ट्र के प्रति। अतएव हम सर्वात्मना राष्ट्रप्रेम करने में आज तक भी असमर्थ ही बने हुए हैं। काममूला व्यक्तिगत एषणाओं ने हमें राष्ट्ररति से वञ्चित कर रक्खा है इस राष्ट्रस्वातन्त्र्य–युग में भी।

क्षमा करेंगे राष्ट्रपति महाभाग हमें! आज इस सम्बन्ध में हम जो कुछ निवेदन करने जा रहे हैं, सम्भवतः वह विधान की सीमा में अन्ततम क्रम बनता हुआ भी कुछ कटु है। फिर माननीय श्रीमावलङ्कर महानुभाव जैसे वैधानिक पुरुष के सान्निध्य में विधान का अतिक्रमण सम्भव भी कैसे है ?। इसप्रकार विधानसीमा का समादर करते हुए भी आज हमें मानवस्वरूप–परिचय के सम्बन्ध में दाम्पत्यजीवन के माध्यम से कुछ एक कटुतत्त्वों का विश्लेषण करने के लिए विवश होना पड़ा है। क्या आज राष्ट्र में कोई किसी पर श्रद्धा नहीं करता ?, वात्सल्य नहीं रखता ? स्नेह नहीं करता ?। करता है, और उद्घोषकपूर्वक करता है। किन्तु आज के श्रद्धा–वात्सल्य–स्नेह–उद्घोषों के मूल में सर्वत्र प्रच्छन्नरूप से कामभावात्मक–लोकैषणा–समुराक–लिप्सालालसात्मक काममाव ही प्रतिष्ठित हो रहे हैं। श्रद्धा के लिए आज कोई श्रद्धा नहीं करता, वात्सल्य के लिए कहीं वात्सल्य के दर्शन नहीं हो रहे। स्नेह के लिए स्नेह के द्वार आज सर्वथा अवरुद्ध हैं। अपितु अपने एकधोऽनुयोगिक बद्ध काममाव के लिए ही श्रद्धादि का प्रदर्शन-मात्र हो रहा है।

आज के भारतीय बाबाओं पर दृष्टि डालिए! स्थिति का स्पष्टीकरण हो जायगा। अपने भावुक भक्तों को लक्ष्य बना कर जिस करुणापूर्ण मुद्रा से निमीलितनेत्र बन कर मन्द-मन्द-स्वरपूर्वक-'आओ बच्चा'! कह कर जैसा वात्सल्य प्रकट करते रहते हैं ये बाबा लोग, वैसा वात्सल्य तो इन बयस्क भक्तों को अपने बचपन में सम्भवतः अपने माता–पिता से भी न मिला होगा। अपनी काम-कामना की पूर्त्तिलालसा से ही हम भी बाबा लोगों पर कम श्रद्धा नहीं करते। बिना परिश्रम किए ही धन मिल जाय ज्ञान मिल जाय, भगवान् मिल जावें, इसी कामैषणा से हम भी 'पश्चात्प्रीतिकम्य' जैसे भावुक भक्तों की भांति इन चमत्कारप्रदर्शक बाबा लोगों के पीछे श्रद्धापूर्वक दौड़ लगाते रहते हैं। दोनों ही अपने अपने तन्त्रों के महान् नैष्ठिक अभिनेता बने हुए हैं आज। परिणाम की

मीमांसा का आज अवसर नहीं है । श्रुति ने इस सम्बन्ध में जो कहा है, वही पर्य्याप्त है कि—

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमाना स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमाना ।
दन्द्रम्यमाणा परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा ॥

—उपनिषत्

अपनी इसी दन्द्रम्यमाणा जघन्या स्वार्थवृत्ति को चरितार्थ करने के लिए हम नीच-कर्म्मा अधम मानवों को भी अनन्य श्रद्धेय, परमश्रद्धेय-समादरणीय-माननीय-आदि उपाधियों से समलङ्कृत करने में क्षणमात्र भी विलम्ब नहीं करते, जब कि स्वयं हम अपने अन्तर्जगत् में परिचित रहते हैं इन श्रद्धेयों के श्रद्धा शून्य जघन्य इतिहास से। यदि बालबुद्धियों से स्वार्थसाधन अभीष्ट होता है, तो उनके प्रति प्रचण्ड वात्सल्यप्रदर्शन करने में भी हम लज्जित नहीं होते। यही स्थिति कृत्रिम स्नेहप्रदर्शन से अनुप्राणित है इस केवल कामक्षेत्र में। ऐसा ही तो कुछ घटित-विघटित हो रहा है आज। राष्ट्र की प्रत्येक योजना में राष्ट्रीय मानव का आज केवल लोकैषणामूलक काममाव ही अधिकांश में उद्बुद्ध है, जिसका श्रद्धादि भावों से यत्किञ्चित् भी तो सम्बन्ध नहीं है। यही कारण है कि, राष्ट्र की छोटी से छोटी भी योजना में प्रचार का उद्घोष तो अवश्य है। किन्तु जहाँ जब भी कभी सफलता का प्रश्न उपस्थित हो पड़ता है, तो वहाँ सर्वत्र-"हमें अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। अतएव हम जैसी होनी चाहिए थी, वैसी प्रगति न कर सके" इत्यादि उत्तरामार्गों से स्थिति को आवृत कर दिया जाता है।

संसिद्ध है कि, श्रद्धा-वात्सल्य-स्नेह-काम-इन चारों मानस प्रेम भावों की समन्वयमूला 'रति' से ही मानवीय मन परिपूर्ण बनता है। इत्थंभूत परिपूर्ण मन ही बुद्धिविकास का क्षेत्र बनता है। ऐसी सुविकसिता व्यवसायात्मिका निश्चयभावापन्ना बुद्धि ही आत्मयुक्ता बनती हुई आत्मनिष्ठा बुद्धि कहलाई है। ऐसा आत्मनिष्ठ मानव ही बुद्धिमान् है, ऐसा बुद्धिमान् मानव ही मनस्वी है, जिस ऐसे मनस्वी मानव से कदापि मर्य्यादा का अतिक्रमण सम्भव नहीं है। निष्कर्षत मनस्तन्त्र की बुद्धिद्वारा समन्विता आत्मनिष्ठा ही मानव की स्वरूप-रक्षा का आधार है। मन की रति ही मन की स्थिरता है, जो मानव को मिलती है दाम्पत्यभावानुगता आश्रमव्यवस्था से। अतएव मन ही मानव के बन्ध, तथा मोक्ष का कारण मान लिया गया है, जैसा कि कहा है—

न देहो न जीवात्मा नेन्द्रियाणि परन्तप !
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयो ॥

मानसेच्छायशवर्ती मानव ही अतिक्रमण करता रहता है। जड़ता कोई हेय-त्याज्य पदार्थ नहीं है। अवश्य ही विश्व की सम्पूर्ण जड़विभूतियाँ भी उस चैतन्य पुरुषात्मा के व्यक्त विकसितरूप ही हैं। इसी आधार पर श्रुति ने कहा है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदवेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥
—केनोपनिषत् २।१३।

किन्तु जबतक इस जड़भूत का आधार चिद्ब्रह्म को नहीं मना लिया जाता तबतक जड़भूत कदापि ऐश्वर्य्य के सम्पादक नहीं बन सकते। श्रद्धाशून्या केवल कामेच्छा मानव के चिद्भाव को अन्तर्मुख बना दिया करती है। अंततः ऐसे मानव में, एवं आत्माभिव्यक्तिशून्य पशु में कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता—'सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्'। ऐसी दशा में मानवीय मन केवल कामनानुगत, अर्थात् जड़भावानुगत-विषयासक्त-बनता हुआ प्रज्ञापराध कर बैठता है, जिस प्रज्ञापराध के निराकरण के लिए मानव क्या करे ?, इस प्रश्न के शास्त्रों में अनेक उपाय बतलाए हैं, जो एक स्वतन्त्र ही विषय माना जायगा। उन सम्पूर्ण उपायों की आधारभूमि मानव के बुद्धि, और मनस्तन्त्र ही बना करते हैं।

सौर प्राण से उत्पन्न बुद्धि आग्नेयी है, चान्द्र सोम से उत्पन्न मन सौम्य है, यह पूर्व में निवेदन किया जा चुका है। दोनों के स्वरूप में बड़ा ही अन्तर है। उदाहरण के लिए—बुद्धि जहाँ विषयों पर जाती है वहाँ मन पर विषय आते हैं। मन पर जो विषय आते हैं उन्हें ही भावना-वासना-संस्कार कहा गया है। इस अपने संस्कारिक जगत् में ही मन अनुधावन करता रहता है। स्वतन्त्र कल्पना में बुद्धि प्रधान बनी रहती है, कल्पित की कल्पना में-अर्थात् नकल में मन प्रधान बना रहता है। बुद्धि अपने हित के अनुपात से कर्त्तव्य-कर्म्म निश्चित करती है मन देखादेखी प्रवाह के अनुसार कर्म्म करने लग पड़ता है। बुद्धि को जहाँ अनुशीलनात्मक अनुसरण प्रिय है, वहाँ मन को गतानुगतिक अनुकरण प्रिय है।

विद्यमान हैं। किन्तु अस्मितादोष से मानव सदा अपने आप को दीन हीन दरि
मानता रहता है। यही अस्मिता है। बड़ा ही भयानक दोष है यह मानव का
जो मानव सदा अपने मुख से न-न करता हुआ शून्य-क्षण-दुःख-भावों की
आराधना करता रहता है, वह कालान्तर में सर्वथा शून्यभाव में ही परिणत हो
जाता है। देखिए।

> असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेद् ।
> अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः ॥
>
> —उपनिषत् ।

यही कारण है कि, भारतीय शिष्टाचार के अनुपात से-प्रचण्डदुःख से युक्त
भी दो मानव जब भी मिलते हैं—'आनन्द है भगवान् की कृपा से' इस
सद्वाणी का ही उच्चारण करते हैं। रागद्वेषविहीना विषयानुगति ही वैराग्य है,
रागद्वेषानुगत अनुकूल-प्रतिकूल-भावात्मक ग्रन्थिबन्धन ही आसक्ति है। स्वरूप-
स्थिति ही धर्म्म है, स्वरूपस्थिति को विस्मृत करा देने वाला दुराग्रह-हठधर्मिता
ही अभिनिवेश है। धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्य-चारों बुद्धि को सबल बनाते
हुए मन को नियन्त्रित रखते हैं। एवं अभिनिवेश-अविद्या-आसक्ति-अस्मिता
चारों बुद्धिको निर्बल बनाते हुए मन को उच्छृङ्खल बना देते हैं। उच्छृङ्खल मन
मानवातिक्रमण का कारण बनता है, नियन्त्रित मन अतिक्रमण का निरोधक बनता
है। इस नियन्त्रण का मूल बीज है आश्रमजीवन। आश्रमजीवन की मूल प्रतिष्ठा
है दाम्पत्यपद्धति, जिसकी सीमा में मानव तथा मानवी, दोनों का स्वरूपपरिचय
सुगुप्त-सुरक्षित है।

कर्म्माश्वत्थमूर्त्ति कर्म्ममीमांसा यह दाम्पत्ययुग्म व्यवस्थितरूप से दाम्पत्यभाव
मूलक आश्रमजीवन में प्रतिष्ठित रहता हुआ आश्रमविलक्षण ईश्वरीय 'अव्ययाश्वत्थ'
को अपनी केन्द्रप्रतिष्ठा बनाए रखता है, जहाँ न पतन का भय है, न अतिक्रमण का।
मानव अपनी इस मूलप्रतिष्ठा को समझे, तदनुपात से दाम्पत्यमूला आश्रमजीवन-
पद्धति को सरल बनाता हुआ अपने श्रम-परिश्रम-गर्भित 'मानवाश्रम' (मानव

के आत्मा-बुद्धि-मन-शरीर-समन्वयात्मक आश्रम-जीवन) को लक्ष्य बनावे, तदनुपात से अपनी गुप्ततमा सर्वश्रेष्ठा—'नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्' लक्षणा परिपूर्णा 'मानव' अभिधा को चरितार्थ करे, इसी मङ्गलभावना के साथ आज का वक्तव्य उपरत हो रहा है।

ओं शमित्येतत्

'मानव का स्वरूप-परिचय'
नामक
तृतीय वक्तव्य-उपरत

—३—

———

श्री:

"मानव का स्वरूप-परिचय"

नामक

तृतीय–वक्तव्य–उपरत

३

———

श्री

"अश्वत्थविद्या का स्वरूप-परिचय"

नामक

चतुर्थ-वक्तव्य

४

ता० १७।१२।५६

समय—६॥ से ८ पर्य्यन्त (सायम्)

———

श्रीः

'अश्वत्थविद्या का स्वरूप-परिचय'

नामक

चतुर्थ-वक्तव्य

४

मानव-स्वरूप-परिचयात्मक कल के वक्तव्य में यह निवेदन किया गया है कि, मानव जहाँ कर्म्माश्वत्थरूप है, वहाँ मानव की मूलप्रतिष्ठा 'ब्रह्माश्वत्थ' से अनुप्राणित है। आज के वक्तव्य में इस दुरधिगम्या वैदिक-'अश्वत्थविद्या' के सम्बन्ध में ही हमें कुछ निवेदन करना है। स्थानीय समाचार पत्रों में इन वक्तव्यों के सम्बन्ध में-'वैदिक विज्ञान' वाक्य का उल्लेख हुआ है। आज के वक्तव्य से पूर्व इस 'विज्ञान' शब्द के सम्बन्ध में भी इसलिए कुछ निवेदन कर देना अप्रासङ्गिक न माना जायगा कि, वर्त्तमान युग में सर्वसाधारण के द्वारा व्यवहार में आने वाले 'विज्ञान' शब्द का एकमात्र अर्थ 'पदार्थविद्या' नामक 'भौतिक-विज्ञान' ही बना हुआ है, जिस इस व्यवहाररुचि से वैदिक-विज्ञान के 'विज्ञान' शब्द का कोई सम्बन्ध नहीं है। अपितु वैदिक दृष्टि से 'विज्ञान' शब्द अपना एक स्वतन्त्र ही, पारिभाषिक ही अर्थ रखता है। सचमुच वर्त्तमान युग में 'विज्ञान' शब्द सभी के लिए एक आकर्षण की वस्तु प्रमाणित हो रहा है। भौतिक-विज्ञान के अभिनव आविष्कारों के आकर्षण से आत्मविभोर बनती हुई भारतीय प्रजा अपनी शास्त्रीय निष्ठा से पराङ्मुख बनती हुई इस शब्द से सर्वात्मना प्रभावित हो चुकी है। इस प्रभाव के दुष्परिणाम-स्वरूप सम्भव है 'वैदिक-विज्ञान' के आधार पर भी कुछ ऐसी ही भ्रामक कल्पना कर ली जाय, जोकि कल्पना कदापि अभीष्ट नहीं है। अतः आज के निरूपणीय विषय से पूर्व भारतीय वैदिक दृष्टिकोण से 'विज्ञान' शब्द के पारिभाषिक अर्थ का ही दो शब्दों में समन्वय कर लेना आवश्यक होगा, जिसका इसी नाम के एक स्वतन्त्र निबन्ध में भी स्पष्टीकरण किया जा चुका है।

सम्मान्य श्रोताओं को सम्भवतः स्मरण होगा कि, प्रथम द्वितीय सप्ताह का उपक्रम करते हुए हमनें निवदन किया था कि, तत्वसूत्रों के गर्भ में ही तत्वसूत्रों का वाच्यार्थात्मक रहस्यार्थ अन्तर्गर्भित कर दिया गया है। ऋषि जिस तत्व का निरूपण करना चाहते हैं, उस तत्व की पूरी व्याख्या उन्हें शब्दों के माध्यम से उस शब्द के गर्भ में ही प्रतिष्ठित कर दी गई है। इसी चिरन्तन शैली के स्पष्टीकरण के सम्बन्ध में 'हृदय' शब्द आपके सम्मुख रक्खा गया था। एवं दूसरे दिन किन्हीं महानुभाव ने यह प्रश्न किया था कि, 'हृदयम्' शब्द के हृ-द–नामक दो अक्षरों का समन्वय तो हो गया। किन्तु तीसरे 'यम्' अक्षर का समन्वय गतार्थ नहीं बन सका ! । कामना थी कि, राष्ट्रपरिमण्डल में 'यम्' की चर्चा न की जाय। किन्तु जब जिज्ञासात्मक प्रश्न उपस्थित हो ही गया है, तो इस तृतीयाक्षर का भी शिवभावात्मक समन्वय अपेक्षित ही बन जाता है।

आहरण करने वाली शक्ति का नाम है–'हृ', एवं विसर्ग करने वाली शक्ति का नाम है–'द'। सहज भाषानुसार 'लेना' और 'देना'। लेने' का नाम है–'हृ', देने का नाम है–'द'। लेन, और देन के लिए यदि संस्कृतभाषा में हम कोई सरल शब्द ढूँढे, तो वे शब्द होंगे–'आगति', और 'गति'। क्या तात्पर्य हुआ आगति, और गति का' ! । केन्द्र से परिधि की ओर तत्त्व का जाना कहलाएगा 'गति', एवं परिधि से केन्द्र की ओर तत्त्व का आना कहलाएगा 'आगति'। 'आगति' का यहाँ-आहरणार्थक 'हृ' अक्षर से सम्बन्ध माना जायगा, यहाँ 'गति' का विसर्जनात्मक 'द' अक्षर से सम्बन्ध माना जायगा। आना, और जाना, यही क्रिया का स्वरूप है। क्रिया के लिए यह आवश्यक है कि, जबतक क्रिया को कोई निष्क्रिय धरातल नहीं मिल जाता, स्थिर–प्रतिष्ठित धरातल नहीं मिल जाता, तबतक क्रिया का संचार सर्वथा अवरुद्ध बना रहता है। प्रत्येक क्रिया के लिए, क्रियासञ्चार के लिए अवश्य ही कोई न कोई स्थिर–प्रतिष्ठात्मक आलम्बन अपेक्षित है। भूपिण्ड एक स्थिर धरातल है, तब हम चल सकते हैं, पादविक्षेपरूपा गति का अनुगमन कर सकते हैं। मुखविवरात्मक प्रतिष्ठित आधार पर ही हम ग्रासाच्छादनानुकूल–व्यापार–लक्षण कर्म्म कर सकते हैं। नेत्ररूप स्थिर आलम्बन के माध्यम से ही रूपों का आदान–विसर्गात्मक व्यापार सम्भव बना करता है। इसप्रकार प्रत्येक क्रिया की व्यवस्था के लिए यह अनिवार्य्य है कि, उसका कोई निष्क्रिय धरातल हो।

आदान, और विसर्ग नामक क्रियाभाव जिस प्रतिष्ठातत्त्व के आधार पर नियन्त्रित-नियमित–व्यवस्थित बने रहते हैं, वही क्रिया का नियमन' कहलाता है

जिसका अर्थ है नियन्त्रणात्मक स्तम्भन। जिस धर्मगत तत्त्वविशेष के आधार पर गति, और आगतिक्रियाएँ प्रवाहित रहें, वह क्रियानियामक तीसरा तत्त्वविशेष ही तीसरे 'यम्' नामक अक्षर से संगृहीत है। 'नियमयति यत् सर्वान् गत्यागात भावान्'-अर्थात् जो गत्यागतिलक्षण क्रियाभावों का नियमन करता है, संयमन करता है, यही तीसरा 'यम्' अक्षर है। इस तीसरे तत्त्व के लिए भी हमें लोकानुबन्धी शब्द और ढूँढना पड़ा-'स्थिति' शब्द। नियमनात्मक-स्तम्भनात्मक तत्त्व ही लोकव्यवहार में स्थिति कहलाया है। इसप्रकार 'हृदयम्' शब्द के-'हृ-द-यम' इन तीन अक्षरों के माध्यम से क्रमशः आगति-गति-स्थिति-ये तीन तत्त्व हमारे सम्मुख उपस्थित हो गए।

इन्हीं तीन तत्त्वों के साङ्केतिक पारिभाषिक वैदिक नाम हैं-ब्रह्मा, विष्णु इन्द्र। स्थितितत्त्व ही-'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा' के अनुसार 'ब्रह्म', किंवा ब्रह्मा है, जिसे सर्वविद्याप्रतिष्ठा माना गया है ✽। गतितत्त्व ही अपनी गत्यनुबन्धिनी बलाकृति से 'या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्म्मैव तत्' के अनुसार 'इन्द्र' है। एवं आगतितत्त्व ही अपने सहजसिद्ध अन्नाहरणात्मक अशनाया-धर्म्म से विष्णु है। ब्रह्मात्मिका स्थितिप्रतिष्ठा के आधार पर ही इन्द्राविष्णू-लक्षण गत्यागतिभावों की परस्पर प्रतिस्पर्द्धा होती रहती है जिसका उदाहरण के लिए मानव के अन्नोर्क-प्राणान्योऽन्य-परिग्रहलक्षण शारीरिक यज्ञ में साक्षात्कार किया जा सकता है। अपनी आयु के २५ वर्ष पर्य्यन्त मानव की आदानशक्ति तो रहती है प्रबल माना, एवं विसर्गशक्ति रहती है ह्रसीयसी। आता है अधिक एवं जाता है कम। आगति रहती है बलवती, एवं गति रहती है निर्बला। अतएव इस प्रथमावस्था में मानव की आयतनवृद्धि होती है। आगतिरूप विष्णु तथा गतिरूप इन्द्र, दोनों की प्रतिस्पर्द्धा में मानो विष्णु जीत रहे हैं, इन्द्र हार रहे हैं। २५ से ५० वर्ष पर्य्यन्त आगति, और गति समान बनी रहती है। जितना आता है, उतना ही निकल भी जाता है। अतएव इस मध्यावस्था के अनुपात में कहा जा सकता है कि-न इन्द्र विष्णु से हारते, न विष्णु इन्द्र से हारते। ५ से ७५ पर्य्यन्त आगतिबल बन जाता है शिथिल एवं रोमकूपछिद्र-अन्यान्य सम्पर्कों के कारण गतिबल बन जाता है

✽-ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥

—उपनिषत्

सम्मान्य श्रोताओं को सम्भवतः स्मरण होगा कि, प्रथम द्वितीय वक्तव्य का उपक्रम करते हुए हमनें निवेदन किया था कि, तत्तच्छब्दों के गर्भ में ही तत्तच्छब्दों का वाच्यार्थात्मक रहस्यार्थ अन्तर्गर्भित कर दिया गया है। ऋषि जिस तत्त्व का निरूपण करना चाहते हैं, उस तत्त्व की पूरी व्याख्या संक्षेप वाक्यों के माध्यम से उस शब्द के गर्भ में ही प्रतिष्ठित कर दी गई है। इसी चिरन्तन शैली के स्पष्टीकरण के सम्बन्ध में 'हृदय' शब्द आपके सम्मुख रक्खा गया था। एवं दूसरे दिन किन्हीं महानुभाव ने यह प्रश्न किया था कि, 'हृदयम्' शब्द के हृ-द-नामक दो अक्षरों का समन्वय तो हो गया। किन्तु तीसरे 'यम्' अक्षर का समन्वय गतार्थ नहीं बन सका?। कामना थी कि, राष्ट्रपतिभवन में 'यम' की चर्चा न की जाय। किन्तु जब जिज्ञासात्मक प्रश्न उपस्थित हो ही गया है, तो इस तृतीयाक्षर का भी शिवभावात्मक समन्वय अपेक्षित ही बन जाता है।

आहरण करने वाली शक्ति का नाम है-'हृ', एवं विसर्ग करने वाली शक्ति का नाम है-'द'। लोक भाषानुसार 'लेना' और 'देना'। लेने' का नाम है-'हृ', देने का नाम है-'द'। लेन, और देन के लिए यदि संस्कृतभाषा में हम कोई सरल शब्द ढूँढे, तो वे शब्द होंगे-'आगति', और 'गति'। क्या तात्पर्य हुआ आगति, और गति का'?। केन्द्र से परिधि की ओर तत्त्व का जाना कहलाएगा 'गति', एवं परिधि से केन्द्र की ओर तत्त्व का आना कहलाएगा 'आगति'। 'आगति' का वहाँ आहरणार्थक 'हृ' अक्षर से समन्वय माना जायगा, वहाँ 'गति' का विसर्जनात्मक 'द' अक्षर से समन्वय माना जायगा। आना, और जाना, यही क्रिया का स्वरूप है। क्रिया के लिए यह आवश्यक है कि, जबतक क्रिया को कोई निष्क्रिय धरातल नहीं मिल जाता, स्थिर-प्रतिष्ठित धरातल नहीं मिल जाता, तबतक क्रिया का संचार सर्वथा अवरुद्ध बना रहता है। प्रत्येक क्रिया के लिए, क्रियाव्यापार के लिए अवश्य ही कोई न कोई स्थिर-प्रतिष्ठात्मक आलम्बन अपेक्षित है। भू पृष्ठ एक स्थिर धरातल है, तब हम चल सकते हैं, पादविक्षेपरूपा गति का अनुगमन कर सकते हैं। मुखविवरात्मक प्रतिष्ठित आधार पर ही हम गलाधःकरणानुकूल-व्यापार-लक्षण कर्म कर सकते हैं। नेत्ररूप स्थिर आलम्बन के माध्यम से ही रूपों का आदान-विसर्गात्मक व्यापार सम्भव बना करता है। इसप्रकार प्रत्येक क्रिया की व्यवस्था के लिए यह अनिवार्य है कि उसका कोई निष्क्रिय धरातल हो।

आदान, और विसर्ग नामक क्रियाभाव जिस प्रतिष्ठातत्त्व के आधार पर नियन्त्रित-नियमित-व्यवस्थित बने रहते हैं, वही क्रिया का 'नियमन' कहलाए है

जिसका अर्थ है नियन्त्रणात्मक संयमन। जिस तत्त्वविशेष के आधार पर गति और आगतिक्रियाएँ प्रवाहित रहें, वह क्रियानियामक तीसरा तत्त्वविशेष ही तीसरे 'यम्' नामक अक्षर से संगृहीत है। 'नियमयति यत् सर्वान् गत्या-गात भावान्' अर्थात् जो गत्यागतिलक्षण क्रियाभावों का नियमन करता है, संयमन करता है, वही तीसरा 'यम्' अक्षर है। इस तीसरे तत्त्व के लिए भी हमें लोकानुबन्धी शब्द और ढूँढना पड़ा-'स्थिति' शब्द। नियमनात्मक-संयमनात्मक तत्त्व ही लोकव्यवहार में स्थिति कहलाया है। इसप्रकार 'हृदयम्' शब्द के-'हृ-द-यम्' इन तीन अक्षरों के माध्यम से क्रमशः आगति गति-स्थिति-ये तीन तत्त्व हमारे सम्मुख उपस्थित हो गए।

इन्हीं तीन तत्त्वों के शास्त्रीय पारिभाषिक वैदिक नाम हैं-ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र। स्थितितत्त्व ही-'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा' के अनुसार 'ब्रह्म', किंवा ब्रह्मा है, जिसे सर्वविद्याप्रतिष्ठा माना गया है ※। गतितत्त्व ही अपनी गत्यनुबन्धिनी बलाकृति से 'या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्म्मैव तत्' के अनुसार 'इन्द्र' है। एवं आगतितत्त्व ही अपने सहबलित अन्नाहरणात्मक अशनाया-धर्म्म से विष्णु है। ब्रह्मात्मिका स्थितिप्रतिष्ठा के आधार पर ही इन्द्राविष्णू-लक्षण गत्यागतिभावों की परस्पर प्रतिस्पर्द्धा होती रहती है जिसका उदाहरण के लिए मानव के अशोर्क-मात्रान्योऽन्य-परिग्रहलक्षण शारीरिक यज्ञ में साक्षात्कार किया जा सकता है। अपनी आयु के २५ वर्ष पर्य्यन्त मानव की आदानशक्ति तो रहती है प्रबल माना, एवं विसर्गशक्ति रहती है क्षीणसी। आता है अधिक, एवं जाता है कम। आगति रहती है बलवती, एवं गति रहती है निर्बला। अतएव इस प्रथमावस्था में मानव की आयतनवृद्धि होती है। आगतिरूप विष्णु, तथा गतिरूप इन्द्र, दोनों की प्रतिस्पर्द्धा में मानो विष्णु जीत रहे हैं इन्द्र हार रहे हैं। २५ से ५० वर्ष पर्य्यन्त आगति, और गति समान बनी रहती है। जितना आता है, उतना ही निकल भी जाता है। अतएव इस मध्यावस्था के अनुपात से कहा जा सकता है कि-न इन्द्र विष्णु से हारते, न विष्णु इन्द्र से हारते। ५ से ७५ पर्य्यन्त आगतिबल मन्द बन जाता है शिथिल, एवं रोमकूपप्रवृद्धि-अन्यान्य सपर्यादि के कारण गतिबल बन जाता है

※-ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥

—उपनिषत्

प्रबुद्ध। आय होती है कम, एवं व्यय होता है अधिक। अतएव इस अवस्था के सम्बन्ध में कहा जाता है कि, इन्द्र जीत रहे हैं, और विष्णु हार रहे हैं। अन्त में ७५ से १०० वर्ष पर्य्यन्त की चौथी अवस्था में गतिरूप विसर्गात्मक इन्द्र तो उत्तरोत्तर बनते जाते हैं प्रबल, एवं आगतिरूप विष्णु उत्तरोत्तर होते जाते हैं शिथिल। जब आहरणात्मक यज्ञकर्म्म सर्वथा उच्छिन्न हो जाता है, तो इन्द्र-सहयोगी अग्नि विशुद्ध रूप में परिणत हो कर इस मानव-संस्थान को उच्छिन्न कर डालते हैं। इन तीन धाराओं में २५ और ५० के मध्य की जो धारा है, जिसमें कि इन्द्र और विष्णु, अर्थात् गति और आगति, दोनों समान-बलशाली बने रहते हैं—लक्ष्य बना कर श्रुति ने कहा है कि— 'अन्य सभी देवता इन्द्र और विष्णु (गति और आगति) को जीत लेना चाहते हैं। किन्तु ये दोनों किसी भी प्राण-देवता से परास्त नहीं होते। साथ ही (अपनी मध्यावस्था में) इन दोनों में भी एक दूसरे से एक दूसरा पराजित नहीं होता। आप्य पारमेष्ठ्य महान् के आधार पर—आपोमय शरीर के आधार पर—इस इन्द्रा-विष्णू की जो यह प्रतिस्पर्द्धा होती रहती है, इसी से वाक्-वेद-लोक-नाम की तीन साहस्रियों का जन्म हो पड़ता है", जिन इन तीनों साहस्रियों से सम्बन्ध रखने वाली साहस्रीविद्या का स्वरूप-विश्लेषण किसी स्वतन्त्र वक्तव्य का ही विषय है। गत्यागत्यात्मक इसी 'प्रतिद्वन्द्वी' भाव का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

> उभा जिग्यथुर्नपराजयेथे, न पराजिग्ये कतरश्च नैनो ।
> इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम् ॥
>
> —ऋक्संहिता ६।६९।८

किं तत्सहस्रमिति ?,-इमे लोकाः, इमे वेदाः, अथो वागिति-ब्रूयात् (ब्राह्मण)।

अमरकोशानुबन्धी विष्णु शब्द के पर्य्यायों में 'उपेन्द्र' और 'इन्द्रावरज' शब्द आये हैं। 'उपेन्द्र इन्द्रावरजश्चक्रपाणिश्चतुर्भुजः'। आगतिधर्म्मा विष्णु गतिधर्म्मा इन्द्र के समीप हैं, अतएव इन्हें 'उपेन्द्र' कहा गया है। आगति-गति-विस्तारविभाग गति के ही विवर्त हैं। गतितत्त्व ही प्रधान है। अतएव गतितत्त्वात्मक इन्द्र अन्य प्राणों के समतुलन में ज्येष्ठ-श्रेष्ठ-वरिष्ठ मान लिए गए हैं, जैसाकि—'इन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः श्रेष्ठो ज्येष्ठः' इत्यादि वचन से

स्पष्ट है। गतिप्राधान्य से ही ज्येष्ठ इन्द्र की अपेक्षा विष्णु कनिष्ठ हैं। अतएव इन्हें 'इन्द्रावरज' कहा गया है, जिसका लोकार्थ है- इन्द्र के छोटे भाई'। यह सर्वथा सर्वात्मना अवधेय है कि उपासनाकाण्ड से सम्बन्ध रखने वाले ब्रह्मेन्द्रविष्ण्वादि विभिन्न तत्त्व हैं एवं यज्ञात्मक कर्मकाण्ड से सम्बन्ध रखने वाले इन देवताओं का स्वरूप विभिन्न ही है। साथ ही विज्ञानकाण्ड से सम्बन्ध रखने वाले ब्रह्मादि अपना विभिन्न ही स्वरूप रख रहे हैं। मूलसंहितात्मक वेदशास्त्र (मन्त्रात्मक वेद), संहिताव्याख्यानरूप ब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र, एवं मन्त्रब्राह्मणात्मक इस वेदशास्त्र का उपबृंहणात्मक पुराणशास्त्र भेद से भारतीय तत्त्ववाद क्रमशः 'विज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड उपासनाकाण्ड भेद से तीन स्वतन्त्र धाराओं में प्रवाहित रहा है। मन्त्रात्मक वेदभाग के ब्रह्मादि देवता प्राकृतिक पदार्थ हैं, ब्राह्मणात्मक वेदभाग के ब्रह्मादि देवता प्राणविध-तथा अभिमानी विध-प्राणीविध-आधिदैविक देवता हैं। एवं पुराणशास्त्र के ब्रह्मादि देवता आधिभौतिक उपास्य देवता हैं। ऐतिहासिक मनुष्यविध भौम देवताओं का भी इसी वर्ग में अन्तर्भाव है। बड़ा ही रहस्यपूर्ण है भारतीय देवतावाद, जिसे न समझने के कारण कल्पनावादियों ने इस दिशा में अनेक भ्रान्त कल्पनाएँ कर रक्खी हैं। किसी एक निश्चित सिद्धान्त-बिन्दु के आधार पर तीनों ही देवधाराएँ अन्ततोगत्वा एक ही लक्ष्य पर विश्रान्त हैं। केवल अधिकारी की योग्यता के भेद से देवतत्त्व को विभिन्न तीन शैलियों से समन्वित किया है श्रुतिप्रज्ञा ने। तीनों की भाषाशैली-निरूपणपद्धति-संग्रहप्रकार सर्वथा विभिन्न ही होंगे। इस दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखते हुए ही हमें प्रस्थान भेद से भारतीय देवतावाद के समन्वय में प्रवृत्त होना चाहिए। प्रकृत में हम विज्ञानशैली को ही लक्ष्य बना रहे हैं, जिसके माध्यम से ब्रह्मादि देवता पदार्थतत्त्व के रूप से ही व्याख्यात हैं।

स्थिति का थोड़ा और स्पष्टीकरण कर लेना चाहिए। गति आगति-स्थिति-क्रम से यहाँ जिन तीन देवताओं का दिग्दर्शन कराया जा रहा है, उनका पदार्थ विधात्मक तत्त्वात्मक विज्ञानकाण्ड से ही सम्बन्ध है। जब कर्मकाण्ड की मीमांसा की जायगी, तो इन देवताओं का स्वरूप भिन्न प्रकार से ही उपवर्णित होगा। एवं पौराणिक उपासनाकाण्ड, तथा इतिहासकाण्ड की दृष्टियों से इनका पृथक् पृथक् रूप से ही स्वरूप-विश्लेषण होगा, जिस पौराणिक विश्लेषण में- इन्द्र विष्णु के छोटे भ्राता हैं, ब्रह्मा स्थिति तत्त्व है, गति इन्द्र तत्त्व है" इसप्रकार की तत्त्वात्मिका विज्ञानभाषा सर्वथा ही अशुद्ध मानी जायगी। औपासनिक देवताओं के स्वरूप से तो प्रायः सभी आस्तिक परिचित होंगे। चतुर्मुख ब्रह्मा, चतुर्भुज विष्णु, त्रिनेत्र

शिव, सहस्रभग स्वर्गाध्यक्ष इन्द्र, आदि देवताओं का यशोगान सभी आस्तिक करते रहते हैं। एवमेव ब्रह्मणे स्वाहा, इन्द्राय वौषट्, विष्णवे स्वाहा, अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा, इत्यादि रूप से वैधकर्म्मानुगत यज्ञिय देवताओं की स्तुतियों से भी भारतीय कर्मासक्त याज्ञिक बन्धु सुपरिचित माने जा सकते हैं। किन्तु वैज्ञानिक देवतत्त्वों का स्वरूप तो आज सर्वथा विस्मृत ही हो गया है भारतीय प्रज्ञाक्षेत्र से। इस विस्मृति से ही भारतीय देवतावाद मानवीय प्रज्ञा के लिए एक जटिल समस्या ही बना रह गया है। तभी तो परम वैज्ञानिक, विशुद्ध सत्यवादी भी भारतीय पुरातन मानव आज भ्रान्त महानुभावों के द्वारा-'देवताओं के गुलाम' जैसी उपाधि से अलङ्कृत कर दिये जाते हैं। इसी सम्बन्ध में यह भी विश्वसनीय है कि, विज्ञान-कर्म्म-उपासना-तीनों सरणियों से सम्बन्ध रखने वाले देवताओं का परस्पर कोई विरोध नहीं है। सिद्धान्तबिन्दु पर पहुँचने के अनन्तर तीनों पक्ष परस्पर निर्विरोध समन्वित हैं। यही त्रिदेवधारा सुसूक्ष्मदृष्टि से आगे चल कर आठ भागों में विभक्त हो गई है, जिन इन आठों (१)-पुरुषविध चेतन अनित्य प्रत्यक्ष भौमदेवता, (२)-पुरुषविध चेतन नित्य अप्रत्यक्ष चान्द्रदेवता, (३)-अपुरुषविध अचेतन अप्रत्यक्ष नित्य सौरप्राणदेवता (४)-अपुरुषविध अचेतन प्रत्यक्ष भूतदेवता (५)-अभिमानीदेवता, (६)-प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष मन्त्रदेवता, (७)-कर्म्मदेवता, (८)-स्वानुभवैकगम्य आत्मदेवता, देवताओं का शतपथ-विज्ञानभाष्य में विस्तार से निरूपण हुआ है।

पदार्थविज्ञानभाषा में स्थिति-आगति-गति-तत्त्वों का ही नाम क्रमशः ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र हैं। क्या ये तीनों तीन विभिन्न तत्त्व हैं ?। नहीं। 'एका मूर्त्तिस्त्रयो देवा ब्रह्म-विष्णु-महेश्वराः' सिद्धान्त प्रसिद्ध है। एक ही तत्त्व के तीन विकास ये तीन देवता हैं। क्या तात्पर्य्य निकला इस विकास का ?। 'स्थिति' कहते हैं-गतिसमष्टि को। गति के अतिरिक्त स्थिति की कोई स्वरूपसम्भावना नहीं है। न्यूनतम दो विरुद्ध दिग्द्वयगति, एवं अनेक विरुद्ध-गतियों की समन्वितावस्था का ही नाम 'स्थिति' है। स्थिति का यों समन्वय कीजिए। केन्द्र से परिधि को लक्ष्य बनाने वाली वही गति 'गति' है परिधि से केन्द्र को लक्ष्य बनाने वाली वही गति 'आगति' है। इन दोनों विरुद्ध गतियों का जब एक ही केन्द्रबिन्दु में निपतन हो जाता है, तो विरुद्धदिग्द्वयगति-समन्विता यही गति 'स्थिति' कहलाने लग पड़ती है। यों एक ही गति परिम्पगुणता गति, केन्द्रागता गति, समष्टिगति भेद से तीन भावों में परिणत हो जाती है, जिसे व्यवहारभाषा में गति-आगति-स्थिति कह दिया जाता है। एक ही गति है, एक ही भावतत्त्व है, जो यों विभिन्न भावों

का अनुगमन कर तीन भावों में परिणत हो रहा है। एक ही 'हृदयम्' शब्द है, जिसके हृ-द-यम्-ये तीन अक्षर हैं।

आगे चल कर इस गतितत्त्व से, हृदयरूपा गतित्रयी से दो गतियों का विकास और होता है। जब आगतिभाव स्थिति के गर्भ में समाविष्ट हो जाता है, तो संकोचगति का विकास हो पड़ता है। जब गतिभाव स्थिति के गर्भ में समाविष्ट हो जाता है, तो विकासगति उत्पन्न हो पड़ती है। संकोचगति, विकासगति, दोनों स्नेहगति-तेजोगति नाम से भी प्रसिद्ध हैं। केन्द्रानुगता गति विशुद्धा आगति है परिध्यनुगता गति विशुद्धा गति है, गति-स्तम्भनरूपा गति स्थिति है, स्थितिगर्भिता आगति संकोचगति है, स्थितिगर्भिता गति विकासगति है। यों एक ही प्राणगति-(जिसे 'अक्षर' कहा गया है विश्व की मूलप्रकृति माना गया है), इन पाँच प्राणगतिभावों में दूसरे शब्दों में पाँच अक्षरभावों में परिणत हो जाती है, जिनमें तीन गतियों का एक विभाग है, एवं दो गतियों का एक विभाग है। गति-आगति-स्थिति-रूपा गतित्रयी हृदयरूप एक स्वतन्त्र तत्त्व बन रहा है, जिसे 'अन्तर्य्यामी' कहा जाता है। एवं संकोचगति-विकासगति-रूपा गतिद्वयी पृष्ठरूप एक स्वतन्त्र तत्त्व बन रहा है, जिसे 'सूत्रात्मा' माना गया है। ये ही पाँच गतियाँ किंवा एक ही अक्षरप्राण की पाँच अवस्थाएँ 'पञ्चाक्षर' कहलाए हैं जो क्रमशः ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम-इन नामों से प्रसिद्ध हैं। गतिसमष्टिरूपा स्थिति ब्रह्मा है, केन्द्रानुगता आगतिरूपा गति विष्णु है, परिध्यनुगता गतिरूपा गति इन्द्र है। तीनों हृ-द-यम्-अक्षर हैं यही अन्तर्य्यामी है, जो प्रत्येक वस्तुपिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित है। विकासगति अग्नि है संकोचगति सोम है। दोनों पृष्ठ्याक्षर हैं, यही सूत्रात्मा है, जिससे वस्तुपिण्डात्मक पृष्ठ का स्वरूप निर्मित है। इन्हीं पाँच अक्षरों का किंवा एक ही अक्षर की पाँच अवस्थाओं का दिग्दर्शन कराते हुए श्रुति ने कहा है—

> यदक्षरं पञ्चविधं समेति, युजो युक्ता अभि यत् संवहन्ति।
> सत्यस्य सत्यमनु यत्र युज्यते तत्र देवाः सर्व एकी भवन्ति ॥
>
> —उपनिषत्

'न हि ध्वान्तमीदृक् न यत्र प्रकाशः, प्रकाशो न तादृक्-न यत्रान्धकारः' इत्यादि विज्ञान-सिद्धान्तानुसार जैसे अन्धकार प्रकाश को अपने गर्भ में लिए बिना स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं हो सकता, प्रकाश जैसे अन्धकार को गर्भ में लिए बिना

शिव, शतक्रतु स्वर्गाध्यक्ष इन्द्र, आदि देवताओं का यशोगान सभी आस्तिक करते रहते हैं। एवमेव ब्रह्मणे स्वाहा, इन्द्राय वौषट्, विष्णवे स्वाहा, अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा, इत्यादि रूप से देवकर्मानुगत यज्ञिय देवताओं की स्तुतियों से भी भारतीय कर्माग्निक याज्ञिक बन्धु सुपरिचित माने जा सकते हैं। किन्तु वैज्ञानिक देवतत्त्वों का स्वरूप तो प्रायः सर्वथा विस्मृत ही हो गया है भारतीय प्रज्ञाक्षेत्र से। इस विस्मृति से ही भारतीय देवतावाद मानवीय प्रज्ञा के लिए एक जटिल समस्या ही बना रह गया है। तभी तो परम वैज्ञानिक, विशुद्ध तत्त्ववादी भी भारतीय पुरातन मानव प्रायः भ्रान्त महानुभावों के द्वारा-'देवताओं के गुलाम' जैसी उपाधि से अलङ्कृत कर दिये जाते हैं। इसी सम्बन्ध में यह भी विश्वसनीय है कि, विज्ञान-कर्म-उपासना-तीनों संस्थानों से सम्बन्ध रखने वाले देवताओं का परस्पर कोई विरोध नहीं है। सिद्धान्तबिन्दु पर पहुँचने के अनन्तर तीनों पक्ष परस्पर निर्विरोध समन्वित हैं। यही त्रिदेवधारा सुसूक्ष्मदृष्टि से आगे चल कर आठ भागों में विभक्त हो गई है जिन इन आठों (१)-पुरुषविध चेतन अनित्य प्रत्यक्ष भौमदेवता, (२)-पुरुषविध चेतन नित्य अप्रत्यक्ष चान्द्रदेवता, (३)-अपुरुषविध अचेतन अप्रत्यक्ष नित्य सौरप्राणदेवता, (४)-अपुरुषविध अचेतन प्रत्यक्ष भूतदेवता (५)-अभिमानीदेवता, (६)-प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष मन्त्रदेवता, (७)-छन्दोदेवता, (८)-स्वानुभवैकगम्य आत्मदेवता, देवताओं का शतपथ-विज्ञानभाष्य में विस्तार से निरूपण हुआ है।

पदार्थविज्ञानभाषा में स्थिति-आगति-गति-तत्त्वों का ही नाम क्रमशः ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र हैं। क्या ये तीनों तीन विभिन्न तत्त्व हैं ? नहीं। 'एका मूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्म-विष्णु-महेश्वरा' सिद्धान्त प्रसिद्ध है। एक ही तत्त्व के तीन विवर्त्त ये तीन देवता हैं। क्या तात्पर्य्य निकला इस विवर्त्त का ? । 'स्थिति' कहते हैं—गतिसमष्टि को। गति के अतिरिक्त स्थिति की कोई स्वरूपव्याख्या नहीं है। न्यूनतम दो विरुद्ध दिग्द्वयगति, एवं अनेक विरुद्ध-गतियों की समन्वितावस्था का ही नाम 'स्थिति' है। स्थिति का यों समन्वय कीजिए। केन्द्र से परिधि को लक्ष्य बनाने वाली यही गति 'गति' है परिधि से केन्द्र को लक्ष्य बनाने वाली यही गति 'आगति' है। इन दोनों विरुद्ध गतियों का जब एक ही केन्द्रबिन्दु में निपतन हो जाता है, तो विरुद्धदिग्द्वयगति-समन्विता यही गति 'स्थिति' कहलाने लग पड़ती है। यों एक ही गति परिध्यभिमुखा गति, केन्द्रानुगता गति, समष्टिगति भेद से तीन भावों में परिणत हो जाती है जिसे व्यवहारभाषा में गति-आगति-स्थिति कह दिया जाता है। एक ही गति है, एक ही मायातत्त्व है, जो यों विभिन्न भावों

का अनुगमन कर तीन भावों में परिणत हो रहा है। एक ही 'हृदयम्' शब्द है, जिसके हृ-द-यम्-ये तीन अक्षर हैं।

आगे चल कर इस गतितत्त्व से, हृदयरूपा गतित्रयी से दो गतियों का विकास और होता है। जब आगतिभाव स्थिति के गर्भ में समाविष्ट हो जाता है, तो संकोचगति का विकास हो पड़ता है। जब गतिभाव स्थिति के गर्भ में समाविष्ट हो जाता है, तो विकासगति उत्पन्न हो पड़ती है। संकोचगति, विकासगति, दोनों स्नेहगति-तेजोगति नाम से भी प्रसिद्ध हैं। केन्द्रानुगता गति विशुद्धा आगति है परिध्यनुगता गति विशुद्धा गति है, गति-स्तम्भनरूपा गति स्थिति है, स्थितिगर्भिता आगति संकोचगति है, स्थितिगर्भिता गति विकासगति है। यों एक ही प्राणगति-(जिसे 'अक्षर' कहा गया है विश्व की मूलप्रकृति माना गया है), इन पाँच प्राणगतिभावों में दूसरे शब्दों में पाँच अक्षरभावों में परिणत हो जाती है, जिनमें तीन गतियों का एक विभाग है, एवं दो गतियों का एक विभाग है। गति-आगति-स्थिति-रूपा गतित्रयी हृदयरूप एक स्वतन्त्र तत्त्व बन रहा है, जिसे 'अन्तर्य्यामी' कहा जाता है। एवं संकोचगति-विकासगति-रूपा गतिद्वयी पृष्ठरूप एक स्वतन्त्र तत्त्व बन रहा है, जिसे 'सूत्रात्मा' माना गया है। ये ही पाँच गतियाँ, किंवा एक ही अक्षरप्राण की पाँच अवस्थाएँ 'पञ्चाक्षर' कहलाए हैं, जो क्रमशः ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम-इन नामों से प्रसिद्ध हैं। गतिसमष्टिरूपा स्थिति ब्रह्मा है, केन्द्रानुगता आगतिरूपा गति विष्णु है, परिध्यनुगता गतिरूपा गति इन्द्र है। तीनों हृ-द-यम् अक्षर हैं यही अन्तर्य्यामी है, जो प्रत्येक वस्तुपिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित है। विकासगति अग्नि है, संकोचगति सोम है। दोनों पृष्ठाक्षर हैं, यही सूत्रात्मा है, जिससे वस्तुपिण्डात्मक पृष्ठ का स्वरूप निर्मित है। इन्हीं पाँच अक्षरों का किंवा एक ही अक्षर की पाँच अवस्थाओं का दिग्दर्शन कराते हुए श्रुति ने कहा है—

> यदक्षरं पञ्चविधं समेति, युजो युक्ता अभि यत् संवहन्ति।
> सत्यस्य सत्यमनु यत्र युज्यते तत्र देवाः सर्व एकी भवन्ति ॥
>
> —उपनिषत्

'न हि ध्वान्तमीदृक् न यत्र प्रकाशः, प्रकाशो न तादृक् न यत्रान्धकारः' इत्यादि विज्ञान-सिद्धान्तानुसार जैसे अन्धकार प्रकाश को अपने गर्भ में लिए बिना स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं हो सकता, प्रकाश जैसे अन्धकार को गर्भ में लिए बिना

शिव, राष्टसमम राष्ट्राणामुप इन्द्र, आदि देवताओं का यशोगान सभी आस्तिक करते रहते हैं। एतमेव ब्रह्मणे स्वाहा, इन्द्राय पोषट्, विश्वेभ्यो स्वाहा, अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा, इत्यादि रूप से देवकर्मानुगत यज्ञिय देवताओं की स्तुतियों से भी भारतीय कर्मनिष्ठ याज्ञिक बन्धु सुपरिचित माने जा सकते हैं। किन्तु वैज्ञानिक देवताओं का स्वरूप तो आज सर्वथा विस्मृत ही हो गया है भारतीय प्रज्ञाक्षेत्र से। इस विस्मृति से ही भारतीय देवतावाद मानवीय प्रज्ञा के लिए एक जटिल समस्या ही बना रह गया है। तभी तो परम वैज्ञानिक, विशुद्ध तत्त्ववादी भी भारतीय पुरातन मानव आज भ्रान्त महानुभावों के द्वारा-'देवताओं के गुलाम' जैसी उपाधि से अलङ्कृत कर दिये जाते हैं। इसी सम्बन्ध में यह भी विचारणीय है कि, विज्ञान-कर्म्म-उपासना-तीनों संस्थानों से सम्बन्ध रखने वाले देवताओं का परस्पर कोई विरोध नहीं है। सिद्धान्तबिन्दु पर पहुँचने के अनन्तर तीनों पक्ष परस्पर निर्विरोध समन्वित हैं। यही त्रिदेवधारा सुसूक्ष्मदृष्टि से आगे चल कर आठ मार्गों में विभक्त हो गई है जिन इन आठों (१)-पुरुषविध चेतन अनित्य प्रत्यक्ष भौमदेवता, (२)-पुरुषविध चेतन नित्य अप्रत्यक्ष चान्द्रदेवता, (३)-अपुरुषविध अचेतन अप्रत्यक्ष नित्य सौरप्राणदेवता, (४)-अपुरुषविध अचेतन प्रत्यक्ष भूतदेवता (५)-अभिमानीदेवता, (६)-प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष मन्त्रदेवता, (७)-कर्म्मदेवता, (८)-स्वानुभवैकगम्य आत्मदेवता देवताओं का शतपथ-विज्ञानभाष्य में विस्तार से निरूपण हुआ है।

पदार्थविज्ञानभाषा में स्थिति-आगति-गति-तत्त्वों का ही नाम क्रमशः ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र हैं। क्या ये तीनों तीन विभिन्न तत्त्व हैं ? । नहीं। 'एका मूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्म-विष्णु-महेश्वराः' सिद्धान्त प्रसिद्ध है। एक ही तत्त्व के तीन विकास ये तीन देवता हैं। क्या तात्पर्य्य निकला इस विकास का ? । 'स्थिति' कहते हैं-गतिसमष्टि को। गति के अतिरिक्त स्थिति की कोई स्वरूपव्याख्या नहीं है। न्यूनतम दो विरुद्ध दिग्द्वयगति, एवं अनेक विरुद्ध-गतियों की समन्वितावस्था का ही नाम 'स्थिति' है। स्थिति का यों समन्वय कीजिए। केन्द्र से परिधि को लक्ष्य बनाने वाली वही गति गति है परिधि से केन्द्र को लक्ष्य बनाने वाली वही गति 'आगति' है। इन दोनों विरुद्ध गतियों का जब एक ही केन्द्रबिन्दु में निपतन हो जाता है, तो विरुद्धदिग्द्वयगति-समन्विता यही गति 'स्थिति' कहलाने लग पड़ती है। यों एक ही गति परिध्यनुगता गति, केन्द्रानुगता गति, समन्वितगति भेद से तीन भावों में परिणत हो जाती है जिसे व्यवहारभाषा में गति-आगति-स्थिती कह दिया जाता है। एक ही गति है एक ही प्राणतत्त्व है, जो यों विभिन्न भावों

इस गति में केवल एक क्षणमात्र की स्थिति शेष रह गई है, शेष सम्पूर्ण स्थिति इस गति के गर्भ में से निकल चुकी है। अब अन्तिम कल्पना कर डालिए, और इस क्षणमात्र की स्थिति को भी गति के गर्भ में से निकाल दीजिए। क्या परिणाम होगा?, उत्तर स्पष्ट है। जिस क्षण में आप घर में रहेंगे, उसी क्षण में आप कार्य्यालय में भी विद्यमान रहेंगे। यों गति के गर्भ में से गतिस्वरूपसंरक्षिका स्थिति के सर्वथा निकल जाने से आपकी यह गति स्थितिरूप में ही परिणत हो जायगी। इसी आधार पर विज्ञान ने यह सिद्धान्त स्थापित किया कि-'यदि गति में से स्थिति निकाल दी जाती है, तो वह गति स्थितिरूप में ही परिणत हो जाती है'। एवं इस अन्तिम भाव के उदाहरण आप-हम नहीं बन सकेंगे। क्योंकि क्षरकूटात्मक भूतभाव सर्वात्मना अपनी गति में से कभी स्थिति निकाल ही नहीं सकता। अतएव पार्थिव जड़-चेतनात्मक भूत-भौतिक पदार्थों में तो स्थितिगर्भिता गति, एवं गतिगर्भिता स्थिति ही, अर्थात् सापेक्ष गति-स्थिति-भाव ही उपलब्ध होंगे। जो इस भौतिक विश्व का नियन्ता सर्वेश्वर प्राणब्रह्म है, वही एकमात्र इस अन्तिम उदाहरण का लक्ष्य माना जायगा। जो विशुद्ध-गतिरूप बनता हुआ विशुद्ध-स्थितिरूप भी बना हुआ है। एक ही क्षण में सम्पूर्ण विश्व में गमन करने वाला, एक ही क्षण में सम्पूर्ण विश्व में स्थित रहने वाला तो वह 'एक' विश्वेश्वरब्रह्म ही हो सकता है, जिसके इसी विशुद्धगति,-विशुद्धस्थिति-भावों का दिग्दर्शन कराते हुए महर्षि ने कहा है—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्-तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥

—ईशोपनिषत्

"वह अनेजत् है, कम्पन-रहित है, गतिशून्य है, किन्तु मन से भी अधिक वेगवान् है, गतिमान् है। अर्थात् वह विशुद्ध गतिरूप है अपने बलभाव से, एवं विशुद्ध स्थितिरूप है अपने रसभाव से, जिन रसबलभावों का समन्वय आगे चल कर निरूपण सम्भव बन सकेगा। इससे पहिले चल पड़ने वाले देवता (विश्वसीमा में मुक्त भूतानुगत प्राण) कभी इस ब्रह्म को नहीं प्राप्त कर सकते। वह इन दौड़ते हुए देवताओं से सदा आगे ही मिलता है इन देवताओं से स्वयं बैठा बैठा ही। ऐसे इस अनेजदेकलक्षण विलक्षण तत्त्व में मातरिश्वा नामक प्राणवायु (वराह) यज्ञमात्मक 'आपः-शुक्र' की आहुति देता है। जिस शुक्राहुति से ही

प्रतिष्ठित नहीं रह सकता, ठीक इसी प्रकार ऐसी कोई गति नहीं है, जिसके गर्भ में स्थिति प्रतिष्ठित न हो । एवमेव ऐसी कोई स्थिति नहीं है, जिसके गर्भ में गति प्रतिष्ठित न हो। स्थिति को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित करके ही गति अपने गतिभाव को सुरक्षित रखती है । यदि गति के गर्भ में से इस स्थिति को सर्वात्मना निकाल दिया जाता है, तो यह गति स्थितिरूप में परिणत हो जाती है । ठीक इसीप्रकार गति को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित करके ही स्थिति अपने स्थितिभाव को सुरक्षित रखने में समर्थ बनती है । यदि स्थिति के र्भ में से इस गति को निकाल दिया जाता है, तो यह स्थिति गतिरूप में परिणत हो जाती है । उदाहरण से समन्वय कीजिए इस विलक्षण तत्त्ववाद का ।

आप में से समानबलशाली चार महानुभाव अपने निवास स्थान से ठीक ६ बजे कार्यालय के लिए गमन करते हैं, जो आपके घर से सम्भवतः दो मील है। चारों घर से निकलते हैं एक ही समय में, एक ही साथ । किन्तु कार्यालय में पहुँचने का समय चारों का भिन्न भिन्न हो जाता है। कल्पना कर लीजिये चारों क्रमशः -१ घण्टा-आधा घन्टा-२० मिनिट-५-मिनिट-इस रूप से पृथक् पृथक् समयों पर कार्यालय पहुँचे । क्यों हुआ यह कालान्तर ? । यही उत्तर दिया जायगा, कि जो शीघ्र चले-वे शीघ्र पहुँच गये, जो धीरे चले-वे विलम्ब से पहुँचे। क्या तात्पर्य ? । तात्पर्य यही कि-जिन की गति में स्थिरता-स्थिति-कम रही वे जल्दी पहुँच गये जिनकी गति में स्थिति अधिक रही, वे देर से पहुँचे । लोक-भाषानुसार जिन्होंने जल्दी जल्दी पैर बढ़ाये-वे जल्दी पहुँच गये । जिन्होंने पैर धीरे धीरे उठाये, वे देर से पहुँचे । अर्थात् जिन्होंने अपनी गति में से स्थिति विशेषरूप से कम कर दी-वे जल्दी पहुँचे, एवं जिन्होंने गति में स्थिति सामान्यरूप से कम की-वे देर से पहुँचे । अर्थात् गति के गर्भ में से जहाँ विशेषरूप से स्थिति कम हुई-वे जल्दी पहुँचे । एवं गति के गर्भ में से जहाँ स्थिति सामान्यरूप से कम हुई-वे देर से पहुँचे। आप चारों में से जो सज्जन ५ पाँच ही मिनिट में पहुँच गये उनके सम्बन्ध में अब हम यह कह सकते हैं कि, वे बहुत ही शीघ्र चले । अर्थात् इनकी गति में स्थिति बहुत ही कम रह रही । कब पैर उठाया-कब आगे रक्खा-यह भी पता लगाना कठिन था । मानो बिल्कुल न ठहरे हुए से ये चल ही रहे थे। अब कल्पना को थोड़ा और विस्तार दीजिए। यह भी तो सम्भव है कि-जो इन से भी तेज चल सकेगा, वह १ ही मिनिट में पहुँच जायगा । सम्भव है १ मिनिट में पहुँचने वाले भी मिल जावें । मिनिट का क्षण में भी तो विभाग माना जा सकता है इसी कल्पना के अनुग्रह से । इस 'क्षण' भाव का अर्थ होगा-जब

इस गति में केवल एक क्षणमात्र की स्थिति शेष रह गई है, शेष सम्पूर्ण स्थिति इस गति के गर्भ में से निकल चुकी है। अब अन्तिम कल्पना कर डालिए, और इस क्षणमात्र की स्थिति को भी गति के गर्भ में से निकाल दीजिए। क्या परिणाम होगा ?, उत्तर स्पष्ट है। जिस क्षण में आप घर में रहेंगे, उसी क्षण में आप कार्यालय में भी विद्यमान रहेंगे। यों गति के गर्भ में से गतिस्वरूपसंरक्षिका स्थिति के सर्वथा निकल जाने से आपकी यह गति स्थितिरूप में ही परिणत हो जायगी। इसी आधार पर विज्ञान ने यह सिद्धान्त स्थापित किया कि–'यदि गति में से स्थिति निकाल दी जाती है तो यह गति स्थितिरूप में ही परिणत हो जाती है'। एवं इस अन्तिम भाव के उदाहरण आप-हम नहीं बन सकेंगे। क्योंकि घरकूटात्मक भूतभाव सर्वात्मना अपनी गति में से कभी स्थिति निकाल ही नहीं सकता। अतएव पार्थिव जड़-चेतनात्मक भूत-भौतिक पदार्थों में तो स्थितिगर्भिता गति, एवं गतिगर्भिता स्थिति ही, अर्थात् सापेक्ष गति-स्थिति-भाव ही उपलब्ध होंगे। जो इस भौतिक विश्व का नियन्ता सर्वेश्वर प्राणब्रह्म है, वही एकमात्र इस अन्तिम उदाहरण का लक्ष्य माना जायगा। जो विशुद्ध-गतिरूप बनता हुआ विशुद्ध-स्थितिरूप भी बना हुआ है। एक ही क्षण में सम्पूर्ण विश्व में गमन करने वाला, एक ही क्षण में सम्पूर्ण विश्व में स्थित रहने वाला तो वह 'एक' विश्वेश्वरब्रह्म ही हो सकता है, जिसके इसी विशुद्धगति,-विशुद्धस्थिति-भावों का दिग्दर्शन कराते हुए महर्षि ने कहा है—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्-तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

—ईशोपनिषत्

"वह अनेजत् है, कम्पन-रहित है, गतिशून्य है, किन्तु मन से भी अधिक वेगवान् है, गतिमान् है। अर्थात् वह विशुद्ध गतिरूप है अपने बलभाव से, एवं विशुद्ध स्थितिरूप है अपने रसभाव से, जिन रसबलभावों का समन्वय आगे चल कर निरूपण सम्भव बन सकेगा। इससे पहिले चल पड़ने वाले देवता (विश्वसीमा में मुक्त भूतानुगत प्राण) कभी इस ब्रह्म को नहीं प्राप्त कर सकते। वह इन दौड़ते हुए देवताओं से सदा आगे ही मिलता है इन देवताओं से स्वयं बैठा बैठा ही। ऐसे इस अनेजदेजल्लक्षण विलक्षण तत्त्व में मातरिश्वा नामक प्राणवायु (वायु) यज्ञब्रह्मात्मक 'आपः-शुक्र' की आहुति देता है। जिस शुक्राहुति से ही

उस अनेप्रदेशत्-प्रश्न के आधार पर सापेक्षगति स्थितिरूप विश्व का निर्माण हुआ है" यही मन्त्र का अक्षरार्थमात्र-समन्वय है ।

लक्ष्य आज का 'अथर्वविद्या' है । अतएव दूसरे उदाहरण को किसी अन्य प्रकरण के लिए छोड़ा जाता है । तत्सम्बन्ध में अभी यही मान लेना पर्याप्त होगा कि, जितने भी स्थितिमान् पदार्थ हैं ठहरे हुए पदार्थ हैं, वे वस्तुतः चारों ओर गतिमान् हैं । गति को गर्भ में रख कर ही ये पदार्थ स्थिरधर्म्मा बने हुए हैं, ठहर हुए हैं । न्यूनतम दो विरुद्ध दिग्गतियों में किंवा सर्वतोदिग्गतियों के केन्द्रानुगत बन जाने से ही भौतिक पदार्थों में 'स्थिति' मात्र उत्पन्न हो रहा है । ये सभी गतिरूप में परिणत होते हैं, स्वस्थान से अन्य स्थान में विचाली बनते हैं, जब कि इनकी विचलन-प्रदेश से ठीक विपरीत प्रदेश की गति को हटा दिया जाता है । इसी आधार पर विज्ञान ने यह सिद्धान्त स्थापित किया कि-'गति को गर्भ में रख कर ही स्थिति अपना स्वरूप सुरक्षित रखती है । यदि स्थिति में से गति निकाल दी जाती है, तो यह स्थिति गतिरूप में परिणत हो जाती है' । यही समन्वय तम प्रकाश के सम्बन्ध में घटित है । यदि अन्धकार में से प्रकाश को निकाल दिया जाता है तो अन्धकार प्रकाशरूप में परिणत हो जाता है । एवं प्रकाश में से यदि अन्धकार को निकाल दिया जाता है, तो प्रकाश अन्धकाररूप में परिणत हो जाता है जिस इस रहस्य का 'अग्नी-षोमविद्या से ही सम्बन्ध है, जिसके एकमात्र अनुसरण सम्वत्सर का ही स्वरूप प्रथम वाक्य में स्पष्ट हुआ है ।

हाँ तो अब असंदिग्धरूप से यह कहा जा सकता है कि, अनेकदेशलक्षण विशुद्ध निरपेक्ष स्थिति-गति मूर्ति विश्वातीत प्राणतत्त्व की स्वरूपव्याख्या मानवीय बुद्धि अपने 'भूतविज्ञान' के द्वारा कदापि नहीं कर सकती, जब कि विज्ञानदृष्टि से यह सर्वथा विरुद्ध है । भूतदृष्टि से पृथक् बतलाने लिए ही इत्थंभूत प्राणभावों को महर्षियों ने-'अचिन्त्य-अप्रतर्क्य-अविज्ञेय-मान लिया है जिस इस रहस्य पूर्ण दृष्टिकोण को न समझ कर ही आज कितनें एक भूतविज्ञानवादी यह भ्रान्त कल्पना करने लग पड़े हैं कि, 'भारतीय ऋषियों के जो समझ में न आया उसे ही इन्होंनें अचिन्त्य समझ कर छोड़ दिया । क्योंकि उन्हें विज्ञान का बोध नहीं था । वे तो कल्पना से ही कुछ अनुमानमात्र लगा लिया करते थे । जब कि आज हम विज्ञान-परीक्षा के द्वारा सबकुछ प्रत्यक्ष करके बतलाते हैं" । अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! । आज का भूतविज्ञान जिस सुसूक्ष्म आत्मतत्त्व का

अकतक स्पर्श भी नहीं करने पाया है, ऋषिप्रज्ञा ने तो उसका साक्षात्कार कर लिया था। प्रयास करने पर भी आज का भूतविज्ञान जिस दिक् देश-काल-व्यवधान को हटाने में असमर्थ रहा है, रहेगा ऋषिप्रज्ञा ने प्राणसंयम के द्वारा उस व्यवधान को भी हटाने की क्षमता प्राप्त कर ली थी। इस प्राणसाक्षात्कार के कारण हीं तो वे 'ऋषि' कहलाये थे, जिनकी तत्त्वदृष्टि के पथानुसरण की उपेक्षा करने वाले आज के अनुगमक विद्वम्मन्य भारतीय विद्वानों को जो कुछ न कहा जाय, थोड़ा है।

'हृदय' शब्द के सम्बन्ध से पञ्चगतिसमष्टिरूप 'पञ्चाक्षर' का स्वरूप आपके सम्मुख रक्खा गया, जो हृदय तत्त्व आगे जाकर 'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषो-ऽश्वत्थः सनातन' लक्षणा अश्वत्थविद्या का आधार बनने वाला है। पञ्चाक्षरविद्या ही गतिविद्या है, जिसके गर्भ में सम्पूर्ण क्षरविद्याएँ-विश्वविद्याएँ प्रतिष्ठित हैं। इसी स्वस्त्ययनभाव-संग्रह के लिए भारतीय बालक को पाँचवें वर्ष में आरम्भ में 'अ-इ-उ-ऋ-लृ' न पाँच माङ्गलिक अक्षरों का ही बोध कराया जाता है जो ये पाँचों अक्षर उक्त पाँच तत्त्वाक्षरों के ही वाचक बने हुए हैं। यों आरम्भ में ही इस देश की प्रज्ञा में तत्त्वविद्या का प्राथमिक संस्कार आहित कर दिया जाता है (जाता था) पाँच शब्दाक्षरों के माध्यम से। जिस प्रकार परात्परात्मिका सम्पूर्ण तत्त्वविद्या ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र अग्नि-सोम-इन पाँच अक्षरों पर अवलम्बित है, एवमेव सम्पूर्ण शब्दविद्या अ-इ-उ-ऋ-लृ-इन पाँच शब्दाक्षरों के गर्भ में समाविष्ट है। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए शब्दशास्त्र के परमाचार्य्य भगवान् पाणिनिने-सुप्रसिद्ध चतुर्दश माहेश्वरसूत्रों के सर्वादिभूत 'अइउण्-ऋलृक्' इन दो महामाङ्गलिक सूत्रों के द्वारा सम्पूर्ण शब्दशास्त्र का संग्रह कर लिया है।

बतलाया गया है कि-ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-तीनों का हृदयरूप-अन्तर्यामीरूप स्वतन्त्र विभाग है। इसी पार्थक्य को सूचित करने के लिए इन तीनों तत्त्वाक्षरों के वाचक अ-इ-उ-इन तीन शब्दाक्षरों का 'अइउण्' रूप से पृथक् रूप से संग्रह हुआ है। एवं विपरङ्गुआत्मक-भूतक्षरमिश्रित अग्नि-सोम-नामक दोनों स्वतन्त्र अक्षरों के संग्रह के लिए 'ऋलृक्' यह कहा गया है। अग्नि-सोम-नामक तत्त्वाक्षरों में भूत-क्षर भी संश्लिष्ट है। यही अवस्था तद्वाचक ऋ-लृ-नामक दोनों अक्षरों की है। ये अ इ-उ-की भाँति शुद्ध स्वर नहीं हैं। अपितु इनमें-र्-ल्-रूप से मर्त्य क्षर के संग्राहक मर्त्य व्यञ्जन भी

समाविष्ट हो रह हैं। ब्रह्मा 'अ' कार है, यही स्थितितत्त्व है। विष्णु 'ह' कार है, यही आगतितत्त्व है। इन्द्र (जिसे कि पुराण ने शिव कहा है)। 'उ' कार है, यही गतितत्त्व है। 'उ' का वणादेश 'व' कार हो जाता है, सो यही 'वकार' बन जाता है, जिसकी प्रतिकृतिरूप यह ध्वनिशब्द बना हुआ है—'बम्' कार। यही लौकिक उपासकों का यह 'बम्' है, जो इसके मूलरूप उकारवाच्य शिवतत्त्व का ही संग्राहक बना हुआ है, जिसके लिए पुराण ने एक विशेष आख्यान समन्वित किया है। 'बमृशङ्कर' के माङ्गलिक निनाद से सभी शिवभक्त सुपरिचित हैं। यह है भारतीय उस शब्दार्थब्रह्मानुगत अभेदवाद का वह स्वरूप-दिग्दर्शन, जिसका श्रुति ने यों उद्घोष किया है—

> द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म परं च यत् ।
> शब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

"शब्दब्रह्म, और अर्थब्रह्मात्मक शब्दवाच्य परब्रह्म, दोनों एक ही ब्रह्म के दो विभिन्न विवर्त्त हैं। जो शब्दब्रह्म का स्वरूप जान लेता है, वह परब्रह्म स्वरूप को सर्वात्मना समन्वित कर लेता है' यह है इस श्रुति का अक्षरार्थ, जिसका अत्यन्त ही सुगुप्त रहस्य से सम्बन्ध है। पञ्चपर्वात्मिका विश्वविद्या का दिग्दर्शन कराते हुए दूसरे दिन के वक्तव्य में सूर्य्य से ऊपर परमेष्ठी नामक एक सोमलोक बतलाया गया था। शब्द, और अर्थ के समन्वय के लिए उसे ही लक्ष्य बनाइए। आपोमय पारमेष्ठ्य सरस्वान् नामक महासमुद्र में स्नेहगुणक भृगुतत्त्व, तथा तेजोगुणक अङ्गिरातत्त्व, ये दो तत्त्व प्रतिष्ठित हैं। सोममयी, किंवा आपोमयी भृगुधारा ही 'आम्भृणीवाक्' कहलाई है, जिसका ऋग्वेद के आम्भृणीसूक्त में विशद वैज्ञानिक विवेचन हुआ है। अग्निमयी अङ्गिराधारा ही 'सरस्वतीवाक्' कहलाई है। आम्भृणी—वाङ्मयी भृगुधारा से सम्पूर्ण पदार्थों का आविर्भाव हुआ है जो लक्ष्मी का क्षेत्र माना गया है। एवं सरस्वतीवाङ्मयी अङ्गिराधारा से शब्दसृष्टि हुई है, जो सरस्वती का क्षेत्र माना गया है। दोनों तत्त्व सहजन्मा हैं, सहचारी हैं जिनका हमारे इस त्रैलोक्य में पृथिवी और सूर्य्यरूप में अभिव्यक्तीभाव हुआ है। आपोमयी—भृगुमयी पृथिवी अर्थप्रधाना है अङ्गिरामय सूर्य्य शब्द प्रधान है जैसा कि—'त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यो आविवेश' से स्पष्ट है। सूर्य्य सरस्वतीमण्डल है पृथिवी लक्ष्मीमण्डल है। पृथिवी पद्म है, यही कमला का आवासक्षेत्र है। सूर्य्य देवताओं का आवासक्षेत्र है। सरस्वती

प्रथमा है, लक्ष्मी द्वितीया है। शब्दतन्मात्रा ही अर्थ की मूलजननी मानी गई है। सरस्वती के आधार पर ही लक्ष्मी प्रतिष्ठित है। सूर्य्य के आधार पर ही भूपिण्ड स्वस्वरूप से सुरक्षित है। दोनों के मूलबीज अङ्गिरा-भृगु-रूप से परमेष्ठी में सुगुप्त हैं। यहाँ दोनों सहचारी हैं। अतएव-'अत्रा सखाय सख्यानि जानते-भद्रैषा निहिता वाचि लक्ष्मी' इत्यादिरूप से दोनों का सख्यभाव सुप्रमाणित है। दुर्भाग्य है आज इस देश का कि आज के विद्वान् ने अपनी तत्त्वशून्या कल्पना के द्वारा सरस्वती, और लक्ष्मी की शत्रुता मान ली है। इस दारिद्र्य ने ही तो इसे तत्त्ववाद से पराङ्मुख किया है। सरस्वती को मूलाधार बनाए बिना लक्ष्मी प्रतिष्ठित ही नहीं हो सकती। सरस्वती ही तो 'श्री' रूप ऐश्वर्य्य है, जिसके आधार पर अर्थरूपा-भूतसम्पत्तिरूपा लक्ष्मी प्रतिष्ठित रहती है। जिस राष्ट्र की सरस्वती अभिभूत हो जाती है, उसकी लक्ष्मी पलायित हो जाती है, जैसा कि कल के वक्तव्य में निवेदन कर दिया गया है। आग्नेयी सरस्वती, तथा सौम्या लक्ष्मी, दोनों समन्वित होकर ही विश्वप्रतिष्ठा बनती है। आग्नेयी सरस्वती की ऋतु 'वसन्त' है जिसमें शारदापूजन विहित है। सौम्या लक्ष्मी की ऋतु 'वर्षा' है, जिसके अन्त में कमलापूजन विहित है। वसन्त 'श्रीः' है, वर्षा लक्ष्मी है, दोनों पारमेष्ठ्य विष्णु की पत्नियाँ हैं। राष्ट्र के अभ्युदय के लिए दोनों का समन्वय अनिवार्य्य है। जो राष्ट्र केवल अर्थासक्त बन कर सरस्वती की उपेक्षा कर देता है, निश्चयेन प्रज्ञाशून्य ऐसे राष्ट्र की सञ्चित अर्थशक्ति कालान्तर में विलीन ही हो जाया करती है। निवेदन यहाँ यही करना है कि, अङ्गिराधारा से शब्दसृष्टि का, एवं भृगुधारा से अर्थसृष्टि का विकास हुआ है। अतएव शब्द और अर्थ, दोनों का औत्पत्तिक सम्बन्ध है, तादात्म्यसम्बन्ध है। इसी आधार पर भगवान् भर्तृहरि ने कहा है—

> न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य शब्दानुगमादृते ।
> अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥
>
> —वाक्यपदी

> वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
> जगतः पितरौ वन्दे पार्वती-परमेश्वरौ ॥
>
> —कालिदासः

अर्थब्रह्म में-अव्यय-अक्षर-क्षर, ये तीन विवर्त हैं, तो शब्दब्रह्म के भी स्फोट-स्वर-वर्ण-ये तीन ही विवर्त हैं। अर्थब्रह्म में जहाँ-'तथाक्षरात्‌ विविधाः सौम्य ! भावाः प्रजायन्ते' के अनुसार अव्ययालम्बन पर क्षरोपादान से सम्पूर्ण अर्थों का वितान हुआ है, वहाँ शब्दब्रह्म में भी 'अ' काररूप एक ही स्वरात्मक अक्षर से स्फोटरूप अव्ययालम्बन पर व्यञ्जनरूप क्षर के माध्यम से सम्पूर्ण शब्दों का आविर्भाव हुआ है, जो शब्दप्रपञ्च ४८ वर्णमातृका पर वितत है। सम्भवतः ऐसी वर्णमातृका अन्य किसी भाषा में न होगी। 'अकारो वै सर्वा वाक्। सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति' (ऐतरेय आरण्यक) के अनुसार ऊष्मा और स्पर्श के तारतम्य से एक ही अकार कण्ठ-तात्वादि के स्पर्शोष्मा सम्बन्ध के द्वारा ४८ विवर्तों में परिणत हो रहा है। स्पर्श का अर्थ है संकोच, ऊष्मा का अर्थ है विकास। संकोच सोम का धर्म्म है, विकास अग्नि का धर्म्म है। 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' सिद्धान्तानुसार सम्पूर्ण पदार्थ जहाँ अग्नि-सोम के समन्वय-तारतम्य से उत्पन्न हुए हैं, वहाँ स्पर्शरूप सोम, तथा ऊष्मारूप अग्नि के समन्वय-तारतम्य से ही सम्पूर्ण वर्णाक्षरों का आविर्भाव हुआ है। जैसा, जो कुछ पञ्चब्रह्मविवर्त में घटित-विघटित है, वैसा, वही सबकुछ शब्दब्रह्म में विघटित है। दोनों विवर्त समान धाराओं में विभक्त हैं, और यही इस देश की प्रणवोपासनात्मिका शब्दब्रह्मोपासना का, पारायणपाठ का, मन्त्रजप का, स्तुतियों का मौलिक रहस्य है। जो लाभ तत्त्वविज्ञान से होता है, वही लाभ तत्त्व से अभिन्न शब्दब्रह्म की स्तुति से भी निश्चित है। अधिकारी के भेद से सभी मार्ग यथास्थान सुसमन्वित बने हुए हैं।

'अरहर्देवता सूर्य्यः' इस सिद्धान्त के अनुसार अ-आ-इ-ई-आदि स्वरों का विकास सूर्य्य से माना गया है, एवं क-च-ट-त-आदि व्यञ्जनों का विकास पृथिवी से माना गया है। जिस प्रकार सूर्य्य से उत्पन्न भूपिण्ड और आकर्षण के बिना स्वस्वरूप से क्षणमात्र भी प्रतिष्ठित नहीं रह सकता, एवमेव सूर्य्य से आविर्भूत स्वरों को आधार बनाए बिना पृथिवी से उत्पन्न व्यञ्जनों का भी उच्चारण कदापि सम्भव नहीं है।

स्वरवाक् ही व्यञ्जनवाक् की प्रतिष्ठा है। स्वरवाक् बृहतीवाक् है, यही सौरीवाक् है। व्यञ्जनवाक् ही अनुष्टुप् वाक् है, यही पार्थिववाक् है। जिस प्रकार एक कुक्कुट व्यञ्जनभाव को धर्मूर्ममाण करता रहता है, फोक-फोक कर-आत्मसात् करता रहता है, एवमेव बृहतीवाग्रूपा स्वरवाक् अनुष्टुब्वाग्रूपा व्यञ्जनवाक्

को चर्चूर्य्यमाणवृत्ति से आत्मसात् किए रहता है। बृहती ऐन्द्री वाक् है, अनुष्टुप् आग्नेयी वाक् है। ऐन्द्री वाक् ही आग्नेयी वाक की प्रतिष्ठा है जिसका समस्त प्राणिवर्ग में से केवल मानव में ही विकास हुआ है। बृहती, और अनुष्टुप् के इसी रहस्यात्मक सम्बन्ध को लक्ष्य बना कर श्रुति ने कहा है—

बीभत्सूनां सयुज हंसमाहुरपां दिव्यानां सख्ये चरन्तम्।
अनुष्टुभमनु चर्चूर्य्यमाणमिन्द्रं नि चिक्युः कवयो मनीषा॥
—ऋक्संहिता १०।१२४।६।

ऐन्द्री बृहती स्वरवाक् का सूर्य्य से सम्बन्ध है अतएव बृहतीवाक 'नवाक्षरा' मानी गई है, जिसका अर्थ है—नवबिन्दु-लक्षणा वाक्। यहाँ थोड़ा समझ लेना पड़ेगा। सूर्य्य जिस पूर्वापरवृत्त के केन्द्र में प्रतिष्ठित है, उसे 'बृहतीछन्द' कहा जाता है, जो कि-'विषुवद्वृत्त' नाम से प्रसिद्ध है ज्यौतिषशास्त्र में। नवाक्षर इस बृहतीछन्द के चार चरणों के ३६ अक्षर हो जाते हैं। प्रत्येक अक्षर के साथ सूर्य्य की सहस्र रश्मियों का सम्बन्ध हो जाता है। फलत ३६ आहत अक्षरों की ३६ • साहस्रियाँ हो जातीं हैं, जिसका अर्थ है ज्योति -गौ -आयु -मनोतामय और आयुर्भाग का ३६ संख्याओं में विभक्त हो जाना। मानव को प्रतिदिन अपने शिरोयन्त्र के केशान्तस्थानीय ब्रह्मरन्ध्रस्थान से सुषुम्णानाड़ी के द्वारा सूर्य्य का एक एक प्राण प्राप्त होता रहता है जीवनीय शक्ति के रूप में। यह कोश ३६ दिन में मुक्त हो जाता है, जिसके मानववर्ष १०० होते हैं। यही मानव का शतायुर्भोगकाल है। शतायुर्वै पुरुष'। आयुःप्रवर्त्तक यह बृहती प्राण ही स्वर का प्रवर्त्तक बनता है, जो कि नवबिन्द्वात्मक है। इन ६ बिन्दुओं में से मध्य की पाँचवीं, और तत्संलग्ना ६ ठी, ये दो बिन्दुएँ ही उभयरूप से स्वयं स्वर की प्रतिष्ठा बनती हैं जहाँ व्यञ्जन को बैठने का अधिकार नहीं है। इससे पूर्व १-२-३-४ बिन्दुएँ रिक्त हैं स्वर की, एवं ७-८-६-ये तीन उत्तर बिन्दुएँ रिक्त हैं स्वर की। इन पूर्वापर सात बिन्दुओं में मध्यस्थ उभयस्वर के अर्कसम प्राण व्याप्त रहते हैं, जिन पर अधिक से अधिक सात व्यञ्जन बैठाए जा सकते हैं जिसका उदाहरण प्रातिशाख्यशास्त्र ने दिया है- स्त्र्यर्क ट्'। स्-त्-र्-य्-ये चार व्यञ्जन 'अ' कार के पूर्व की १-२-३-४, इन बिन्दुओं पर प्रतिष्ठित हैं, एवं र्-क्-ट् ये तीन व्यञ्जन उत्तर की तीन बिन्दुओं पर प्रतिष्ठित हैं। अब इस मध्यस्थ अकारस्वर में आप व्यञ्जन उठाने की क्षमता नहीं है। अन्य व्यञ्जन के लिए अब दूसरे ही स्वर की अपेक्षा होगी।

लिखते हैं—उपन्यास, सन्यासी, किन्तु बोलते हैं उपन्न्यास-सन्न्यासी। ऐसा क्यों?, प्रश्न का उत्तर इसी स्वरवागविज्ञान पर अवलम्बित है। प्रत्येक स्वर के पूर्व में ४ बिन्दु उत्तर में ३ बिन्दु व्यञ्जनरूप अन्न को लेने की अशनाया (भूख) से युक्त रहती हैं। उपन्यास म पकार का अकार भी आगे के 'न्' को लेना चाहता है, या का आकार भी अपने पूर्वाकर्षण से न्' कार का ग्रास करना चाहता है। अतएव इस उभयस्वराकर्षण से मध्यस्थ संयुक्त 'न्' कार को दोनों ओर अनुगत हो जाना पड़ता है—उच्चारण काल में। यह है स्वर की महिमा, जिसके आधार पर वेदशास्त्र प्रतिष्ठित है। वेद कोई लोकवाक् नहीं है, जिसका मानस कल्पना से यों ही उद्गम हो पड़ा हो।

अपितु यह तो वह विज्ञानसिद्धा अनादिनिधना नित्या वाक् है, जिसे 'अपौरुषेय' उपाधि से समलङ्कृत किया गया है। मन्त्रवाच्य अर्थ की भाँति स्वयं शब्दात्मक मन्त्र भी अपूर्व शक्ति रखता है, जिसके आधार पर 'मन्त्रजपात्सिद्धिः' यह विज्ञानानुमोदित सिद्धान्त स्थापित हुआ है। जिसके मर्म्म को न समझने से आगे चल कर सङ्कीर्तनवाद चल पड़ा है। एक व्यञ्जन-स्वर-वर्ण-मात्रा-की अशुद्धि से वही मन्त्र इन्द्रशत्रु वृत्रासुर की भाँति विनाशक ही बन जाया करता है। देखिए।

दुष्टः शब्दः-स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

'अचिन्त्यो हि मणि-मन्त्रौषधीनां प्रभावः' सिद्धान्त के आधारभूत शब्द ब्रह्म-परब्रह्म-की अभिधा पावनगाथा का यही मार्मिक दिग्दर्शन है, जिसका यशगानिसमय वैदिक पद्मवेत्ता के मुख से कथोगान हो रहा है। यही वैदिक

पञ्चदेवतावाद पुराणशास्त्र में 'त्रिदेवतावाद' से उपबर्णित है। इन्द्र के साथ जब अग्नि, और सोम का समन्वय हो जाता है, तो और इन्द्रज्योति–चान्द्र सोमज्योति–पार्थिव अग्निज्योतिरूप से तीनों की समष्टि त्रिनेत्र शिव बन जाते हैं। वेद पाँचों का पृथक्–पृथक्रूप से गतिविज्ञान के द्वारा निरूपण करता है, तो पुराण इन्द्र–अग्नि–सोम का 'शिव' रूप से संग्रह कर 'ब्रह्मा–विष्णु–महेश' रूप से उपासना के माध्यम से देवतातत्त्व का उपबृंहण कर रहा है।

वेद जहाँ विज्ञानशास्त्र है, वहाँ पुराण उपासनात्मक कथाशास्त्र है, जिस 'कथा' का आधार बन रही है—'निदानविद्या'। आयुर्वेद का 'निदान' पृथक् वस्तु है। एवं पुराण की 'निदानविद्या' भिन्न अर्थ रख रही है। तत्तत् सुसूक्ष्म प्राणतत्त्वों को समझाने के लिए सतत्समानधर्मा–भूतपदार्थों पर तत्त्वों को घटित करके भूतमाध्यम से तत्त्ववाद का समन्वय करने वाली विद्या ही 'निदानविद्या' है। निदानविद्या के विलुप्त हो जाने से ही आज भारतीय उपासनाकाण्ड पर अनेक प्रकार के आक्षेप होने लग पड़े हैं। विशेष प्रकार के आकारयुक्त विचित्र देवता, विचित्र वाहन, विचित्र आयुध, विचित्र ही ध्यान, सब कुछ संकेतविद्यारूप निदान भावों से ही सम्बन्धित हैं। उदाहरण के लिए मूषक प्राणी पार्थिव उस घनप्राण का नैदानिकरूप है, जिस पर पार्थिव गणपतिप्राण प्रतिष्ठित है। पद्म (कमल) भूपिण्ड का निदान है। मुरा मोह का निदान है। त्रिशूल संहारशक्ति का निदान है। आदि आदि। इसी निदान के आधार पर प्राणदेवताओं की आकारकल्पना कर उनके ध्यान बने हैं। अपनी प्रज्ञा को पवित्र कर लेते हैं हम इसी नैदानिक शिव के ध्यान से—

व्याख्यामुद्राक्षमाला–कलशसुलिखिते बाहुभिर्वामपाद—
विन्यस्तो जानुमूर्ध्नि पदतलनिहितापस्मृतिर्घ्नं माघ ।
सौवर्णे योगपीठे लिपिमयकमले सूपविष्टस्त्रिनेत्र —
क्षीराभश्चन्द्रमौलिर्वितरतु विबुधां शुद्धबुद्धिं शिवो न ॥

भूपिण्ड पद्म का नैदानिकरूप इसलिए मान लिया गया कि, 'आपो वै पुष्करपर्णम्' इत्यादि श्रुति के अनुसार अप्तत्त्व का प्रथम घनरूप पद्मपत्र से समतुलित है। इसी निदान के आधार पर भौम ब्रह्मा को 'पद्मभू' मान लिया गया है, जिसका एक अर्थ है 'पुष्करद्वीप में रहने वाले'। अप्तत्त्व की प्रथमा पद्मा–

लिखते हैं–उपन्यास, सन्यासी, किन्तु बोलते हैं उपन्न्यास–सन्न्यासी। ऐसा क्यों ?, प्रश्न का उत्तर इसी स्वरवागविज्ञान पर अवलम्बित है। प्रत्येक स्वर के पूर्व में ४ बिन्दु उत्तर में ३ बिन्दु व्यञ्जनरूप प्राण को लेने की प्रार्थना (भूख) से युक्त रहती हैं। उपन्यास में पकार का अकार भी आगे के 'न्' को लेना चाहता है, या का आकार भी अपने पूर्वाकर्षण से 'न्' कार का ग्रास करना चाहता है। अतएव इस उभयस्वराकर्षण से मध्यस्थ संदशापतित 'न्' कार को दोनों ओर अनुगत हो जाना पड़ता है–उच्चारण काल में। यह है स्वर की महिमा, जिसके आधार पर वेदशास्त्र प्रतिष्ठित है। वेद कोई लोकवाक् नहीं है, जिसका मानस कल्पना से यों ही उद्‌गम हो पड़ा हो।

अपितु यह तो वह विज्ञानसिद्धा अनादिनिधना नित्या महावाक् है, जिसे 'अपौरुषेय' उपाधि से समलङ्कृत किया गया है। मन्त्रवाच्य अर्थ की भाँति स्वयं शब्दात्मक मन्त्र भी अपूर्व शक्ति रखता है, जिसके आधार पर 'मन्त्रजपात्‌सिद्धि' यह विज्ञानानुमोदित सिद्धान्त स्थापित हुआ है। जिसके मर्म्म को न समझने से आगे चल कर स्तुतिकीर्तनवाद चल पड़ा है। एक व्यञ्जन–स्वर–वर्ण–मात्रा की अशुद्धि से वही मन्त्र इन्द्रशत्रु वृत्रासुर की भाँति विनायक ही बन जाया करता है। देखिए !

दुष्टः शब्दः–स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्‌॥

'अचिन्त्यो हि मणि–मन्त्रौषधीनां प्रभावः' सिद्धान्त के आधारभूत शब्दब्रह्म–परब्रह्म–की अभिन्ना पावनगाथा का यही मार्म्मिक दिग्दर्शन है, जिसका पद्यगतिकारणा वैदिक पदार्थवेत्ता के मस्तक से बहिर्गमन हो पड़ा है। वही वैदिक

अनुगमन कर रहे हैं। इन आठों के निर्म्माण के अनन्तर इस निर्म्माणरूपा तुष्टि तृप्ति से मानो पार्थिव प्रजापति ने विश्रामकालनिबन्धन संगीत का ही अनुगमन किया। इसलिए भी-'यदगायत्' निर्वचन से पृथिवी गायत्री कहलाई। देखिए!

"स प्रजापति -आप, फेन, मृद, सिकत, शर्करा, अश्मान-अय -हिरण्य-असृजत। अभूद्वा इय प्रतिष्ठेति-तद्भूमिरभवत्। यदप्रथयत्-सा पृथिव्यभवत्। सेयं सर्वा कृत्स्ना मन्यमाना अगायत्। यदगायत्-तस्माद् गायत्री। तस्माद् हैतद्य सर्वं कृत्स्नो मन्यते, गायति, वैव गीते वा, रमते"।

—शतपथब्राह्मण ६।१।१२-१५।

श्रुति के अन्तिम वचन से राष्ट्रीय मानव को एक विशेष लोकशिक्षा मिल रही है। गीत-नृत्य-वाद्य-विविध-शिल्पकलादि विन्यास-आदि आदि मानव अनुरञ्जनभावों का राष्ट्र कब अनुगमन करे ?, जबकि उसकी ज्ञान-क्रिया-पौरुष-अर्थ-शक्तियाँ सुदृढ़ बन जायें। स्वस्वरूप के पूर्ण सम्पादन-विकास के अनन्तर ही प्रजापति ने मनस्तुष्टिरूप सङ्गीत-एवं रमणपथ का अनुगमन किया था। जब तक राष्ट्र की ज्ञान-पौरुष अर्थादि शक्तियाँ सर्वात्मना सुसम्पन्न-कृत्स्न नहीं बन जातीं, तबतक राष्ट्र को कदापि स्वप्न में भी सङ्गीत-नृत्यादि आयोजनों का अधिकार नहीं है। तस्मात्- 'य सर्वं कृत्स्नो मन्यते गायति वैव गीते वा रमते वा' इस श्रौत आदेश को शिरोधार्य्य करके ही राष्ट्र को मनोविनोदात्मक व्यासङ्गों के प्रति अनुधावन करना चाहिए।

निदानविद्या का प्रासङ्गिक इतिवृत्त उपरत हुआ। पुनः 'हृदय' शब्द को लक्ष्य बनाइए, जो 'विज्ञान' शब्द के समन्वय के लिए यहाँ उदाहरण बन रहा है। अव्ययमूर्ति केन्द्राक्षर ही 'हृदय' है, यही अन्तर्य्यामी है। एवं अग्नि-सोमात्मक अव्ययरमूर्ति पृष्ठाक्षर ही वस्तुपिण्ड है, यही सूत्रात्मा है। इसप्रकार एक ही अक्षरविद्या केन्द्रविद्या, पृष्ठविद्या, भेद से दो मार्गों में विभक्त हो रही है। केन्द्रविद्या शुद्ध अक्षरविद्या है पृष्ठविद्या अक्षरगर्भिता 'क्षरविद्या' है। केन्द्रस्थ आत्मविद्या अक्षरविद्या है, यही पराविद्या है। पिण्डस्था विश्वविद्या क्षरविद्या है, यही अपराविद्या है। पराविद्या ज्ञानविद्या है, अपराविद्या विज्ञानविद्या है। इन्हीं दोनों विद्याओं का दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि ने कहा है—

पाथा ही भूपुर की निर्माणी बनी है । इस पुर-कर-धर्म से ही इस क्षेत्र को 'पुष्कर' मान लिया है । पद्मनाभि-कृष्णद्रष्टा भगवान स्वयम्भू ब्रह्मा के नैमित्तिक अनुष्ठान का महत् सौभाग्य सम्पूर्ण भारतवर्ष में उस 'पुष्करक्षेत्र' को ही प्राप्त हुआ है जिसके अनुग्रह से राजस्थान सदा से ही अनुप्राणित रहता हुआ अपनी वेदनिष्ठा का परिचय देता आ रहा है । अवश्य ही कुछ एक कारणों से कुछ समय से वंचित हो गया था राजस्थान इस महत् सौभाग्य से । किन्तु आज पुन पुष्करक्षेत्र का राजस्थान पर अनुग्रह हो गया है । और अब यह आशा की जा सकती है कि, इस नैमित्तिक क्षेत्र से समन्वित राजस्थान अब अवश्य ही अपनी चिरन्तना वेदनिष्ठा के द्वारा राजस्थान को न केवल भारत का ही, अपितु समस्त विश्व का केन्द्र प्रमाणित कर देगा । अचिन्त्य-अविज्ञेय-अमतर्क्य हैं प्रकृति के सूक्ष्म विधि-विधान । पुष्कर केन्द्र से समन्वित होते ही राजस्थान का यह सांस्कृतिक वेदस्वरूप पुष्करस्थ वेदस्रष्टा भगवान् ब्रह्मा की ही प्रेरणा से राष्ट्रीय केन्द्रानुग्रह से समन्वित होने जा रहा है, जिसके द्वारा इस राष्ट्रीय मूलसंस्कृति का भविष्य उज्ज्वल ही प्रतीत हो रहा है ।

गो शब्दों में भगवान् ब्रह्मा के आवासरूप 'भूपद्म' को भी लक्ष्य बना लीजिए । जब भूपिण्ड का निर्माण न हुआ था, तो सर्वत्र यहाँ 'अर्णव' नामक क्षार समुद्र का ही साम्राज्य था । इस आपोमय समुद्र में वायु ने प्रवेश किया वायु से पानी बुद्बुद्रूप में परिणत हो गया । बुद्बुद् विलीन हों—इससे पहिले ही पुन अप्-वायु-सौरतेज का बुद्बुदों पर आक्रमण आरम्भ हो गया । इससे बुद्बुदावच्छिन्न अप-वायु-तेज-आदि संसृष्टिरूप उपमर्दन से मूर्च्छित हो कर 'फेन' रूप में परिणत हो गए । यही आक्रमणप्रक्रिया सतत प्रवाहित रही, जिसे 'चितप्रक्रिया' कहा गया है । फेन 'मृत्'-रूप में—अर्थात आरम्भ में परिणत हो गए । मृत 'सिकता' अर्थात् चिकनी मिट्टी के रूप में सिकता 'शर्करा' के रूप में राजस्थान की अभया-वरदा-पावनतमा बालू मिट्टी के रूप में परिणत हो गई । शर्करा 'अश्मा' रूप पाषाणरूप में, अश्मा 'अय' रूप कच्चे लोह के रूप में परिणत हो गया । अन्ततोगत्वा यह 'अय' रूप घनद्रव्य 'हिरण्य' रूप ताम्र-रजत-सुवर्ण-सीसक-आदि नितान्त घनरूपों में परिणत हो गया । और यहाँ आकर आपोमय भूक्षेत्र की निर्माण-प्रक्रिया समाप्त हुई । आपः-फेन-मृत्-सिकता-शर्करा-अश्मा-अय-हिरण्य-इन आठ अवस्थाओं से भूपिण्ड-पद्म का स्वरूप-निर्माण हुआ । अतएव यह मृण्मयी पृथिवी अष्टाक्षरा-अष्टावयवा-'गायत्री' कहलाई, यही पुराणों में भगवान् ब्रह्मा की पत्नी कहलाई, जिसके दाम्पत्य से ब्रह्मा पार्थिवप्रजा का

करना ही विज्ञान है। अक्षर के द्वारा क्षर का विस्तार जानना ही विज्ञान है। एक ब्रह्म कैसे नाना भाव में परिणत होगया ?, इस प्रश्न का समन्वय ही विज्ञान-शब्दार्थ है। एवं यह समस्त नानाभाव एक में कैसे विलीन होजाता है ?, इस प्रश्न का समन्वय ही ज्ञानार्थ है। पुराणभाषानुसार सृष्टिविद्या ही विज्ञान है, प्रतिसृष्टिविद्या ही ज्ञान है। सर्ग ही विज्ञान है, लय ही ज्ञान है। स्मरण रहे, भारतीय विज्ञान की दृष्टि में वस्तु का नाश नहीं होता, अपितु परिवर्त्तनमात्र होता है। अव्यक्त का व्यक्तरूप में परिणत होजाना ही सर्ग है पुनः व्यक्त का अव्यक्त रूप में परिणत हो जाना ही लय है। आविर्भाव तिरोभाव ही यहाँ की आर्षदृष्टि है, जिसमें पूर्णता सर्वात्मना अक्षुण्ण है।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ॥
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१॥
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ! ॥
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२॥ (गीता)
यदा स देवो जागर्त्ति तदेदं चेष्टते जगत् ॥
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥ (मनु)

इत्यादि आर्षवचन इसी नित्यभाव का विश्लेषण कर रहे हैं। क्षरात्मक विश्व अवश्य ही मृत्युरूप है। किन्तु यह जब अमृताक्षर पर प्रतिष्ठित है, तो इसका स्वरूप-विनाश सम्भव ही कैसे है। सुनते हैं—जो एक बार भी अमृतपान कर लेता है, वह जरामरण से रहित हो जाता है। भला उस मर्त्य क्षर की अजर-अमरता का क्या कहना, जो सदा रसात्मक अमृत अक्षर को ही अपना आधार बनाए रहता है। मृत्यु अमृत के गर्भ में प्रतिष्ठित है, अतएव मृत्युतत्त्व भी अमर हो रहा है। अवस्थापरिवर्त्तनमात्र है। सर्वत्र सर्वेतरत उसी पूर्णब्रह्म का साम्राज्य है। 'पूर्णमदः—पूर्णमिदम्'। वह जब पूर्ण है, तो अवश्य ही उसका व्यक्तरूप यह भी पूर्ण ही है। पूर्णता ही तो आनन्द है। अतएव सर्वत्र आनन्द का ही साम्राज्य है। अपूर्णता-शून्यता-दुःख-आदि तो भ्रान्त मानवों की भ्रान्त कल्पनाएँ-मात्र हैं। आत्मब्रह्मसत्ता की परिपूर्णता से पराङ्मुख भ्रान्त भावुक मानव ही क्षणिक-क्षणिकं बदा करते हैं, जबकि उनके सम्मुख उद्बोधन के लिए ऋषिप्रज्ञा 'नित्यं-नित्यं'-का उद्घोष उपस्थित करती रहती है। क्षणिकवादी भ्रान्त

द्वे विद्ये वेदितव्ये-इति ह स्म ब्रह्मविदो वदन्ति-परा चैव अपरा च । तत्र-अपरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः, शिक्षा कल्पो-व्याकरण-निरुक्तं-छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा-यया तदक्षरमधिगम्यते ॥

—मुण्डकोपनिषत्

एक ही तत्त्व आरम्भ में 'ह-द-य' रूप से तीन बना, तीन के पाँच विवर्त बने, एवं इन पाँचों के धारावाहिक पञ्चीकरण से ये ही पञ्चात्मक चराचरविवर्त आगे आकर शत-सहस्र-लक्ष-कोटि-अर्बुद-खर्बुद-न्यर्बुद-परमपरार्ध-संख्याओं में विभक्त होते हुए अनन्तभावों में परिणत होगए । यों एक ही ज्ञान विविध ज्ञान रूप में परिणत होगया । सत्य ज्ञानमूर्त्ति एक ही ब्रह्म नित्य-आनन्द-विज्ञानरूप से विकसित होकर पूर्णरूप से सर्वत्र व्याप्त होगया । विविध भावापन्न विश्व का विज्ञान ही 'विज्ञान' शब्द का पारिभाषिक अर्थ बना, एवं एकभावापन्न आत्मब्रह्म का ज्ञान ही 'ज्ञान' शब्द का अर्थ बना । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति ने पराविद्यात्मिका अक्षरविद्या के आत्मानुगत ज्ञानभाव का प्रतिपादन किया, एवं-'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इस श्रुति ने अपराविद्यात्मिका क्षरविद्या के विश्वा-नुगत विज्ञानभाव का उपक्रम किया । और यों भारतीय वेदशास्त्र ने ज्ञानसम-न्वित विज्ञान का प्रतिपादन करते हुए अपने सर्वविद्यानिधानत्व को अक्षरशः चरितार्थ किया, जिसका भगवान् कृष्ण के मुख से इन शब्दों में यशोगान हुआ है-

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥

—गीता

'विज्ञान' शब्द के 'वि' उपसर्ग के विरुद्ध-विशेष-विविध-तीनों ही अर्थ हो सकते हैं, जिसके आधार पर 'विरुद्धं ज्ञानं विज्ञानं' 'विशेषं ज्ञानं विज्ञानं' एवं-'विविधं ज्ञानं विज्ञानं' तीनों ही अर्थ हो सकते हैं । जिनमें विशेष ज्ञान का तो वैविध्य में ही अन्तर्भाव होजाता है । फलतः दो ही अर्थ शेष रह जाते हैं । जिनमें-'विशेषज्ञानगर्भितं विविधं ज्ञानमेव विज्ञानम्' वाला अन्तिम अर्थ ही भारतीय वैदिक 'विज्ञान' शब्द से मान्य है । एक को आधार मान कर अनेक का निरूपण करना ही विज्ञान है । आत्मा को मूल मान कर विश्व का निरूपण

मानवों को तात्कालिकरूप से प्रभावित कर अपनी लोकैषणा-पूर्ति का जघन्य प्रयास करते रहते हैं। राष्ट्रीय शासनतन्त्र का इस दिशा में यह अनिवार्य्य कर्त्तव्य हो जाता है कि, वह विशुद्ध ज्ञानविज्ञानमूला सम्प्रदायवादनिरपेक्षा संस्कृति के द्वारा भावुक जनता को उद्बोधन प्रदान करे।

प्रज्ञापराधवश, दूसरे शब्दों में प्रत्यक्षप्रमाणोत्पादिका मानसिक भावुकता के आकर्षणवश आस्थाश्रद्धासमन्विता संस्कृतिनिष्ठा (परायण) भी प्रजा यदा कदा तथाविध आकर्षक वादों से आकर्षित बनती हुई पूर्ण-नित्य आनन्दस्वरूप को विस्मृत कर कल्पित शून्य-क्षणिक-दुःखवादों को ही जीवन का महान् पुरुषार्थ मानने की भ्रान्ति करने लग पड़ती है। किन्तु जिस क्षण भी इसे स्वकेन्द्रप्रतिष्ठा का बोध हो जाता है अहिःकञ्चुकिवत् यह उन सम्पूर्ण शून्यवादों को क्षणमात्र में जलाञ्जलि भी समर्पित कर दिया करती है। इस सम्पूर्णभाव को हृद्मूल बनाने के लिए ही उसके सम्मुख अश्वत्थविद्यामूलक अमृत-मृत्युविवेक की विज्ञाननिष्ठा सूक्ष्म परिभाषा उपस्थित हो रही है।

'अमृत' का क्या अर्थ ?, जो कभी न मरे। मृत्यु का क्या अर्थ ?, जो मरा ही बना रहे। नानात्व का नाम है मृत्यु, एवं एकत्व का नाम है अमृत, जैसाकि श्रुति ने कहा है—

> यदेवेह तदमुत्र, यदमुत्र तदन्विह ।
> मृत्यो स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥
>
> —उपनिषत्

विश्व में जितना भी भेदवाद है, पार्थक्यभाव है, वही मृत्यु है। 'यदु-दरमन्तरं कुरुते-अथ भयं भवति, द्वितीयाद्वै भयं भवति' इस सिद्धान्त के अनुसार नामरूपकर्मभेदात्मक अन्तराय-व्यवच्छेद-ही एक अनन्ताकाश को विभिन्न बना देता है, अखण्ड को खण्ड-खण्डरूप में परिणत कर देता है। एकत्वभावना में जब भी यों उदरभाव का समावेश हो जाता है, अथ भयं भवति। एकत्व जहाँ अमृतत्व का प्रवर्त्तक है, वहाँ नानात्व भय का सर्जक बनता रहता है। तो क्या अनेकत्व को हटा दें ? विनष्ट कर दें सम्पूर्ण भेदवाद को ?। क्या एकमात्र इसी पुरुषार्थ को चरितार्थ करने के लिये हमनें वैदिक-विज्ञान का आश्रय लिया है ?। नहीं।

मानवों की शून्य-शून्य रूपा भावुकता के निराकरण के लिए ही-'पूर्ण-पूर्ण'-निनाद जागरूक है। नास्तिधार लोकायतिकों के दुःखं-दुःखं-के निरोध के लिए यहां 'ग्रानन्दः-ग्रानन्दः'-का जयनाद हुआ है, जिसका यों यशोगान हुआ है—

आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
आनन्देन जातानि जीवन्ति।
आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।
आनन्दमित्युपास्व।

इस नित्य-पूर्ण-आनन्द-विभूति की उपासना के लिए ही भारतीय विज्ञान-प्रपञ्च प्रवृत्त हुआ है, जिसके विगत अनुमानतः १ हजार वर्षों से विस्मृत-अभिभूत हो जाने के कारण ही अतीत का परिपूर्ण भी मानव आज प्रत्यक्षप्रमाणमूला भावुकता के प्रभाव में आकर क्षणिकवादी-शून्यवादी बनता हुआ दुःखं-दुःख से उद्विग्न हो रहा है एवं कर रहा है व्यक्तिप्रतिष्ठालिप्सा लोकैषणा के व्यामोहन में आकर स्वसम्मानधर्म्मा-प्रत्यक्षवादी भूतविज्ञान के भावुक पथिकों को भी। इन शून्यवादियों को यह नहीं भुला देना चाहिए कि-मानव अपने स्वरूप से परिपूर्ण है। आनन्द ही इसकी जीवनधारा थी, है, और रहेगी। इसकी सम्पूर्ण प्रवृत्तियों का मूलाधार आनन्दमय-नित्य-विज्ञानात्मा ही है। यदि एक व्यक्ति फाँसी की ओर प्रवृत्त हो रहा है, तो इसके लिए भी यही माना जायगा कि, इस प्रवृत्ति का मूल भी आनन्द ही है। फाँसी के तख्ते की ओर जाने वाला मानव यह जानता है कि, यदि मैं आगे न बढ़ा, तो फाँसी से पहिले मुझे और दण्ड-दुःख भोगना पड़ेगा। इस दुःखनिवृत्तिलक्षण आनन्द की कामना से ही वह फाँसी की ओर प्रवृत्त हो रहा है। स्पष्ट है कि, परिपूर्णता-आनन्द-ही मानव का स्वरूपधर्म्म है, न कि शून्य-क्षणिक-दुःखवाद। प्रज्ञापराधमूला भ्रान्ति ही इन भावुकतापूर्ण वादों की सर्जिका बन बैठती है, जिसे तत्त्वविज्ञानात्मक वेदशास्त्र के विभूतिमय वरदान से ही हटाया जा सकता है।

जब राष्ट्रीय मौलिक तत्त्ववाद सम्प्रदायवाद के आवरणों से आवृत हो जाता है, तो मानवप्रजा केन्द्रविच्युता हो पड़ती है। इस विच्युति-दशा में वैसे अनेक मतवाद खरपतवार (ट्रिटिल) की भाँति आविर्भूत हो पड़ते हैं जो चिरन्तन आस्था-श्रद्धा से समन्वित भी स्वसंस्कृति-बोध से वञ्चित, अतएव भावुक

मानवों को तात्कालिकरूप से प्रभावित कर अपनी लोकैषणा-पूर्ति का जघन्य प्रयास करते रहते हैं। राष्ट्रीय शासनतन्त्र का इस दिशा में यह अनिवार्य्य कर्त्तव्य हो जाता है कि, वह विशुद्ध ज्ञानविज्ञानमूला सम्प्रदायवादनिरपेक्षा संस्कृति के द्वारा भावुक जनता को उद्बोधन प्रदान करे।

प्रज्ञापराधवश, दूसरे शब्दों में प्रत्यक्षप्रभावोत्पादिका मानसिक भावुकता के आकर्षणवश आस्थाश्रद्धासमन्विता संस्कृतिनिष्ठा (परायण) भी प्रजा यदा कदा तथाविध आकर्षक वादों से आकर्षित बनती हुई पूर्ण नित्य-आनन्दस्वरूप को विस्मृत कर कल्पित शून्य-क्षणिक-दुःखवादों को ही जीवन का महान् पुरुषार्थ मानने की भ्रान्ति करने लग पड़ती है। किन्तु जिस क्षण भी इसे स्वकेन्द्रप्रतिष्ठा का बोध हो जाता है अधिःकञ्चुकित् यह उन सम्पूर्ण शून्यवादों को क्षणमात्र में जलाञ्जलि भी समर्पित कर दिया करती है। इस सम्पूर्णभाव को दृढमूल बनाने के लिए ही उसके सम्मुख अक्षरत्थविद्यामूलक अमृत-मृत्युविवेक की विज्ञानसिद्धा सहज परिभाषा उपस्थित हो रही है।

'अमृत' का क्या अर्थ ?, जो कभी न मरे। मृत्यु का क्या अर्थ ?, जो मरा ही करा रहे। नानात्व का नाम है मृत्यु, एवं एकत्व का नाम है अमृत, जैसाकि श्रुति ने कहा है—

> यदेवेह तदमुत्र, यदमुत्र तदन्विह ।
> मृत्यो स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥
>
> —उपनिषत्

विश्व में जितना भी भेदवाद है, पार्थक्यभाव है, वही मृत्यु है। 'यदु दरमन्तर कुरुते-अथ भयं भवति, द्वितीयाद्वै भयं भवति' इस सिद्धान्त के अनुसार नामरूपकर्म्मभेदात्मक अन्तराय-व्यवच्छेद-ही एक अनन्ताकाश को विभिन्न बना देता है, अखण्ड को खण्ड-खण्डरूप में परिणत कर देता है। एकत्वभावना में जब भी यों उदरभाव का समावेश हो जाता है, अथ भयं भवति। एकत्व जहाँ अमृतत्व का प्रवर्त्तक है, वहाँ नानात्व भय का उत्तेजक बनता रहता है। तो क्या अनेकत्व को हटा दें ? विनष्ट कर दें सम्पूर्ण भेदवाद को ?। क्या एकमात्र इसी पुरुषार्थ को चरितार्थ करने के लिये हमनें वैदिक-विज्ञान का आश्रय लिया है ? । नहीं।

सचमुच अनेक महानुभाव प्रसन्न हुए होंगे इस एकत्वभावना से, एवं नानात्व
त्मक भेदवादों की तथाकथित व्याख्या से। मानो भेदवादात्मक कर्मभेद का
मूलोच्छेद कर देना ही इस ˆदिक अद्वयवाद–प्रचार का मूल लक्ष्य हो। अतएव
हमें दो शब्दों में अमृत-मृत्युनिबन्धन एकत्व अनेकत्व-भावों के सम्बन्ध में विशेषरूप
से कुछ स्पष्टीकरण कर देना होगा। नानात्व सचमुच भयानक है, इसमें तो कोई
सन्देह नहीं। किन्तु कबतक ?, जबतक कि एकत्व को इस अनेकत्व की मूलप्रतिष्ठा
नहीं बना लिया जाता। एकत्व पर प्रतिष्ठित वही नानात्व विश्वस्वरूप–संरक्षक
बनता हुआ विश्वसमृद्धि–तुष्टि–पुष्टि–का ही कारण बन जाया करता है। यद
नानात्व एकत्व से पृथक् हो जाता है, तो वही नानात्व विश्वस्वरूप–विनाशक बन
जाता है। यदि विज्ञान के मूल में से एकत्वमूला ज्ञानभावना–आध्यात्मिक भावना
हटा देंगे, तो लोकैषणा का समुत्तेजक बनता हुआ ज्ञानप्रतिष्ठा से वञ्चित वही
विज्ञान हमारे सर्वनाश का कारण बन जायगा।

अतएव वैसा ज्ञान कदापि हमारे लिये उपादेय नहीं है, जो नानात्व से पृथक्
हो। एवमेव वैसा विज्ञान भी कोई अर्थ नहीं रखता हमारे लिये, जो ज्ञानप्रतिष्ठा
से वञ्चित हो। तो क्या उपयुक्त है भारतीय प्रज्ञा की दृष्टि से ? प्रश्न का एकमात्र
उत्तर होगा-ज्ञानसहकृत विज्ञान, वेदान्तपरिभाषानुसार भेदसहिष्णु अभेदवाद, सांख्य-
परिभाषानुसार अविकृत परिणामवाद। दर्शन होगा समान, वर्तन होगा पृथक्
पृथक्। समदर्शिनः भारतीया न तु समवर्त्तिनः। लोकविभूति को देश–काल
पात्र–द्रव्य–श्रद्धा–आस्था–मान्यता–के अनुपात से तत्तत् क्षेत्रों में व्यवस्थित करते
हुए सर्वत्र आत्मैक्यभावना अक्षुण्ण रखते हुए ही ज्ञान–विज्ञान के समन्वय का
अनुगमन करेगा भारतीय मानव। यही भारतीय ज्ञानसहकृत विज्ञान की सहज
स्वरूप–व्याख्या होगी, जिसे लक्ष्य बना कर ही हमें अश्वत्थविद्या का उपक्रम करना
है। सृष्टिविद्या के महान् रहस्यपूर्ण इन वचनों को लक्ष्य बनाइए—

यदस्ति किञ्चिद्यदिदं प्रतीमोऽविद्यालि- शश्वत्स्थमनाद्यनन्तम्।
प्रत्यिन्द्रियान्यान्यविकारसृष्टु–प्रवाहि–तद्द्वयद्धिविरुद्धभावम्॥१॥
विरुद्धभावद्वयसन्निवेशात् सम्भाव्यते विश्वमिदं द्विमूलम्।
मात्म्यन्वसक्ते स्व इमे च मूले प्रदाय, स्वयं तु मतं वस्त्वम्॥२॥

—श्रीगुरुप्रणीत संशयतदुच्छेदवाद

जगत् का मूल क्या है ?, इस प्रश्न के समन्वय से पहिले जगत् क्या है ?, यह देखिए । 'कारणगुणा एव कार्यं गुणानारभन्ते' के अनुसार कारण के गुण ही कार्य्य में आया करते हैं । जब कार्य्यरूप विश्व का स्वरूप हम जान लेंगे, तो तत्कारण का स्वरूप स्वतः विज्ञात बन जायगा । कार्य्यात्मक प्रत्येक पदार्थ को हम दो प्रकार से देख रहे हैं । सृष्टि लाखों-अनन्त-वर्षों से पहिले भी थी, आज भी है, भविष्य में भी रहेगी । वही आकाश, वही वायु, वही सूर्य्य-चन्द्रमा-ग्रह-नक्षत्रमण्डल-समुद्र-पर्वत-गङ्गा-यमुना सभी कुछ वही तो है । प्रत्येक पदार्थ के साथ विद्यमान 'स एवाय' 'यह वही है'-रूपा प्रत्यभिज्ञालक्षणा अमरता-नित्यता-की भावना सद्रूप से ही प्रक्रान्त है । और यही विश्वदर्शन का एक दृष्टिकोण है ।

दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण बदल रहा है । यद्यपि गीता ने अव्यक्त-व्यक्त-अव्यक्त-रूप से तीन क्षणों की व्यवस्था करते हुए मध्य के व्यक्त क्षण को 'स्थिति' कहा है । किन्तु उभय अव्यक्त से आक्रान्त यह मध्यका स्थितिरूप व्यक्त क्षण भी है तत्वत परिवर्तनशील ही । प्रतिक्षण विलक्षण-रूप से प्रक्रान्त यह परिवर्तन भी प्रत्यक्षानुभूत है । क्रिया का वास्तविक स्वरूप तो नास्तिसार ही है । जिन्हें एकत्वनिबघन आत्मसत्ता का स्वरूप-बोध न हो सका, उन प्रत्यक्षवादियों नें ही शून्यवाद का सर्जन कर डाला । भारतीय प्रज्ञा ने भी माना है इस दृष्टिकोण को अपनी दर्शनधारा के माध्यम से । भारतीय दर्शन की उत्था-निका तो इस क्षणवाद से ही हुई है जिसका अन्ततोगत्वा अक्षरब्रह्म-नित्य-ब्रह्म-पर ही पर्य्यवसान हुआ है । देवदत्त बदल रहा है प्रतिक्षण । तभी तो उसमें बाल-तरुण-युवा-प्रौढ-आदि अवस्था-परिवर्तन हो रहे हैं । किन्तु फिर भी-'यह वही देवदत्त है, जिसे हमने बचपन में यहाँ देखा था,' रूप से स 'एवायं' रूप अपरिवर्तन भी प्रतिष्ठित है उसी देवदत्त में । पुण्यसलिला भगवती भागीरथी की धारा प्रतिक्षण बदल रही है । किन्तु सभी "यह वही गङ्गा है जिसमें सगरपुत्रों का उद्धार हुआ था, जिसने हमारे पूर्व पुरुषों का सन्त्राण किया था", यह शाश्वतता भी अक्षुण्ण है । अमुष्णाशीत दुग्ध में सायं आतञ्चन(जावण) दिया जाता है । प्रातः वही दुग्ध दधिरूप में परिणत मिलता है । निश्चय ही दूध के दधिरूप में परिणत होने के लिए कोई नियत क्षण नही है । अपितु दध्यातञ्चनक्षण से ही परिवर्तन आरम्भ है, जिसके अमुक परिवर्तनक्षण को हमनें अपनी उपयोगिता की दृष्टि से 'दधि' नाम दे दिया है । प्रासादभित्ति पर दीपावली आदि पर्वोत्सवों पर सफेदी कराई जाती है । विशाल रश्मिए-सफेदी के साथ साथ ही इसका ध्वंसकर्म

भी प्रारम्भ हो जाता है। सम्भूति-निर्माण, एवं विनाश-ध्वंस-दोनों एक ही केन्द्रबिन्दु पर प्रतिष्ठित होकर प्रक्रान्त हैं। यह केन्द्रबिन्दु ही अपरिवर्तनीय तत्त्व है। श्रुति ने कहा है—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभय सह।
विनाशेन मृत्यु तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते॥
—उपनिषत्

निर्माण को पृथक् मान बैठना एवं ध्वंस को पृथक् मान बैठना ही अनार्य्य-दृष्टि है, जिसने शून्यवाद का सर्जन कर डाला है। दोनों एक केन्द्रबिन्दु पर ही सदैव समन्वित हैं। जबतक मानव अपने बुद्धिदम्भ से विश्व की स्वरूप-व्याख्या में प्रवृत्त रहता है, तबतक वह कदापि केन्द्रबिन्दु पर प्रतिष्ठित नहीं हो सकता॥ इसीलिए श्रुति ने कहा है—'पाण्डित्यं निर्विद्य-बाल्येन तिष्ठासेत्'। पाण्डित्य का अभिमान ही स्वरूपबोध का महान् प्रतिबन्धक माना गया है। अभिमान हमें लोकैषणा-उन्मुख बनाए रहता है। दूसरों को प्रभावित करना ही हमारा लक्ष्य बन जाता है। इस बहिःप्रवृत्ति में स्वकेन्द्र-दर्शन का अवसर ही नहीं मिलता। 'बाल्येन तिष्ठासेत्' वचन बड़ा ही रहस्यपूर्ण है। राजस्थान के बालक वर्षाऋतु में आर्द्र मिट्टी के घड़े-पेड़े-दुर्ग-प्रासाद-आदि अनेक प्रकार के कौतुक बनाते रहते हैं। बड़े ही तल्लीन बने रहते हैं वे इस निर्माण-प्रक्रिया में। यथासमय वे स्वयं ही उसी उत्साह से-'म्हे ही खेल्या-म्हे ही गुजाय्या' कहते हुए अपने-हाथ-पैरों से उन निर्मित कौशलों को नष्ट भी कर देते हैं-पुन दूसरे दिन के इसी निर्माण का आमन्त्रण देते हुए। 'हमनें ही निर्माण किया, हमनें ही ध्वंस किया' इस बालसुलभा क्रीडा में निर्माण, और ध्वंस, दोनों 'एक' केन्द्र-बिन्दु पर प्रतिष्ठित हो रहे हैं। दोनों में समानरूप से आनन्द-निमग्न बने रहते हैं ये बालबन्धु। जबकि मानव निर्माण में प्रसन्नता एवं ध्वंस में रुदन-करता-हुआ अपना केन्द्रबिन्दु ही छोड़ बैठता है। न निर्माण में समत्व, न ध्वंस में। उभयत्र विषमता, और इसका एकमात्र कारण पाण्डित्य का अभिमान, लोकैषणाओं में आसक्ति, बुद्धिवाद का आसुर-दम्भ। समत्व ही ब्राह्मी स्थिति है, जिसे प्राप्त कर लेने पर कभी विमोहन का अवसर आता ही नहीं—

"एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ! नैनां प्राप्य विमुह्यति।"
—गीता

हाँ, तो कार्य्यात्मक विश्व में अपरिवर्त्तनीय, एवं परिवर्त्तनशील, दोनों तत्त्व सर्वानुभूत-दृष्ट हैं । दोनों का एकत्र समन्वय हो रहा है, और यही महदाश्चर्य्य है ब्रह्मविभूति का । अपरिवर्त्तनीय अमृततत्त्व, तथा परिवर्त्तनशील मृत्युतत्त्व, दोनों हीं उस 'अहं' रूप आत्मा के दो विवर्त्त हैं, जैसाकि-'अमृतञ्चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन' (गीता) से प्रमाणित है । दोनों में अन्तर्यान्तर्यीभावात्मक ओतप्रोतसम्बन्ध है, न कि आधाराधेय—भाव । अङ्गुलि में क्रिया है !, अथवा क्रिया अङ्गुलि में है !, प्रश्न का यही समाधान है कि यदवच्छेदेन अङ्गुलि है, तदवच्छेदेन 'हिलना' रूपा क्रिया प्रतिष्ठित है । इसी विलक्षण अधामच्छ्र सम्बन्ध को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने कहा है—

तदेजति, तन्नैजति, तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यत ॥
अन्तरं मृत्योरमृत, मृत्यावमृत आहित ॥

—श्रुतिः

आधाराधेय-भाव में सत्ता का द्वैविध्य है । यहाँ अन्तर्यान्तर्यीभाव है, आधाराधेयभाव नहीं । अत सत्ता द्वित्व रहने पर भी-'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म' लक्षण अद्वैत सिद्धान्त निर्बाध है । यों जब कार्य्यात्मक विश्व द्विभावापन्न है, तो अवश्य ही तत्कारणरूप मूलब्रह्म में भी दो ही भाव होने चाहिये । परिवर्त्तनीय कार्य्य का यही मूल कहलाया है-'अभ्व', जो विश्व में परिवर्त्तनरूप दृश्य बना करता है । एवं अपरिवर्त्तनीय कार्य्य का मूल कहलाया है- आभू', जो विश्व में प्रभु बना करता है । ये ही दोनों तत्त्व 'रस', और 'बल' नाम से भी प्रसिद्ध हुए हैं । संख्या में एक, नित्यशान्त, दिग्देशकाल से अनाद्यनन्त, निर्गुण, निरञ्जन, शाश्वत व्यापक तत्त्व ही रस है । एव संख्या से अनन्त, नित्य अशान्त, दिग्-देशकाल से सादि सान्त सगुण, साञ्जन, परिवर्त्तनशील, व्याप्य तत्त्व ही 'बल' है । ये ही वे दोनों मौलिक तत्त्व हैं, जिनके आधार पर वैदिक विज्ञान प्रतिष्ठित है । रसतत्त्व के सूक्ष्मानुबन्ध से १६ विवर्त्त हो जाते हैं, जिनका सम्भवतः आगे चल कर दिग्दर्शन सम्भव बन सकेगा । बलतत्त्व के भी १६ ही प्रधान विवर्त्त हैं, जिन्हें-'बलकोश' कहा गया है, जो कि क्रमश माया, हृदयम्, जाया, धारा, आप, मूर्ति, यक्ष, सूत्रं, सत्यं, यज्ञ, अभ्वम्, वय, वयोनाध, वयुनम्, मोह मिथ्या, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। स्वतन्त्ररूप से अध्ययन ही अपेक्षित है इन बलकोशों के स्वरूप-परिचय के लिए । इनमें वर्षादिभूत इतर बलकोशों का

भी प्रारम्भ हो जाता है। सम्भूति-निर्म्माण, एवं विनाश-ध्वंस-दोनों एक ही केन्द्रबिन्दु पर प्रतिष्ठित होकर प्रक्रान्त हैं। वह केन्द्रबिन्दु ही अपरिवर्तनीय तत्त्व है। श्रुति ने कहा है—

> सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
> विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते॥
> —उपनिषत्

निर्म्माण को पृथक् मान बैठना, एवं ध्वंस को पृथक् मान बैठना ही अनात्मदृष्टि है, जिसने शून्यवाद का सर्जन कर डाला है। दोनों एक केन्द्रबिन्दु पर ही सदैव समन्वित हैं। जबतक मानव अपने बुद्धिदम्भ से विश्व की स्वरूप-व्याख्या में प्रवृत्त रहता है, तबतक वह कदापि केन्द्रबिन्दु पर प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। इसीलिए श्रुति ने कहा है-'पाण्डित्यं निर्विद्य-बाल्येन तिष्ठासेत्'। पाण्डित्य का अभिमान ही स्वस्वबोध का महान् प्रतिबन्धक माना गया है। अभिमान हमें लोकैषणा-कामुक बनाए रहता है। दूसरों को प्रभावित करना ही हमारा लक्ष्य बन जाता है। इस बहिःप्रवृत्ति में स्वकेन्द्र-दर्शन को अवसर ही नहीं मिलता। 'बाल्येन तिष्ठासेत्' वचन बड़ा ही रहस्यपूर्ण है। राजस्थान के बालक-वर्षाऋतु में आर्द्र मिट्टी के घड़े-पेड़े-दुर्ग-प्रासाद-आदि अनेक प्रकार के कौतुक बनाते रहते हैं। बड़े ही तल्लीन बने रहते हैं वे इस निर्म्माण-प्रक्रिया में। यथासमय वे स्वयं ही उसी उत्साह से-'म्हे ही खेल्या-म्हे ही मुजाल्या' कहते हुए अपने-हाथ-पैरों से उन निर्मित कौशलों को नष्ट भी कर देते हैं-पुनः दूसरे दिन के इसी निर्म्माण का आमन्त्रण देते हुए। 'हमनें ही निर्म्माण किया, हमनें ही ध्वंस किया' इस बालसुलभा क्रीडा में निर्म्माण, और ध्वंस दोनों 'एक' केन्द्र-बिन्दु पर प्रतिष्ठित हो रहे हैं। दोनों में समानरूप से आनन्द-निमग्न बने रहते हैं ये बालबन्धु। जबकि मानव निर्म्माण में प्रसन्नता एवं ध्वंस में रुदन करता हुआ अपना केन्द्रबिन्दु ही खोबैठता है। न निर्म्माण में समत्व, न ध्वंस में। उभयत्र विषमता, और इसका एकमात्र कारण पाण्डित्य का अभिमान, लोकैषणाओं में आसक्ति, बुद्धिवाद का आसुर-दम्भ। समत्व ही ब्राह्मी स्थिति है, जिसे प्राप्त कर लेने पर कभी विमोहन का अवसर आता ही नहीं—

> "एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ! नैनां प्राप्य विमुह्यति।"
> —गीता

द्रवत्त्व घनत्त्व आदि आदि कोई स्वतन्त्र सत्तासिद्ध पदार्थ नहीं हैं। अपितु व्यवहार की अपेक्षा से सम्बन्ध रखने वाले सापेक्षभाव ही इनकी प्रतीति के आधार पर बने हुए हैं। क्या पूर्व-पश्चिमादि का आप सब घट-पट-मठादि की भाँति किसी ने स्पर्श किया है?। नहीं। फिर भी मानें जा रहे हैं सर्वत्र ये भातिसिद्ध पदार्थ। एक रुपये के सोलह आने एक मन के ४० सेर, निरपेक्षा एकत्व संख्या से अतिरिक्त अन्य सब संख्याएँ, इत्यादि अगणित पदार्थ इस भावकोटि में ही अन्तर्भूत हैं, जिनको भातिसिद्ध ही कहा जायगा। शुद्ध सत्तासिद्ध ईश्वर-आत्मा-प्राणादि-भावों के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष भूतदृष्टि को उपस्थित करने वाले,'-हमें तो आँखों से दिखलाओ, तब मानेंगे', इस तर्क का समर्थन करने वाले उन महा मेधावी! तार्किकों से हम पूँछते हैं कि, अहोरात्र मानते-मनवाते रहने वाले पूर्व-पश्चिमादि का क्या वे दर्शन करा सकेंगे?। विश्वास कीजिए! आत्मसत्ता के अनुगमन से अभ्युदय ही होगा आपका और हमारा।

महामाया के गर्भ में ही धारा-धारादि बलों की भाँति अन्य नामक 'भातिसिद्ध' बलविशेष प्रादुर्भूत होता है। 'अमितस्य मितकरणी माया' ही माया शब्द की स्वरूप-व्याख्या है। 'माङ्-माने-शब्दे च' ही माया शब्द का मूलधातु है। शब्दतन्मात्रात्मक ससीम-गुणभूतों का सर्जन करता हुआ जो बलविशेष असीम को अपने मापदण्ड से सीमित कर देता है, वही मायाबल है। सर्वबलविशिष्ट रसैकघन अनन्त परात्परब्रह्म में अपने सहजधर्म्म से सीमाभावप्रवर्त्तक माया बल का उदय हुआ। अव्यक्त मायाबल व्यक्तरूप में परिणत हो गया। इसने उस असीम के यत्किञ्चित् प्रदेश को सीमित कर लिया। यह ध्यान रखिए कि, अपने रसस्वरूप से न तो वह अमित किसी से मित होता, न सीमित ही बनता। स्वयं बल ही बलदृष्टि से मित-अमित-भावों के संग्राहक बनते रहते हैं। माया अमायी को, बल रस को मित कर दे, ऐसा कदापि सम्भव नहीं है। हाँ माया का यह उत्तरदायित्त्व अवश्य है कि, वह रस की साक्षी में स्वग्रन्थिबन्धनों के द्वारा विश्वस्वरूप में परिणत हो जाय। इस 'साक्षी' मात्रानुबन्ध से ही मानो ही यह कह लिया जा सकता है कि, माया ने उस अमित को मित कर लिया। सहजरूप से अद्वैतभाव अक्षुण्ण है इस सूक्ष्मविवेक के माध्यम से।

मायाबलावच्छिन्ना बुद्बुदसीमा ही मायी विश्व की प्रथम उपक्रमभूमि है। जबतक मायापुर का उदय नहीं हुआ था, तबतक सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र वही विश्वातीत तत्त्व वहाँ परात्पर था, वहाँ मायारूप पुर के उदित होने से तदवच्छिन्न परात्पर

भी आधारभूत जो महाबलकोश है, उस 'महामाया' नाम के बलकोश को ही यहाँ लक्ष्य बनाना है, जिसकी सीमा में 'अश्वत्थवृक्ष' आविर्भूत होने वाला है।

असीम-अमित-अपरिच्छिन्न-व्यापक को ससीम-मित-परिच्छिन्न-व्याप्य बना देने वाला सीमाभावप्रवर्त्तक बल ही मायाबल है। भारतवर्ष में वेदान्त-दर्शन के अनुग्रह से 'माया' शब्द का बड़ा ही प्रचार है जिसका अर्थ सर्व-साधारण में समझा-समझाया जा रहा है-'मिथ्या', अर्थात् कल्पना। किन्तु वैदिक तत्त्वदृष्टि से तो माया वस्तुभूता सनातनी है, बलविशेष है। वस्तुतत्त्वात्मक मायाबल के तात्त्विक स्वरूप ज्ञानाभाव का ही यह दुष्परिणाम है कि विगत कतिपय शताब्दियों में भारतीय मानव 'माया' शब्दोच्चारण-मात्र से समस्त उत्तरदायित्वों से अपने आपको मुक्त मान बैठता है। इसी कल्पित मायावाद ने वैदिक सृष्टिविज्ञान धारा को अवरुद्ध कर दिया है। समस्त भौतिक सौन्दर्य, सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण ज्ञानविज्ञानकौशल इसी कल्पितात्मापादित मायावाद से अभिभूत हो पड़े हैं। 'मूँड मुँडाय भये सन्यासी' ही जिस दिन से इस राष्ट्र का महान् पौरुष बन बैठा, उसी दिन से भारतभाग्य का अभिभव आरम्भ हो पड़ा। छोड़िए इस अप्रिय प्रसङ्ग को। बलकोशमाध्यम से आविर्भूत अश्वत्थ को ही लक्ष्य बनाइए।

मायाबल की एक विशेष अवस्था का नाम ही है- अभ्व, जो क्रमापेक्षया ११ वाँ बलकोश है। उसे एक विशेष दृष्टिकोण के स्पष्टीकरण के लिए लक्ष्य बनाइए। अभ्व' शब्द का अर्थ है-'अभवन् भाति'। जो तत्त्व न होकर भी प्रतीत होता रहे वही अभ्व कहलाया है, जिसका लोकरूप सम्भवतः 'हाबू' ही माना जायगा। 'ते हैते ब्रह्मणो महती अभ्वे, महती यक्षे' रूप से स्वयं श्रुति ने अभ्वबल को महान् माना है। सत्तासिद्ध, भातिसिद्ध, उभयसिद्ध, भेद से पदार्थों का त्रेधा वर्गीकरण हुआ है। जो पदार्थ हैं तो अवश्य, किन्तु इन्द्रियों के द्वारा जिनका साक्षात्कार सम्भव नहीं है, उन्हें 'सत्तासिद्ध' पदार्थ कहा गया है। ईश्वर-आत्मा-ऋषि-पितर-देव-गन्धर्व असुर-आदि-प्राण सब इसी श्रेणी में प्रतिष्ठित हैं। जिनका हम इन्द्रियों से दर्शन-स्पर्श भी कर सकते हैं, जो सत्तात्मक भी हैं, ऐसे सूर्य्य-चन्द्र-ग्रह-वायु-जल-पृथिव्यादि-भूतभौतिक पदार्थ 'उभयसिद्ध' पदार्थ माने गए हैं। एक ऐसा भी विभाग है जिनका कोई अस्तित्व नहीं है। किन्तु फिर भी व्यवहार-प्रतीति के आलम्बन बने हुए हैं। ऐसा बलविशेष ही-'अभ्व' कहलाया है। यही भातिसिद्ध पदार्थ-विभाग है। पूर्व-पश्चिम उत्तर-दक्षिणादि दश दिशाएँ, दूरत्व अपरत्व-समीपत्व-गुरुत्व

कहलाया इसी के सम्बन्ध से यह पुरुषेश्वर 'मनोमय प्रुरुषो काममय'-'मा-सत्यसंकल्पः' इत्यादिरूप से मनोमय कहलाया। 'पुरुषोक्थ' रूप मन के अर्करूप रश्मिमात्र ही 'काम' कहलाए, ये ही कामरश्मियाँ 'एकोऽहं बहु स्याम्' इत्यादि रूप से सृष्टि के बीज बने, जिनका यों स्पष्टीकरण हुआ है—

> कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेत प्रथम यदासीत्।
> सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीप्या कवयो मनीषा॥
>
> —ऋक् संहिता

रसबलात्मिका महामाया की परिधि में आसमन्तात् चारों ओर से वेष्टित हृदयबलावच्छिन्न मनोमय रसबलात्मक–पुरुषात्मा में भूमामायोस्मिका पूर्णता के उदय के लिए सर्वप्रथम 'कामरेत' का प्रादुर्भाव हुआ कामना का आविर्भाव हुआ। इस सृष्टिबीजमयी रेतोमयी कामना का क्या स्वरूप?, प्रश्न का उत्तर रसबल के अतिरिक्त और क्या हो सकता है?। सद्रूप रस, एवं असद्रूप बल-दोनों के अतिरिक्त, दोनों के समन्वित, बिना विग्रुक्तरूप के अतिरिक्त कामना का यथार्थ में अन्य कोई रूप और हो ही क्या सकता है?। रस–बल, दो ही तत्त्व परिधिमण्डल में व्याप्त एवं रस–बल, दो ही तत्त्व केन्द्र में व्याप्त। तथा दो ही तत्त्व हृदयस्थ मन के स्वरूपनिर्म्मापक। फलत मनोमयी कामना में रसबल के अतिरिक्त अन्य किसी तीसरे भाव का अभाव ही प्रमाणित हो रहा है। रसबल ही कामना का वास्तविक स्वरूप है। अतएव इस अध्ययात्मानुगता मनोमयी कामना के हम रसकामना, बलकामना, रसबलकामना ये तीन ही नामकरण कर सकते हैं। हृदयस्थ मन काममयमान बन कर रस की कामना कर सकता है, बल की कामना कर सकता है एवं रसबल–दोनों की कामना कर सकता है। यही तो कामना का वास्तविक स्वरूप है। उक्थ का अपना मूलरूप ही कामना का आधार बना करता है। अतएव उक्थ का जैसा स्वरूप होता है, 'अर्चयंश्चरति' लक्षणा अर्करूपा–रश्मिरूपा कामना का भी वैसा ही स्वरूप हुआ करता है।

तत्त्वदृष्टि से रस और बल, दोनों कभी स्वतन्त्ररूप से उपलब्ध नहीं हो सकते। अतएव जहाँ जहाँ भी 'रस' का उल्लेख होगा, सर्वत्र उन उन रसप्रकरणों में रस के गर्भ में बल का समावेश स्वतः समाविष्ट मान लेना होगा। एवमेव यत्र यत्र 'बल' का उल्लेख होगा, तत्र तत्र सर्वत्र बल के गर्भ में रस को अन्तर्गर्भित

प्रदेश बन गया सीमित जिसे पुरभाव के कारण 'पुरिशय' कह दिया गया। 'पुरि शेते' ही 'पुरिशय' शब्द का निर्वचन है, जो परोक्षप्रिय में आज लोकव्यवहार में 'पुरुष' नाम से प्रसिद्ध है। अब यहीं से सर्वत्र हमें 'पुरुष' शब्द के माध्यम से ही सम्पूर्ण सृष्टिविज्ञान का समन्वय करना है, जिसका ब्रह्मविद्या से सम्बन्ध है, जैसा कि 'पुरुष एवेदं सर्वं-यद्भूतं-यच्च भाव्यम्' इत्यादि से स्पष्ट है। हाँ-देखिए-समय का ध्यान रखिए, क्योंकि इसमें राष्ट्रपति महाभाग के स्वास्थ्य के अनुपात से ही समय लेना है (अभी घोर-वस्तु भी चले यही विषय-जल्दी नहीं है)। ठीक है। हाँ कम ही क्या, यह तो मानव के लिए जीवन पर्यन्त का विषय है, यही नहीं अनेक जन्मों का विषय है। अनन्त की इस अनन्त विभूति का किसने पार पाया है। 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' (गीता)।

मायाबल के उदय से एक वैलक्षण्य उत्पन्न हो गया इस मायापुर में। असीम परात्पर में कोई स्वतन्त्र केन्द्र नहीं था। अपितु उसका तो प्रतिबिन्दु बिन्दु ही केन्द्र था। किंवा सर्वात्मना वह केन्द्ररूप ही था। निःसीम में नियत केन्द्र सम्भव भी कैसे है?। अब इस सीमित मायापुर में एक नियमित-नियत-स्वतन्त्र केन्द्रबल का आविर्भाव हो पड़ा। अनेक केन्द्र जहाँ बलों को ग्रन्थिबन्धनविमोक के द्वारा लयभाव में परिणत कर देते हैं, वहाँ एक केन्द्र बलों को ग्रन्थिबन्धनप्रवृत्ति के द्वारा सर्गभाव में परिणत कर दिया करता है। विश्वस्वरूप-व्यवस्था के लिए केन्द्र एक ही होना चाहिए, एवं मायापुररूप विश्व की सम्पूर्ण प्रान्त-परिधियों को केन्द्र के प्रति ही अनन्यनिष्ठा से आत्मसमर्पण किए रहना चाहिए। तभी सृष्टिप्रक्रिया यथावत् प्रक्रान्त एवं व्यवस्थित रह सकती है, रहा करती है। असीम परात्पर में भी बल थे अवश्य। किन्तु मायाबल के अभ्यस्तभाव में परिणत रहने की अवस्था में केन्द्रबल का अभाव था, अतएव बलों का ग्रन्थिबन्धन असम्भव था। अतएव परात्परस्थ वे अनन्त भी बल सर्गप्रवृत्ति से सर्वथा पृथक् ही थे, एवं परात्परस्थरूपा तो आज भी पृथक् ही हैं।

"न सती सा नासती सा नोभयात्मा विरोधतः।
काचिद्विलक्षणा माया वस्तुभूता सनातनी"

के अनुसार सदसद्-सदसद्भ्यां विलक्षणा महामाया के कोष में आविर्भूत हो पड़ने वाले महामायी महेश्वरपुरुष का हृदयावच्छिन्न स्पन्दनात्मक तत्त्व ही 'मन'

निमित्त-उपादान बने हुए हैं। तीनों का मूलाधार विश्वातीत परात्पर है, जो माया से असीम है। यही इन तीनों का पूरक सोलहवाँ तत्त्व मान लिया गया है। इसप्रकार निष्कल-एककल मायातीत 'परात्पर', पञ्चकल मायी 'अव्यय', पञ्चकल सगुण 'अक्षर', पञ्चकल सविकार 'क्षर', इन १६ कलाओं की समष्टि ही 'षोडशी-प्रजापति' है। यों सोलह कलाओं की भाँति रसनिबन्धन इस विश्वात्मप्रजापति की भी सोलह ही कलाएँ हो जाती हैं, जिनका साक्षात्कार परमभाग्यशाली इस भारतीय मानव ने आज से ५ सहस्रवर्ष पूर्व भगवान् वासुदेव के रूप से किया है। इसी विश्वेश्वर-षोडशी-प्रजापति का यशोगान करते हुए श्रुति-स्मृति ने कहा है—

यस्मात्पर नापरमस्ति किञ्चित्,
यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक—
स्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥
यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति—
य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणः—
स्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी॥
—श्रुति

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥
—गीता

इस इस रहस्य यही षोडशी पुरुष 'अश्वत्थवृक्ष' नाम से उपवर्णित-उपस्तुत हुआ है वेद-पुराण-शास्त्रों में। महामायी षोडशीप्रजापति का एक प्रदेश ही विश्वरूप में परिणत होता है, जैसा कि—'एकांशेन जगत्सर्वम्' से स्पष्ट है। परात्पर-अव्यय-अक्षर-क्षर-भेद से प्रजापति को चतुष्पात् मान लिया गया है।

एकमात्र इसी आधार पर इस दूसरी रसचिति को 'विज्ञानचिति -विविदं-ज्ञानं नानाभावात्म ज्ञानं-नानाभावानुगतो रस एव वा विज्ञानं। तस्यैष चितिः-विज्ञानचितिः'-इस निर्वचन से विज्ञानचिति-नाम से व्यवहृत किया जायगा। रसात्मिका इन दोनों की समन्विता अवस्था ही 'अन्तश्चिति' कहलाई है।

अब काममय मन पर बलमाग उत्तेजित होने लगा। इस बलचिति के भी रसचिति की भाँति प्राणचिति, वाक्चिति दो विवर्त बन गए, जिन दोनों की समष्टि 'बहिश्चिति' कहलाई। प्राणचिति आनन्दचिति से वाक्चिति विज्ञानचिति से समुक्षित मानी गई इस उभय-बहिश्चिति का आधार बनी सिसृक्षा जिसे हमनें रसगर्भिता बलकामना कहा है। इसप्रकार रसबल की चितियों के तारतम्य से केन्द्रस्थ निष्कल अव्ययपुरुष सिसृक्षात्मा बलकामना तथा मुमुक्षात्मा रसकामना से 'आनन्द-विज्ञान-प्राण-वाक्'-इन चार चितियों से समन्वित होता हुआ पञ्चकल बन कर 'चिदात्मा' नाम से प्रसिद्ध हो गया। यह ध्यान रखिए कि, ये पाँचों ही चितियाँ बलानुबन्धिनी हीं हैं। शुद्धरसदृष्टि से तो वह पुरुष सदा निष्कल ही है, वैविध्यरूप से पृथक् ही है। तभी तो गोपथश्रुति ने इसे-'अव्यय' कहा है। देखिए।

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥

—गोपथब्राह्मण

'आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाक्मय' यही मावी पुरुष सृष्टि का आलम्बन बनता है जिसका-'किंस्विदासीदधिष्ठानम्' रूप से निरूपण हुआ है। इस पञ्चकल अव्ययपुरुष से अभिन्न पञ्चकल अक्षर ही इस पुरुष की 'परामकृति' है, जिसकी 'ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम'-नाम की पाँचों कलाओं का पूर्व के गतिविज्ञानद्वारा स्पष्टीकरण किया जा चुका है। पराप्रकृतिरूप यही पञ्चकल अक्षर सृष्टि का निमित्तकारणात्मक असमवायी-कारण बनता है। अक्षर की ब्रह्मादि पाँचों कलाओं से उत्पन्न क्षरकलाएँ क्रमशः 'प्राण-आप-वाक्-अन्नाद-अन्नम्'-नामों से व्यवहृत हुई हैं। पञ्चकल यही क्षर सृष्टि का उपादानकारणात्मक समवायी-कारण बनता है। यही अव्ययपुरुष की 'अपराविद्या' कहलाई है। 'अपराविद्यात्मक पञ्चकल क्षरपुरुष पराविद्यात्मक पञ्चकल अक्षरपुरुष, एवं इन दोनों का ईश्वर पञ्चकल अव्ययपुरुष, तीनों विश्वसृष्टि के आलम्बन-

निमित्त-उपादान बने हुए हैं। तीनों का मूलाधार विश्वातीत परात्पर है, जो माया से अतीत है। वही इन तीनों का पूरक सोलहवाँ तत्त्व मान लिया गया है। इसप्रकार निष्कल-एककल मायातीत 'परात्पर', पञ्चकल मायी 'अव्यय', पञ्चकल सगुण 'अक्षर', पञ्चकल सविकार 'क्षर', इन १६ कलाओं की समष्टि ही 'षोडशी-प्रजापति' है। यों सोलह कलाओं की भाँति रसनिर्भर इस विश्वात्मप्रजापति की भी सोलह ही कलाएँ हो जाती हैं, जिनका साक्षात्कार परमभाग्यशाली इस भारतीय मानस ने आज से ५ सहस्रवर्ष पूर्व भगवान् वासुदेव के रूप से किया है। इसी विश्वेश्वर-षोडशी-प्रजापति का यशोगान करते हुए श्रुति-स्मृति ने कहा है—

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्,
यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक—
स्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥
यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति—
य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराण—
स्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी॥
—श्रुति

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥
—गीता

इत्थम्भूत यही षोडशी पुरुष 'अश्वत्थ' नाम से उपवर्णित-उपस्तुत हुआ है वेद-पुराण-शास्त्रों में। महामायी षोडशीप्रजापति का एक प्रत्यंश ही विश्वरूप में परिणत होता है, जैसा कि—'एकांशेन जगत्सर्वम्' से स्पष्ट है। परात्पर-अव्यय अक्षर-क्षर-भेद से प्रजापति को चतुष्पात् मान लिया गया है।

इन चारों प्राजापत्य-पादों में आरम्भ के तीन पाद रसप्रधान बनते हुए अविकम्पित , संस्पर्शीलक्षणा सृष्टिमर्य्यादा से असंसृष्ट हैं। भूतानुगत अन्त का चौथा एक पादरूप चर ही-'चरः सर्वाणि भूतानि' रूप से विश्व का उपादान बन विश्वस्वरूप में परिणत हो रहा है। तीन पाद पृथक हैं, चौथा ही विश्वात्मक है, विकम्पित है, जिस स्थिति का लोकमाषा में यों भी अभिनय किया जा सकता है। -चार पादों में से तीन पाद-चरण-तो सर्वथा स्थिर हैं एवं चौथा एक पाद परिवर्तनशील भौतिक विश्व की दृष्टि से चर है, विकम्पित है, गतिमान है। इसी रहस्य को व्यक्त करते हुए श्रुति ने कहा है—

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः, पादोऽस्येहाभवत् पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥
—यजुःसंहिता ३१।४।

कभी आपने अवधानपूर्वक अश्व को, अर्थात् घोड़े को अश्वशाला में खड़ा देखा होगा। घोड़े के तीन पैर तो भूपृष्ठ से संलग्न रहते हैं एवं एक पैर विकम्पित-सा-अधर-सा रहता है। जिस प्रकार प्रजापति के सृष्टिकौशल के लिए लोकसंग्राहक ऋषि ने 'कुम्भकार' (कुम्हार) की घटनिर्माण-प्रक्रिया को उदाहरण मान लिया है उपलालनात्मक शिक्षणकौशल के माध्यम से, जिसके आधार पर संस्कृतसाहित्य में-'घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः' यह सूक्ति प्रचलित है। एवमेव चतुष्पाद्ब्रह्म की स्वरूपस्थिति को उदाहरणविधि से समझाने मात्र के लिए लोकप्रसिद्ध 'अश्व' को उदाहरण मान लिया है महर्षि ने। जो स्थिति अश्व के पैरों की है, वही स्थिति उस षोडशीप्रजापति की है। यह तीन पैर से स्थिर एक पैर से चर है तो यह भी परस्पर-अव्यय-अक्षर-नामक तीन पादों से स्थिर, एवं क्षररूप चौथे पाद से चर है। इसी उदाहरण-विधि की अपेक्षा से 'अश्ववत् तिष्ठति' इस निर्वचन के द्वारा उस विश्वाधिष्ठाता षोडशी-प्रजापति को 'अश्वत्थ' नाम से व्यवहृत कर दिया गया है। दूसरे निर्वचन का सुप्रसिद्ध वृक्ष 'अश्वत्थ' वृक्ष से समन्वय है, जिसका अपनी आचारपद्धतियों में संस्कृतिनिष्ठ मानव प्रतिदिन पूजन किया करता है। तीसरा निर्वचन श्वः-श्वः-परिवर्तनशील गतिभाव से सम्बन्ध रखता है। सभी निर्वचन रहस्यपूर्ण सृष्टि-विज्ञान की विभिन्न धाराओं से अनुप्राणित हैं, जिनका यहाँ सामान्य दिग्दर्शन भी सम्भव नहीं है।

विश्वातीत निष्कल परात्पर से अभिन्न पञ्चकल, सर्वथा निष्कल ही अव्यय-पुरुष का एक पारिभाषिक नाम है-'अमृतम्'। इस अमृताव्यय से अभिन्न पराप्रकृतिरूप पञ्चकल अक्षर का एक पारिभाषिक नाम है-'ब्रह्म'। एवं महाक्षर से अभिन्न अपराप्रकृतिरूप पञ्चकल क्षर का एक पारिभाषिक नाम है-'शुक्रम्'। रसबलात्मक वही परात्पर मायाबलात्मक मायापरिग्रह से समन्वित होता हुआ 'अमृत' रूप अव्ययभाव में परिणत हुआ है। वही गुणपरिग्रह से समन्वित होता हुआ 'ब्रह्म' रूप अक्षरभाव में परिणत हुआ है। एवं वही विकारपरिग्रह से समन्वित होता हुआ 'शुक्र' रूप क्षरभाव में परिणत हुआ है। तभी तो यहाँ का 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' सिद्धान्त सुप्रसिद्ध है। वही अमृत है, वही ब्रह्म है, वही शुक्र है। अमृत-ब्रह्म-शुक्रात्मक रसबलमयि सर्वमूर्त्ति वही विश्वाध्यक्ष विश्व-कर्त्ता विश्वेश्वर षोडशीप्रजापति 'अश्वत्थब्रह्म' है, जिसका मूल ऊर्ध्व है शाखाएँ अधोभाग में अवस्थित हैं। ऊँचा-नीचा-का विज्ञानभाषा में अर्थ है केन्द्र, और परिधि। परिधिरूप प्रान्तभाग की प्रतिबिन्दु से हृदयबिन्दु ऊर्ध्व रहती है, जब कि हृदयबिन्दु की अपेक्षा से परिधि की प्रतिबिन्दु अधः रहती है। मायामय पुर के केन्द्र में ही प्रतिष्ठित केन्द्रस्थ काममय मन की सिसृक्षा-मुमुक्षा नाम की रसबल-कामनाओं से ही सम्पूर्ण विश्व का विस्तार हुआ है, जैसा कि पूर्व में निवेदन किया जा चुका है। अतएव अवश्य ही इस अमृत-ब्रह्म-शुक्ररूप अश्वत्थब्रह्म को ऊर्ध्वमूल, अर्थात् केन्द्रमूल, एवं अधश्शाख, अर्थात् परिधिशाख कहा जा सकता है। यही है रहस्यपूर्णा अश्वत्थविद्या की उपक्रमात्मिका रूपरेखा, जिस के आधार पर छन्द-छन्द शाखाओं का विस्तार हुआ है। शाखायुक्त छन्मूलात्मक अश्वत्थ की विद्या ही भारतीय वेदविद्या है। सम्पूर्ण विद्याएँ इसी अश्वत्थविद्या के गर्भ में अन्तर्भुक्त हैं। जो इस अश्वत्थविद्या को जान लेता है वही यहाँ वेदवित् माना गया है। एवं जो निदानविद्याविद् इस अश्वत्थब्रह्म के नैदानिकरूप अश्वत्थवृक्ष का प्रतिदिन पूजन-स्तवन करता रहता है, वही वेदभक्त आस्तिक संस्कृतिनिष्ठ भारतीय 'मानव' है। अश्वत्थब्रह्म के इसी महान् माङ्गलिक स्वरूप के संस्मरण से अपने मानस जगत् को पवित्र करते हुए इस माङ्गलिक सूक्त के साथ आज का वक्तव्य उपरत हो रहा है—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं-तद् ब्रह्म-तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे, तदु नात्येति कश्चन ॥
एतद्वै तत् ।
—कठोपनिषत् ६।१।

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि-यस्य-पर्णानि यस्तं वेद, स वेदवित् ॥
—गीता

ओमित्येतत्

'अश्वत्थविद्या का स्वरूप—परिचय'
नामक
चतुर्थ—वक्तव्य—उपरत
४

———

श्री

'प्रभत्यविद्या का स्वरूप-परिचय'

नामक

चतुर्थ वक्तव्य-उपरत

४

—•—

श्री

'अश्वत्थविद्या' का शेषांश

एवं

"वेदशास्त्र के साथ पुराणशास्त्र का समन्वय"

[रासपञ्चाध्यायी के तात्त्विक-स्वरूप के माध्यम से]

नामक

पञ्चम-वक्तव्य

५

ता० १८।१२।५६

समय—६॥ से ८॥ पर्य्यन्त (सायम)

———••———

श्री

अश्वत्थविद्या का शेषांश
एवं
वेदशास्त्र के साथ पुराणशास्त्र का समन्वय
नामक
पञ्चम–वक्तव्य
५

रसात्मक निष्कूटस्थ अपौरुषेय वेद से अभिन्न शब्दात्मक वेदशास्त्र में प्रतिपादित अनन्त हैं विज्ञान, विज्ञानाधारभूत अनन्त हैं वेद वेदाधारभूत अनन्त हैं वेदैकवेद्य सर्वेश्वर अश्वत्थब्रह्म, जो अनाद्यनन्त सर्वबलविशिष्ट रसैकघन मायातीत विश्वातीत परात्पर परमेश्वर की अनन्तमहिमा से महतोमहीयान् बने हुए हैं। सर्वादिभूत उस अनन्त परात्पर के महासमुद्रात्मक अनन्त धरातल पर अनन्त–असंख्य मायाबल आविर्भूत–तिरोभूत होते रहते हैं। एक एक मायाबल स्वयं भी महामहिमा से अनन्त बना हुआ है। प्रत्येक मायाबल एक एक उस अश्वत्थब्रह्म को स्वक्रोड में प्रतिष्ठित किए हुए है, जिसका 'षोडशी–प्रजापति' के रूप से कल के वक्तव्य में स्पष्टीकरण हुआ है। उस परात्पर–समुद्र में ऐसे अश्वत्थब्रह्म असंख्य–अनन्त हैं, जो परात्पर की दृष्टि से अपना वही महत्त्व रखते हैं, जो महत्त्व महासमुद्र में एक एक बुद्बुद का है। महासमुद्रात्मक परात्पर–परमेश्वर की दृष्टि से एक एक बुद्बुदवत् प्रमाणित होते रहने वाले मायी महेश्वररूप एक अश्वत्थब्रह्म में सहस्र उन शाखाओं का वितान होता रहता है जिस अश्वत्थब्रह्म की इस प्रत्येक शाखा में आकाशमूर्त्ति स्वयम्भू, वायुमूर्त्ति परमेष्ठी, तेजोमूर्त्ति सूर्य्य, जलमूर्त्ति चन्द्रमा, एवं भूपिण्ड प्रतिष्ठित है। इन पाँचों की समष्टि ही पञ्चपुण्डीर पर प्राजापत्या वल्शा कहलाई है, जिसका दूसरे दिन के वक्तव्य में 'विश्वविद्या' नाम से दिग्दर्शन कराया गया है।

अश्वत्थब्रह्म की केवल एक शाखा से सम्बन्ध रखने वाले स्वयम्भू–परमेष्ठी–आदि पाँचों विश्वपर्वों का भी विस्तार अनन्त है। अस्मदादि पार्थिव प्रजाओं की

श्री.

अश्वत्थविद्या का शेषांश
एवं
वेदशास्त्र के साथ पुराणशास्त्र का समन्वय
नामक
पञ्चम-वक्तव्य

तत्त्वात्मक निष्प्रकूटस्थ अपौरुषेय वेद से अभिन्न शब्दात्मक वेदशास्त्र में प्रतिपादित अनन्त है विज्ञान, विज्ञानाधारभूत अनन्त हैं वेद, वेदाधारभूत अनन्त हैं वेदैकवेद्य सर्वेश्वर अश्वत्थब्रह्म, जो अनाद्यनन्त सर्वबलविशिष्ट रसैकघन मायातीत विश्वातीत परात्पर परमेश्वर की अनन्तमहिमा से महतोमहीयान् बने हुए हैं। सर्वाविभूत उस अनन्त परात्पर के महासमुद्रात्मक अनन्त धरातल पर अनन्त-असंख्य मायाबल आविर्भूत-तिरोभूत होते रहते हैं। एक एक मायाबल स्वयं भी महामहिमा से अनन्त बना हुआ है। प्रत्येक मायाबल एक एक उस अश्वत्थब्रह्म को स्वाङ्क में प्रतिष्ठित किए हुए है, जिसका 'षोडशी-प्रजापति' के रूप से कल के वक्तव्य में स्पष्टीकरण हुआ है। उस परात्पर-समुद्र में ऐसे अश्वत्थब्रह्म असंख्य-अनन्त हैं, जो परात्पर की दृष्टि से अपना वही महत्त्व रखते हैं, जो महत्त्व महासमुद्र में एक एक बुद्बुद का है। महासमुद्रात्मक परात्पर-परमेश्वर की दृष्टि से एक एक बुद्बुदवत् प्रमाणित होते रहने वाले मायी महेश्वररूप एक अश्वत्थब्रह्म में सहस्र उन शाखाओं का वितान होता रहता है जिस अश्वत्थब्रह्म की इस प्रत्येक शाखा में आकाशमूर्त्ति स्वयम्भू, वायुमूर्त्ति परमेष्ठी, तेजोमूर्त्ति सूर्य्य, जलमूर्त्ति चन्द्रमा, एवं भूपिण्ड प्रतिष्ठित है। इन पाँचों की समष्टि ही पञ्चपुण्डीरा नद प्राजापत्या अश्वा कहलाई है, जिसका दूसरे दिन के वक्तव्य में 'विश्वविद्या' नाम से दिग्दर्शन कराया गया है।

अश्वत्थब्रह्म की केवल एक शाखा से सम्बन्ध रखने वाले स्वयम्भू-परमेष्ठी-आदि पाँचों विश्वपर्वों का भी विस्तार अनन्त है। अस्मदादि पार्थिव प्रजाओं की

दृष्टि से अनन्त बने हुए चन्द्रमा पार्थिव रथन्तरसाम के समतुलन में बुद्बुदवत् हैं। साममहिमायुक्त अनन्त भूपिण्ड सौर बृहत्साम के समतुलन में बुद्बुदवत् है। तरस्वान्-रूप कन्दसीसमुद्रमूर्ति महान् अनन्त परमेष्ठी के समतुलन में असीम अनन्त सौर ब्रह्माण्ड भी एक बुद्बुद से अधिक कोई विशेष महत्त्व नहीं रख रहे। इत्थंभूत अनन्त-महान्-परमेष्ठी भी परमाकाशरूप अव्यक्तमूर्ति स्वयम्भू के समतुलन में एक बुद्बुद ही प्रमाणित हो रहे हैं। और यों अथ से इतिपर्य्यन्त अपने अणोरणीयान्, तथा महतोमहीयान् गरिमामहिमामय अनन्तभावों से समन्वित वह अनन्त अपने अनन्त ब्रह्माण्डों से क्रीड़ा ही करता हुआ भगवान् व्यास के–लोकवत्तु लीला-कैवल्यम्' को अक्षरशः चरितार्थ कर रहा है। न ऽिशवमूर्त्तेरवधार्य्यते वपु। सं विद्न्ति न च वेदा। अहद्व्यापृत्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि। यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। इसी अनन्तविभूति का अनन्त अरजम्ब के माध्यम से कक्ष से यशोगान किया जा रहा है, जिसके सम्बन्ध में आज भी एक विभिन्न दृष्टिकोण से किञ्चिदिव निवेदन कर देने की धृष्टता कर ली जाती है। भूक्ताम्। श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम्।।

वेदसंहिताओं में अनेकधा सृष्टिविज्ञान के आधारभूत अश्वत्थब्रह्म का विभिन्न दृष्टिकोणों से स्वरूप-विश्लेषण हुआ है, जिन उन समस्त दृष्टिकोणों का इन पाँच मन्त्रों में अन्तर्भाव किया जा सकता है। हम आग्रह करेंगे यहाँ के तत्त्वनिष्ठ प्रज्ञाशील बन्धुओं से कि, यदि उन्हें रहस्यपूर्ण अश्वत्थविद्या के मर्मस्पर्श की जिज्ञासा है, तो उन्हें इस मन्त्रपञ्चक को ही लक्ष्य बनाना चाहिए, जिसमें अनिरुक्त-भाषा के माध्यम से सृष्टिमूलविषयक सभी प्रश्नों का समाधान अन्तर्निहित है।

(१)–किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आस,
यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्
यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्।।
—ऋक्संहिता १०।८१।४।

'वह ऐसा कौनसा महावन–अरण्य–था, उस महा अरण्य का वह ऐसा कौनसा महावृक्ष था, जिसे काट-छाँट कर वसमुत्पन्नात्मक द्यावापृथिवीरूप का महाविश्व बना दिया गया ?। हे मनीषी विद्वानो ! आप अपने मन से ही यह

प्रश्न करें कि जिसने इसप्रकार महावृक्ष से द्यावापृथिवीरूप विश्व का स्वरूप-निर्म्माण कर-'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' रूप से जो इन द्यावापृथिव्य सातों भुवनों को धारण करता हुआ इनका आधार बन कर वृक्षवत् स्थिर खड़ा है, वह कौन, और कैसा है ?" । (१)॥

(२)–ब्रह्मवन, ब्रह्म स वृक्ष आसीत्,
यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।
मनीषिणो मनसा वि ब्रवीमि वो
ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥

—तैत्तिरीय ब्राह्मण २।८।९।७।

प्रश्नात्मिका जिज्ञासा हुई ऋक्संहिता में । एवं इसका उत्तर प्राप्त हुआ हमें पूर्वोक्त तैत्तिरीयवचन के द्वारा । उत्तर भी प्रश्नवत् कैसा रहस्यपूर्ण है ! । हमारे जैसा साधारण व्यक्ति क्या समझ लेगा इस उत्तर से !, यह समस्या भी कम जटिल नहीं है । उत्तरमन्त्र के अक्षरार्थमात्र को लक्ष्य बनाइए । 'ब्रह्मरूप ही एक महावृक्ष था, जिसे काट-छाँट कर यह द्यावापृथिवीरूप महाविश्व निर्म्मित कर दिया किसी ने । हे मनीषी विद्वानो ! हमनें अपने मन में ही इस उत्तर की पर्याप्त मीमांसा कर ली है । उसी को मूल बना कर अपने मन से ही अपने मन में ही आज हम यह स्पष्ट कर रहे हैं कि ब्रह्म ने हीं ब्रह्म से द्यावापृथिवीरूप ब्रह्म का निर्म्माण किया है । ब्रह्म हीं ब्रह्म से ही निर्म्मित इस ब्रह्मात्मक ही विश्व का आधार बना हुआ है" । (२) ॥

(३)–किंस्विदासीदधिष्ठान-
मारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत् ।
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्म्मा
विद्यामौर्णोन् महिना विश्वचक्षाः ॥

—ऋक्संहिता १०।८१।४।

"इस महाविश्व का अधिष्ठान–आरम्भकारण–(मूलाधार–जिस आधार पर कि विश्व का निर्म्माण हुआ) क्या था ?, और कैसा था ? । इस विश्व का आरम्भण

(आरम्भक-उपादानकारण) क्या था ?, और कैसा था ? । एवं कैसे किस शक्ति से उस अधिष्ठान पर उस आरम्भण से किसने विश्व उत्पन्न कर दिया ? । किस इस द्यौ, और पृथिवी को उत्पन्न करते हुए जिस विश्वकर्मा (विश्वकर्मा- विश्वनिर्म्माणकर्त्ता) विश्वचक्षा (विश्वसाक्षी) ने अपनी महिमा से द्युलोक को अनन्ताकाशरूप से वितत कर दिया, फैला दिया, उस विश्वनिर्म्माता का, सर्वेद विश्व के निमित्तकारण का स्वरूप क्या था ?, और कैसा था ? । तात्पर्य-विश्व का आलम्बन कारण कौन ?, निमित्तकारणात्मक असमवायी-कारण कौन ? । एवं उपादान-कारणात्मक समवायी-कारण कौन ?" । (३) ॥

(४)—को अद्धा वेद, क इह प्रवोचत्,
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टि ।
अर्वागदेवा विसर्जनेऽनाथा—
को वेद यत आबभूव ॥
(५)—इयं विसृष्टिर्यत आबभूव—
यदि वा दधे, यदि वा न ॥
योऽस्याध्यक्ष परमे व्योमन्—
सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥

—ऋक्संहिता

"किसने विस्पष्टरूप से—'इदमित्थमेव नान्यथा' (यह निश्चितरूप से ऐसा ही है, अमुक से अमुकरूप से ऐसा ही बना है इस रूप से) इस विश्व के मौलिक रहस्यों का परिज्ञान प्राप्त किया है आजतक ? । अर्थात् किसी ने नहीं किया । जिस किसी ने भी जैसा जो कुछ भी परिज्ञान प्राप्त किया होगा, उस किस परिज्ञाता ने अपने मुख से इस सृष्टि के मूलरहस्य का विस्पष्ट स्वरूप-वर्णन किया आजतक ? । अर्थात् किसी ने नहीं किया । कहाँ से किस अधिष्ठान पर, किस आरम्भण से, किसके द्वारा, और क्यों-क्यों यह सृष्टि आविर्भूत हो पड़ी ?, आ गई ?, यह आज तक कौन जान सका है ? । अर्थात् कोई नहीं जान सका । कदाचित् इस सम्बन्ध में आप यह कहें कि—इन्द्र वरुण चन्द्र, अग्नि, सोम वायु, आदि आदि प्राण-देवताओं से इस सृष्टि का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है, तो आपका यह उत्तर भी

इसलिए सर्वथा असङ्गत, अतएव अमान्य ही प्रमाणित हो जायगा कि ये सब प्राणदेवता तो स्वयं अयाग्भाव से ही समन्वित हैं। तात्पर्य्य-ये तो सृष्टि के बहुत पीछे, सृष्टि के गर्भ में उत्पन्न होनें वाले स्वयं सृष्ट पदार्थ हैं, स्वयं सृष्टिरूप हैं। भला ये कैसे सृष्टि के नाप-रचयिता-किंवा आधार-माने जा सकते हैं ?। तो यों तत्त्वतः अन्ततोगत्या हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि,-"यह जान हीं कौन सकता है कि-यहाँ से जिस उपादान से यह सृष्टि उत्पन्न हुई है ?। अर्थात सृष्टिमूलविषयक प्रश्न सर्वथा असमाधेय बनते हुए एक प्रकार के अनतिप्रश्न ही प्रमाणित हो रहे है" (४)॥

'यह सृष्टि जिससे प्रादुर्भूत हुई है, सम्भवतः उसी ने इसे स्वप्रतिष्ठा के आधार पर धारण कर रक्खा है, अथवा तो सम्भवतः उसने इसे धारण नहीं कर रक्खा। अपितु यह सृष्टि तो स्वयं अपने स्वरूप से अपने आप में ही धृत है, इत्यादि रूप से कोई भी निर्णयात्मक उत्तर नही दिया जा सकता इस दिशा में। यदि सचमुच में कोई इसका जो भी मूल-प्रभव-अध्यक्ष-अधिष्ठाता है जो कि परमाकाश में प्रतिष्ठित माना जाता हुआ 'परमेव्योमन्' नाम से प्रसिद्ध है, हमें तो भाव यह कह देने में भी कोई संकोच नहीं हो रहा कि "वह स्वयं सृष्टिकर्त्ता भी अपनी सृष्टि के इस यथाकथित मूलरहस्य को, सृष्टि कैसे-किससे-किस पर-कब-क्यों ?, इत्यादि प्रश्नों के निर्णयात्मक उत्तरों को जानता है, अथवा नहीं ?, यह भी नहीं कहा जासकता" । ऐसा है यह दुरधिगम्य सृष्टिमूलविषयक जटिल प्रश्न, जिसका स्वयं प्रश्नस्रष्टा महर्षि ने ही अश्वत्थविद्या के माध्यम से परोक्षमीमांसा में इन्हीं मन्त्रों के द्वारा यथावत् समाधान कर दिया है जिसे स्वाध्याय-निष्ठानुगत चिन्तन के द्वारा ही प्राप्त करने का प्रयास प्रक्रान्त रखना चाहिए ॥ (५) ॥

नित्य अशान्त बल से गर्भित, नित्य शान्त रसरूप, नित्य अशान्तिगर्भित नित्यशान्ति-लक्षण मायातीत विश्वातीत अस्यनपिनद्ध परात्पर परमेश्वर ही यह महावन है, जिसकी कोई इयत्ता नहीं है। ऐसे इस महावन में अनन्त-असंख्य मायाबल बुद्बुदवत् अपने अव्यक्त-व्यक्त अव्यक्त-रूप से समुद्र-तरङ्गों की भाँति आविर्भूत-तिरोभूत होते रहते हैं। प्रत्येक मायाबल से सीमित रसबलच्छिन्न सीमित मायी परात्पर ही 'पुरुषाव्यय' कहलाया है। जिस प्रकार एक महावन में असंख्य वृक्ष रहते हैं एवमेव उस विश्वातीत असीम परात्पर वन में असंख्य-मायाबलों से सम्पन्न असंख्य ही मायी अव्ययपुरुष प्रतिष्ठित हैं, जिन असंख्य इन अश्वत्थ-वृक्षों में से केवल एक ही अश्वत्थवृक्ष का यहाँ प्रसङ्ग चल रहा है।

इस अश्वत्थरूप अव्ययवृक्ष का [illegible] प्राण ही वह मौलिक तत्त्ववेद है, जिसका प्रथम वक्तव्य में दिग्दर्शन करा दिया गया है। ऋक्-यजु-साम-अथर्वरूप उस प्राणात्मक अग्नीषोमात्मक तत्त्ववेद से ही यह अव्ययवृक्षात्मक मूलाश्व शाखा-पर्ण-(पल्लव) मञ्जरी-फल-आदि आदि विभिन्न-रूपों से पुष्पित-पल्लवित हुआ है। इस अश्वत्थरूप अव्ययवृक्ष की एक शाखा है यह 'क्षर' नाम की अपराप्रकृति, जिसके विकारक्षरों से ही पञ्चपर्वा सप्तभुवनात्मक द्यावापृथिवीरूप महाविश्व का स्वरूप-निर्माण हुआ है। अव्ययब्रह्म स्वयं अधिष्ठान है, आलम्बन-कारण है। तत्पराप्रकृतिरूप अक्षर निमित्तकारण है, एवं अपराप्रकृतिरूप-शाखात्मक क्षर ही आरम्भणात्मक उपादानकारण है, जिसके विकारात्मक तत्त्व से ही यह पञ्चपर्वा विश्व समुद्भूत है। यों परात्पररूप महावन के अव्ययरूप महावृक्ष से अक्षररूप ब्रह्मा के व्यापार से क्षररूपा शाखा के लक्षण से ही यह विश्वस्वरूप आविर्भूत हुआ है। शाखा एक नहीं—अनन्त हैं, जिनका श्रुति ने 'सहस्र' शब्द से संग्रह कर लिया है। प्रत्येक शाखा एक एक पञ्चपर्वा—सप्तभुवनात्मक विश्व है। एवं इस सम्पूर्ण विवर्त्त का मूलबीज है केन्द्रस्थ काममय अव्यय-मन। अव्ययपुरुष ही अपने मनोमय कामबीज से यह सब कुछ बना है। इसी आधार पर—'पुरुषान्न परं किञ्चित्—सा काष्ठा सा परा गतिः'—मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय!' इत्यादि सिद्धान्त स्थापित हुए हैं। इसी आधार पर अव्ययावतार भगवान् कृष्ण ने अव्ययेश्वर का लक्षण किया है—

गति-र्भर्ता-प्रभुः-साक्षी निवास-शरणं-सुहृत्।
प्रभव-प्रलय-स्थानं-निधानं-बीजमव्ययम् ॥
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥
—गीता

अव्ययपुरुष मनोमय कामबीज से ही सर्वप्रकृति के सर्वाधार बना करते हैं। परिभाषाओं की विलुप्ति के कारण आज मन-पदार्थ भी क्या ही भ्रामक बन गया है। जिसे सर्वसाधारण ने 'मन' मान रक्खा है उसका यहाँ कोई प्रसङ्ग भी नहीं है। एवं इस विभक्त दृष्टिकोण के लिए दो शब्दों में मनस्तत्त्व की रूपरेखा से परिचय प्राप्त कर लेना भी सामयिक है। हृदयावच्छिन्न मायायुक्त रसबल, किंवा हृद्य पुरुष ही विज्ञानभाषा में 'श्वोवस्यसमन' कहलाया है, जो अन्यत्र 'श्वोवसी-

यस्' नाम से भी व्यवहृत हुआ है। यही पहिला अव्ययमन है जिसे 'अस्तमन' भी कहा जा सकता है। जिसका कि निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है —

"असतोऽधि मनोऽसृज्यत। मन प्रजापतिमसृजत। प्रजापति प्रजा असृजत। तद्वा इदं मनस्येव परमं प्रतिष्ठितं-यदिदं किञ्च। तदेतत् -श्वोवस्यस नाम ब्रह्म"।

—तै० ब्रा० उ२० १०३-श्वोवसीयस् तै० ब्रा०।

'विश्वाभावस्थिति में विश्वातीत तत्त्व असत् था, अर्थात् शुद्ध सद्रूप था। उसमें मायाबल के द्वारा सर्वप्रथम केन्द्रात्मक रसबलमूर्ति मन ही प्रादुर्भूत हुआ। यही मन स्वकाममूला रसबल की चितियों से अश्वत्थमूर्ति षोडशीप्रजापति के रूप में परिणत हुआ। इसी अश्वत्थप्रजापति के शाखारूप त्र्यरभाग से विश्वरूपा भूतप्रजा का स्वरूपविकास हुआ है। जिस इस भूतप्रजा के साथ यह प्रजापति-'प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी' के अनुसार नित्य समन्वित रहता है। प्रजा प्रजापति, सब कुछ केन्द्रस्थ उस अव्ययमन पर ही प्रतिष्ठित है, जो श्व -श्व -वसीयान् बनने के कारण भूमाभावात्मक बने रहने के कारण 'श्वोवस्यस' किंवा तैत्तिरीयश्रुति के शब्दों में 'श्वोवसीयस्' नाम से प्रसिद्ध है"-उक्त श्रुतिवचन का यही अक्षरार्थ है।

संकल्प-विकल्प, अर्थात् ग्रहण-परित्याग-भावात्मक नियत विषय की अनुगति के कारण-'नियतविषयत्वमिन्द्रियत्वम्' इस इन्द्रियस्वरूपलक्षण के आधार पर संकल्पविकल्पाधिष्ठाता 'मन' ही 'इन्द्रियमन' कह लाया है, जिसका-'पञ्चेन्द्रियाणि-मन षष्ठा न मे हृदि' (अथर्वसंहिता) में स्पष्टीकरण हुआ है। त्रिवृत्-पञ्चदश-सप्तदश-एकविंश-त्रिणव-त्रयस्त्रिंश-स्तोमात्मिका महापृथिवी के त्रिणव-स्तोम-प्रदेश में व्याप्त भास्वर पार्थिव सोम से ही इस 'इन्द्रियमन' का स्वरूप-निर्माण हुआ है, जो इतर इन्द्रियों से ही समतुलित है।

प्रत्येक इन्द्रिय में अनुकूलवेदनात्मिका सुखानुयायिनी अनुकूलता, तथा प्रतिकूलवेदनात्मिका दुःखानुयायिनी प्रतिकूलता, मन से दो विभिन्न व्यवहार स्पष्टरूप से उपलब्ध हो रहे हैं। प्रत्येक इन्द्रिय के स्पर्शन-गन्धग्रहण-रसास्वादन-आदि आदि स्व-स्व-व्यापार सर्वथा नियत हैं। किन्तु वेदनात्मक-प्रमुमयात्मक

अनुकूल-प्रतिकूलोभयविध-व्यापार सम्पूर्ण इन्द्रियों में समान है। समानव्यापार-प्रवर्त्तक, सर्वेन्द्रियाधारभूत यही तीसरा 'सर्वेन्द्रिय' नामक मन 'अनिन्द्रियमन' कहलाया है। 'सर्वाणीन्द्रियाणि-अतीन्द्रियाणि' सिद्धान्तानुसार इस सर्वेन्द्रिय-लक्षण अनिन्द्रियरूप मन को 'अतीन्द्रियमन' भी कहा गया है। सुषुप्तिदशा में यह सर्वेन्द्रियमन इन्द्रिय-प्राणों के साथ समन्वित होता हुआ बुद्धि के द्वारा पुरीतत्‌नाड़ी में अपीत हो जाता है, तो उस 'अपीति' मूला स्वपीति (स्वपिति) अवस्था में, सुषुप्त्यवस्था में सम्पूर्ण इन्द्रियव्यापार अवरुद्ध हो जाते हैं। चान्द्र सोम, ही अन्नगत रस-मल के क्रमिक विश्लेषण से इस तीसरे सर्वेन्द्रियमन का उपादान बनता है, जिसका पूर्व के वक्तव्यों में यत्र-तत्र दिग्दर्शन कराया जा चुका है। इन्द्रियमन जहाँ पार्थिव भास्वरसोम से अनुप्राणित है, वहाँ यह सर्वेन्द्रियमन चान्द्र सोम से समन्वित है, जिसे उपनिषद् ने 'प्रज्ञानब्रह्म' भी कहा है, जो कि विज्ञानब्रह्म से-अर्थात् बुद्धि से नित्य सम्बद्ध माना गया है। भावना-वासनात्मक संस्कार इसी मन पर प्रतिष्ठित रहते हैं। मन्त्रश्रुति ने भी इसका प्रज्ञानरूप से ही यशोगान किया है, जैसाकि श्रुति कहती है—

> यत् प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
> यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥
>
> —यजुःसंहिता

सुषुप्तिदशा में जब इन्द्रियव्यापार अवरुद्ध हो जाते हैं,-तत्सैव मन, और बुद्धि के भी प्रज्ञान-विज्ञान-व्यापार उपशान्त हो जाते हैं, तो उस अवस्था में भी 'अहं' प्रत्यय सुरक्षित बना रहता है। 'मैं हूँ' इस प्रत्यय का प्रवाह सभी अवस्थाओं में अक्षुण्ण रहता है। दूसरे शब्दों में महदक्षरात्मक पारमेष्ठ्य महानात्मा का व्यापार सुषुप्तिदशा में भी निर्बाध बना रहता है, जिसके प्रमाण श्वासप्रश्वास, रसादि-धातुसञ्चार आदि आदि आभ्यन्तर व्यापार बने हुए हैं। यों सुषुप्तिदशा में भी ये अन्तर्व्यापार जिस सत्त्वगुणान्विता ज्ञानेच्छा-कामना के द्वारा प्रक्रान्त बने रहते हैं वही चौथा 'सत्त्वमन' है जिसे 'महन्मन' भी कहा गया है जिसके पूर्वानुबन्धानुबन्ध से अलौकिक मानव 'महानात्मा' 'महात्मा' 'महापुरुष' अभि-धानों से समन्वित रहते हैं। बड़ा ही विलक्षण है यह महन्मन जिसकी इच्छा से ही आकृति-प्रकृति- अहङ्कृति-भाव व्यवस्थित बने रहते हैं। बहिर्म्मनोलक्षण सर्वेन्द्रिय नामक प्रज्ञानमन की इच्छा जहाँ जीवेच्छा कहलाई है, वहाँ अन्तर्म्मनो-लक्षण इस महन्मन की इच्छा ईश्वरेच्छा कहलाई है, जो बड़ी ही बलवती है।

'मम योनिर्म्महद्ब्रह्म-तस्मिन् गर्भं दधाम्यम्' (गीता) के अनुसार श्वोवसीयसमनोमूर्त्ति अव्ययेश्वर इस सत्यमनोरूप महान् में ही प्रतिष्ठित रहते हैं।

अतएव इस महदिच्छा का आश्रय ग्रहण कर लेने के अनन्तर मानव अपने आकृति-प्रकृति-भावों का भी परिवर्त्तन कर सकता है। ऋषिप्रज्ञा इसी महन्मन के माध्यम से कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तु समर्था बनी रहती है। लोकभाषा में जिसे 'ऊपर का मन' कहा जाता है, वह है-'सर्वेन्द्रिय' नामक चान्द्र 'प्रज्ञान' मन। एवं जिसे 'भीतर का मन' कहा जाता है, वह है—यही पारमेष्ठ्य पवित्र सोममय महन्मन। प्रसिद्ध है कि जो काम ऊपर के मन से किया जाता है, वह कदापि सफल नहीं होता, जबकि भीतर के मन से किया जाने वाला कर्म्म कभी निष्फल नहीं होता। गीता में इन्हीं दोनों के लिए उन्मना, मन्मना, ये दो भाव आए हैं। 'उन्मना' शब्द के लिए ही हमारी प्रान्तभाषा में 'उणमणा' शब्द प्रसिद्ध है। उन्मना मानव के काम व्यर्थ चले जाते हैं। हो भी जाते हैं, तो जीवेच्छाकर्षण से सकाम बनते हुए ये काम आसक्तिजनक बनते हुए पतन के कारण बन जाते हैं। अतएव—

> मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
> मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मान मत्परायणः ॥
>
> —गीता

इसप्रकार पार्थिव त्रिणव भास्वरसोम, चान्द्रसोम पारमेष्ठ्य महत्सोम, एवं हृदयस्थ-यज्ञगर्भितरस, इन चार उपादानद्रव्यों से क्रमरूप इन्द्रियमन, सर्वेन्द्रिय-मन, महन्मन अव्ययमन, के भेद से भारतीय मनोविज्ञान चार मार्गों में विभक्त हो रहा है, जिन्हें क्रमशः मन-प्रज्ञान-सत्त्व-आत्मा इन नामों से किंवा इन्द्रिय-बहिर्म्मन-अन्तर्म्मन-श्वोवसीयस्मन-इन नामों से भी व्यवहृत किया जा सकता है। कहना न होगा कि, जहाँ वर्त्तमान भूतमनोविज्ञान सर्वथा स्थूल-बाह्य-पार्थिव-इन्द्रियमन पर ही विभ्रान्त है, वहाँ भारतीय मनोविज्ञान इसके आगे की तीन धाराओं का विश्लेषण करता हुआ 'श्वोवसीयस्' नामक उस आत्ममन पर ही विश्राम ले रहा है, जिसे हमनें यहाँ असत्यविद्या की मूलप्रतिष्ठा बतलाया है।

आत्ममनोरूप अव्ययमन से अभिन्न बने रहने वाले पारमेष्ठ्य महन्मन के सम्बन्ध में हमें दो शब्दों में और भी कुछ विशेष निवेदन कर देना है। क्योंकि

अनुकूल-प्रतिकूलसोममयविष-व्यापार सम्पूर्ण इन्द्रियों में समान है। समानव्यापार प्रवर्तक, सर्वेन्द्रियाधारभूत यही तीसरा 'सर्वेन्द्रिय' नामक मन 'अनिन्द्रियमन' कहलाया है। 'सर्वाणीन्द्रियाणि-अतीन्द्रियाणि' सिद्धान्तानुसार इस सर्वेन्द्रिय-लक्षण अनिन्द्रियरूप मन को 'अतीन्द्रियमन' भी कहा गया है। सुषुप्तिदशा में यह सर्वेन्द्रियमन इन्द्रिय-प्राणों के साथ समन्वित होता हुआ बुद्धि के द्वारा अब पुरीतन्नाडी में अपीत हो जाता है, जो उस 'अपीति' मूला स्वपीति (स्वपिति) अवस्था में सुषुप्त्यवस्था में सम्पूर्ण इन्द्रियव्यापार अवरुद्ध हो जाते हैं। चान्द्र सोम, ही अन्नगत रस-मल के क्रमिक विप्रकलन से इस तीसरे सर्वेन्द्रियमन का उपादान बनता है, जिसका पूर्व के वक्तव्यों में यत्र-तत्र दिग्दर्शन कराया जा चुका है। इन्द्रियमन जहाँ पार्थिव भास्वरसोम से अनुप्राणित है, वहाँ यह सर्वेन्द्रियमन चान्द्र सोम से समन्वित है, जिसे उपनिषद् ने 'प्रज्ञानब्रह्म' भी कहा है, जो कि विज्ञानब्रह्म से-अर्थात् बुद्धि से नित्य सम्बद्ध माना गया है। भावना-वासनात्मक संस्कार इसी मन पर प्रतिष्ठित रहते हैं। मूलश्रुति ने भी इसका प्रज्ञानरूप से ही यशोगान किया है, जैसाकि श्रुति कहती है—

> यत् प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
> यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥
>
> —यजुःसंहिता

सुषुप्तिदशा में जब इन्द्रियव्यापार अवरुद्ध हो जाते हैं,-तत्रैव मन, और बुद्धि के भी प्रज्ञान-विज्ञान-व्यापार उपशान्त हो जाते हैं, तो उस अवस्था में भी 'अहं' प्रत्यय सुरक्षित बना रहता है। "मैं हूँ" इस प्रत्यय का प्रवाह सभी अवस्थाओं में अक्रान्त रहता है। दूसरे शब्दों में अहङ्क चिद्रूप पारमेष्ठ्य महानात्मा का व्यापार सुषुप्तिदशा में भी निर्बाध बना रहता है, जिसके प्रमाण श्वासप्रश्वास, रक्तादि-धातुसञ्चार आदि आदि आभ्यन्तर व्यापार बने हुए हैं। यों सुषुप्तिदशा में भी ये अन्तर्व्यापार जिस सत्त्वगुणान्विता शान्तिमय-कामना के द्वारा अक्रान्त बने रहते हैं वही चौथा 'सत्त्वमन' है, जिसे 'महन्मन' भी कहा गया है, जिसके पूर्ण विकासानुबन्ध से अलौकिक मानव 'महानात्मा' 'महात्मा' 'महापुरुष' अभि-धानों से समन्वित रहते हैं। बड़ा ही विलक्षण है यह महन्मन जिसकी इच्छा से ही आकृति-प्रकृति- अहङ्कृति-भाव व्यवस्थित बने रहते हैं। बहिर्म्मनोलक्षण सर्वेन्द्रिय नामक प्रज्ञानमन की इच्छा जहाँ जीवेच्छा कहलाती है, वहाँ अन्तर्म्मनो-लक्षण इस महन्मन की इच्छा ईश्वरेच्छा कहलाई है, जो बड़ी ही बलवती है।

ही बना हुआ है । मूलबीज है काममय-अव्ययमन। किन्तु यह भी प्राणात्मक वद के माध्यम से आपामय महान् के गर्भ में प्रविष्ट होकर ही अपने इस कामबीज को अङ्कुरित करने में समर्थ बनते हैं । यों इस मनोमय काम का मूलबीजत्व भी आपामय महान् पर ही अवलम्बित है। बीज पानी में ही तो अङ्कुरित होता है। यही तो अम्मासादमला सृष्टि की सहज प्रक्रिया है। अव्ययमन को अश्वत्थवृक्ष में जो परिणत होना है। अवश्य ही इस वृक्षरूप में परिणति के लिए सहजप्रक्रया-नुबन्ध से हमे भी अपने कामबीज को अप्तत्त्व से ही समन्वित करना पड़ता है। यही है इस पारमेष्ठ्य महान् की महत्ता, जिसने महतोमहीयान् सर्वाधार सर्वेश्वर अव्ययेश्वर को भी स्वगर्भ में अन्तर्भुक्त कर इसे विश्वस्वरूप में परिणत कर दिया है ।

सूर्य से ऊपर अवस्थित माने गए हैं ये परमेष्ठी—महान्, जिनके चारों ओर भूपिण्ड, एवं चन्द्रमा को स्वमहिमा में मुक्त रखते हुए सूर्यनारायण परिक्रमा लगा रहे हैं। क्या होता है इस परिक्रमा से ?, सुन लीजिए ! मत हरास पापानि' से अधिक और सम्भव भी क्या है ऐसे तात्कालिक असुरघ्नात्मक बकल्यों से। पार्थिव संस्कार से पारमेष्ठ्य महान में आकृतिभाव का उदय होता है चान्द्र संस्कार से प्रकृतिभाव का उदय होता है, एवं सौर संस्कार से अहङ्कृतिरूप अहप्रत्ययभाव का उदय होता है । लोक में जिसे अहङ्कार कहा जाता है उसका कोई सम्बन्ध नहीं है-यहाँ के-अहंप्रत्ययात्मक अहङ्कृतिभाव से। भूपिण्ड रूपज्योति —मात्र बनता हुआ तमोभावात्मक है, चन्द्रमा परज्योतिर्भाव से रजोभावात्मक है। एवं सूर्य स्वज्योतिर्भाव से सत्त्वभावात्मक है । अतएव इन तीनों के द्वारा आकृति-प्रकृति-अहङ्कृति-भावों के साथ साथ पारमेष्ठ्य महान् में सत्त्व-रज -तमो-रूप-त्रिगुणभाव का भी समन्वय हो जाता है। और यों दर्शपूर्णमास्यशप्रक्रियात्मक इस पार्थिव-चान्द्र-सौर-परिभ्रमण से पारमेष्ठ्य महान् षड्भावात्मक बन जाता है।

एक प्रासङ्गिक, किन्तु महत्त्वपूर्ण तत्त्व का स्पष्टीकरण और। विश्व पञ्चपर्वा बनता हुआ अमृत-मृत्युभेद से पर्वा भी माना गया है—इसी षड्भावापन्न महान के अनुग्रह से । स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य, तीनों की समष्टि 'अमृतविश्व' है, एवं सूर्य-चन्द्रमा-भूपिण्ड-इन तीनों की समष्टि 'मर्त्यविश्व' है। सूर्य से ऊपर अमृतरूप रस तत्त्व का प्राधान्य है, सूर्य से नीचे मृत्युरूप बल की प्रधानता है, जैसा कि-'तद्यत् किञ्चार्वाचीनमादित्यात्-सर्वं तन्मृत्युनाऽऽप्तम्' इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। सूर्य इस अमृत-मर्त्यात्मक पञ्चपर्वा विश्व के मध्य में प्रतिष्ठित है।

'भूतं-भविष्यम् पस्तौमि महद्ब्रह्मैकमक्षरं' बहु-ब्रह्मैकमक्षरम्' इत्यादि श्रुति के अनुसार महन्मनोरूप-सर्वदासमन्वयमूर्ति पराक्षरात्मा यह पारमेष्ठ्य महान् ही अश्वत्थवृक्ष के विस्तार का कारण बनता है । पारमेष्ठ्य महान् ही काममय अव्ययमन की योनि-प्रतिष्ठा-स्थान बनता है । महान् का लौकिक अर्थ है-'बड़ा' । बड़ा कौन ?, उत्तर होना चाहिए या-विश्वरूपा मायी अव्ययेश्वर, जिसके गर्भ में अक्षर-क्षरादि मब कुछ निविष्ट है । फिर इसे महान् न कह कर आपोमय-भार्गवाङ्गिरोमय-उस परमेष्ठी को 'महान्' कैसे और क्यों कह दिया गया, जबकि परमेष्ठी तो अव्ययविश्व के स्वयम्भू से भी छोटे हैं ? । अन्वेषण कीजिए इस प्रश्न का स्वयं पारमेष्ठ्य महान् के ही गर्भ में । महान् का स्वरूप बतलाते हुए भगवान् ने कहा है—

मम योनिर्म्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ! ॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय ! मूर्त्तय सम्भवन्ति या ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥

—गीता

आज का विषय आप सबको रूक्ष लग रहा है । अतएव हम अब अधिक विस्तार में न जायेंगे । अव्ययपुरुष गर्भ धारण करते हैं इस महान् में ? । क्या तात्पर्य ? । तात्पर्य यही है कि स्वायम्भुव त्रयीवेदरूप प्राणाग्नि के वाग्भाग से उत्पन्न पारमेष्ठ्य भार्गवाङ्गिरोमय महान् में प्रवेश करने से ही अश्वत्थ का स्वरूप बनता है तभी ब्रह्माण्डस्वरूपात्मक अश्वत्थ का विकास होता है । इसीलिए- 'ऋतमेव परमेष्ठी-भूतं नात्येति किञ्चन-सर्वमापोमयं जगत्' इत्यादि सिद्धान्त स्थापित हुए हैं । इसीलिए तो भारतीय प्रत्येक सांस्कृतिक अनुष्ठान में सर्वप्रथम पानी ही संकल्प की आधारभूमि बनता है । प्राण कहता है-मैं नग्नता से डर रहा हूँ । प्राण से पूछा जाता है कि-आपकी अनग्नता क्या है ?, तो उत्तर मिलता है-'आपो वै अनग्नता' । इसीलिए तो ब्रह्मयज्ञात्मक यज्ञकर्म में सर्वप्रथम-'अपांप्रणयन' कर्म्म ही विहित है । इसलिए तो प्राणाग्नि-अन्नसोमात्मक यज्ञ में-भोजन में-अमृतोपस्तरण-अमृतापिधानरूप से आद्यन्त में तीन बार आचमन विहित हुआ है । प्राण का संग्रह पानी से ही सम्भव है-'आपोमय प्राणः' । वर्षा के जलकणों के सम्पर्कमात्र से वसुन्धरा मानो प्राणवती बन जाती है, पत्ता पत्ता खिल उठता है । इन्हीं सब कारणों से सृष्टि का मूलबीज अप्तत्त्व

रहे हैं, जिसका-'सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु सह वीर्य्यं करवावहै-समानेन हविषा जुहोमि' इत्यादि वाक्यों से उद्घोष हुआ है।

क्या मानव की मानवता किंवा मानव का सर्वस्व स्वरूप केवल इस शरीरा-नुबन्धिनी पार्थिव आकृतिमूला 'मानवजाति' मात्र पर ही विश्रान्त है ? । नेति होवाच। अभी तो विश्व के केवल एक दृश्य-स्थूल भूपिण्डमात्र का समन्वय हुआ है। आगे बढ़िए । दूसरा स्थान है-'मन' का। मानव का मन चान्द्र है, यह रजो-गुणप्रधान है, महान् के सूक्ष्म-अदृष्ट-प्रकृतिभाव से समन्वित है। यही चान्द्र देवप्राण प्रतिष्ठित है जिससे मानव के प्रकृतिमूलक-मनोमूलक-'वर्ण' का विकास हुआ है, जो प्रत्येक मानव का भिन्न भिन्न है। विभिन्न हैं ये प्रकृतिमूलक वर्ण, जिनकी दृष्टि से देवप्राणानुबन्धी वर्गभेद के अनुसार विभिन्न श्रेणि-विभागों में ही प्रतिष्ठित हैं मानव । कदापि शरीरमूला, किंवा आकृतिमूला मानवजाति से इस प्रकृतिमूलक मानव वर्ण का संग्रह नहीं किया जा सकता। शरीर को तो फिर भी यथाकथञ्चित् कर्म्ममूलक मान लिया जा सकता है। अतएव तन्मूला शरीरमात्र निबन्धना मानवजाति को भी कर्म्ममूला कहा जा सकता है। किन्तु मनोनिबन्धना प्रकृतिमूला देवप्राणनिबन्धिनी वर्णाभिव्यक्ति को तो जन्ममूला ही माना जायगा, जैसाकि-'प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यं-संस्कारविशेषाच्च' इत्यादि से स्पष्ट है। आकृतिमूला मानवजाति जहाँ एक है, वहाँ प्रकृतिमूलक वर्ण-अवर्ण-आठ भागों में विभक्त हैं, जिनके आधार पर ही तत्तद्विशेष वर्ण-मानवों के तत्तद्विशेष ही गुण-धर्म्म व्यवस्थित हुए हैं । क्या मानव की स्वरूपव्याख्या इस वर्णभावमूलक मनस्तन्त्र पर ही समाप्त हो गई ? । नहीं।

चन्द्रमा के अनन्तर स्थान आता है सूर्य्य का, जिससे—'धियो यो नः प्रचोदयात्' रूप से मानव के बुद्धितन्त्र का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है। मानव की बुद्धि सौरी है, यह सत्त्वगुणप्रधाना है अपने मौलिकरूप से। एवं यह महान् के सुसूक्ष्म-अप्राप्त-अदृष्ट विभाव से समन्वित है। यहीं सौर ऋषिप्राण प्रतिष्ठित है, जिससे मानव के अदृष्टविमूलक-बुद्धिमूलक—'गोत्र' भाव का विकास हुआ है जो तत्तत्-वर्णसमुदाय की अपेक्षा से सम्बन्ध रखने वाले तत्तत् वंशों का विभिन्न विभिन्न है। सूर्य्य के अनन्तर स्थान आता है-महद्गर्भित उस अव्ययात्मा का, जो इन तीनों गोत्र-वर्ण-जाति-भावों का प्रवर्त्तक बनता हुआ भी स्वयं अपने रूप से अगोत्र-अवर्ण-एवं समान है। इसी आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्व के आधार पर मानव के आकृति-प्रकृति-अदृष्टविमूलक जाति-वर्ण-गोत्र-भाव प्रतिष्ठित हैं, जो

अतएव-'निवेशयन्नमृत-मर्त्यञ्च' के अनुसार इसका दोनों भावों से समन्वय मान लिया गया है। स्वायम्भुव प्राण ऋषि है, पारमेष्ठ्य प्राण पितर है, अमृत-सूर्य्यप्राण ही देवदेवता हैं। इन तीनों ऋषि-पितर-देवप्राणों का मर्त्यविश्व के सूर्य्य-चन्द्र-भूपिण्ड-इन तीन पर्वों के साथ क्रमिक समन्वय हो रहा है। अतएव कहा जा सकता है कि-सूर्य्य ऋषिप्राण का प्रवर्तक है, जैसाकि-'तेऽङ्गिरसः सूनवः' इत्यादि से प्रमाणित है। चन्द्रमा देवप्राण का संग्राहक है, जैसाकि-'चन्द्रमा वै देवाना वसु' इत्यादि से प्रमाणित है। भूपिण्ड पितृप्राण का संग्राहक है, जैसाकि-'पृथिवी-गार्हपत्यः-गृहाणा वै पितर ईशते' इत्यादि से स्पष्ट है। यों स्वायम्भुव-पारमेष्ठ्य-अमृत-सौरभावानुबन्धी ऋषि-पितर-देव-नामक तीनों प्राण हमारी मर्त्य त्रिलोकी में क्रमशः मर्त्यचरष्ट मर्त्यसूर्य्य-चन्द्रमा-भूपिण्ड-तीनों से अनुप्राणित हो रहे हैं। अतएव इन तीनों प्राणों का क्रमशः महान् के आकृति-प्रकृति अहङ्कृति भावों के साथ क्रमिक समन्वय बन जाता है। पार्थिव भागानुबन्धिनी आकृति का पितरप्राण से, चान्द्रभागानुबन्धिनी प्रकृति का देवप्राण से, एवं मर्त्यसूर्य्यभावानुबन्धिनी अहङ्कृति का ऋषिप्राण से समन्वय हो रहा है, एवं यहीं पुन कुछ विशेषरूप से समझ लेना है।

तमोगुण से युक्त, पार्थिव पितर भाग से समन्वित पारमेष्ठ्य महान् के आकृतिभाव से प्राणियों के 'शरीर' का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है। रजोगुण से युक्त चान्द्र देवभाग से समन्वित महान् के प्रकृतिभाव से प्राणियों के-'मन' का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है। एवं सत्वगुण से युक्त सौर ऋषिभाग से समन्वित महान् के अहङ्कृतिभाव से प्राणियों की 'बुद्धि' का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है। शेष रह जाता है-गुणातीत-आकृति-प्रकृति-अहङ्कृति-भावातीत-ऋषिपितरदेवभावातीत-अतएव सर्वातीत महद्गर्भीभूत 'अव्ययात्मा' नामक चिदात्मा। उसका स्वस्वरूप से केवल 'मानव' में ही व्यक्तीभाव हुआ है, जैसाकि तीसरे वक्तव्य में स्पष्ट कर दिया गया है। मानव का शरीर पार्थिव है, यह तमोगुण प्रधान है, महान् के आकृतिभाव से समन्वित है, यहीं पार्थिव पितरप्राण प्रतिष्ठित है, जिससे मानव की आकृतिमूला-शरीरमूला-'जाति' का विकास हुआ है, जो कि मानवमात्र की एक ही जाति है। एक है 'मानवजाति', जिसकी दृष्टि से न कोई ऊँचा है न कोई नीचा है। इसी आधार पर वेद का-'कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्' सिद्धान्त, स्थापित हुआ है। जहाँ तक शरीर का सम्बन्ध है, शरीरानुगत आर्थिक योगक्षेम-निबन्धन पार्थिव आहार-विहारादि-मार्गों का सम्बन्ध है, मानवमात्र इस दिशा में समानरूप से प्रतिसिद्ध अधिकार नहीं, अपितु-आकृतिसिद्ध अधिकार रख

रहे हैं, जिसका-'सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै-समानेन हविषा जुहोमि' इत्यादि वाक्यों से उद्घोष हुआ है।

क्या मानव की मानवता किंवा मानव का सर्वस्व स्वरूप केवल इस शरीरानुबन्धिनी पार्थिव आकृतिमूला 'मानवजाति' मात्र पर ही विश्रान्त है ?। नेति होवाच। अभी तो विश्व के केवल एक दृश्य-स्थूल भूपिण्डमात्र का समन्वय हुआ है। आगे बढ़िए। दूसरा स्थान है-'मन' का। मानव का मन चान्द्र है, यह रजोगुणप्रधान है, महान् के सूक्ष्म-अदृष्ट-प्रकृतिभाव से समन्वित है। यहीं चान्द्र देवप्राण प्रतिष्ठित है, जिससे मानव के प्रकृतिमूलक-मनोमूलक-'वर्ण' का विकास हुआ है, जो प्रत्येक मानव का भिन्न भिन्न है। विभिन्न हैं ये प्रकृतिमूलक वर्ण, जिनकी दृष्टि से देवप्राणानुबन्धी वर्णभेद के अनुसार विभिन्न श्रेणि-विभागों में हीं प्रतिष्ठित हैं मानव। कदापि शरीरमूला, किंवा आकृतिमूला मानवजाति से इस प्रकृतिमूलक मानव वर्ण का संग्रह नहीं किया जा सकता। शरीर को तो फिर भी यथाकथञ्चित् कर्म्ममूलक मान लिया जा सकता है। अतएव तन्मूला शरीरमात्र निबन्धना मानवजाति को भी कर्म्ममूला कहा जा सकता है। किन्तु मनोनिबन्धना प्रकृतिमूला देवप्राणनिबन्धिनी वर्णाभिव्यक्ति को तो जन्ममूला ही माना जायगा, जैसाकि-'प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्यं-संस्कारविशेषाच्च' इत्यादि से स्पष्ट है। आकृतिमूला मानवजाति जहाँ एक है, वहाँ प्रकृतिमूलक वर्ण-अवर्ण-आठ मार्गों में विभक्त हैं, जिनके आधार पर ही तत्तद्विशेष वर्ण-मानवों के तत्तद्विशेष ही गुण-धर्म्म व्यवस्थित हुए हैं। क्या मानव की स्वरूपव्याख्या इस वर्णभावमूलक मनस्तन्त्र पर ही समाप्त हो गई ?। नहीं।

चन्द्रमा के अनन्तर स्थान आता है सूर्य्य का, जिससे—'धियो यो नः प्रचोदयात्' रूप से मानव के बुद्धितन्त्र का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है। मानव की बुद्धि सौरी है, यह सत्वगुणप्रधाना है अपने मौलिकरूप से। एवं यह महान् के सुसूक्ष्म-अभाव-अहङ्कृतिभाव से समन्वित है। यही सौर ऋषिप्राण प्रतिष्ठित है, जिससे मानव के अहङ्कृतिमूलक-बुद्धिमूलक—'गोत्र' भाव का विकास हुआ है जो तत्तत्-वर्णसमुदाय की अपेक्षा से सम्बन्ध रखने वाले तत्तत् वर्णों का विभिन्न विभिन्न है। सूर्य्य के अनन्तर स्थान आता है-महद्गर्भित उस अव्ययात्मा का, जो इन तीनों गोत्र-वर्ण-जाति-भावों का प्रवर्त्तक बनता हुआ भी स्वयं अपने रूप से अगोत्र-अवर्ण-एवं समान है। इसी आत्मव्यक्त्याभिव्यक्तित्व के आधार पर मानव के आकृति-प्रकृति-अहङ्कृतिमूलक जाति-वर्ण-गोत्र-भाव प्रतिष्ठित हैं, जो

क्रमशः शुक्रशोणित–शरीर मन–शुक्रात्मा बुद्धि–इन तीनों के पितृ–देव–ऋषि प्राणों से नित्य सम्बन्ध है। जाति से वर्ण भेद है वर्ण से गोत्र भेद है आत्मिक सम शरीरमूलक आचमान भेद है जिसे विस्मृत कर आज मानव शरीरमात्र को ही, अथवा व्यावहारिक–सामान्य मानवजाति को ही मानवता का आधार मानने की महानक भूल करता हुआ महदितिनिष्ठ वर्ण अहङ्कृतिनिष्ठ गोत्र-एवं आकृति-सम्बन्धगत इन तीनों मौलिक आधारों से सर्वथैव पराङ्मुख बन गया है। इति नु महद् माहात्म्यम्। जातिशुद्धि, जातिविधान मानव का वस्तुतः साक्षात् पुरुषार्थ नहीं है। यही शरीरशुद्धि का तो ऋषिप्रज्ञा ने 'शुचावृत्ति' रूप से निम्नतम ही माना है। वर्णसंशुद्धि भी यहाँ विशेषरूप से लक्ष्य नहीं बनती। लक्ष्य रही है इस प्रजा की सदा से– गोत्रशुद्धि'। 'गोत्रं नोऽभिवर्द्धताम्' ही यहाँ का चिरन्तन आदर्श रहा है जिसका ऋषिप्राण से सम्बन्ध है। ऋषिप्राण ही यहाँ के तत्त्वचिन्तन की आधारभूमि है। उसकी विलुप्ति से ही आज मानव अपने प्रकृति अहङ्कृति-आत्ममूलक सुसूक्ष्म प्रतिष्ठाभावों को विस्मृत कर केवल आकृतिधर्मा ही बना रह गया है, अथवा तो बनता जा रहा है।

तन्त्रातीत –आत्मा

(१)	(२)	(३)
सत्त्वभाव ——	रजोभाव ——	तमोभाव
अहङ्कृति ——	महदितिभाव ——	आकृतिभावः
सूर्य —— ——	चन्द्रमाः ——	पृथिवी
ऋषिप्राणाः ——	देवप्राणाः ——	पितृप्राणाः
गोत्रभाव ——	वर्णभावः ——	जातिभावः
बुद्धितन्त्रम्	मनस्तन्त्रम्	शरीरतन्त्रम्

'सर्वात्मको–महान्–सूक्ष्माभावापन्न —पारमेष्ठ्य'

पुन हम ऐसा अनुभव कर रहे हैं कि, इस तत्त्वचर्चा की रूक्षता से आप अमनोभावानुगामी बनते जा रहे हैं। बात यथार्थ है। क्योंकि आज की इस रूक्षा

तत्वचर्चा में मनोभावानुबन्धी विनोद का प्रवेश भी निषिद्ध बन रहा है। महर्षि ने कहा है—

> यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं-यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
> तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

आत्मानुगता बुद्धिमात्र के प्रकाश से सम्बन्ध रखने वाला यह वैदिक तत्वधार तबतक मानस धरातल से मेल खा ही नहीं सकता जबतक कि हम अपने मन को नियन्त्रणपूर्वक बुद्धिसूत्र से चारों ओर से वेष्टित नहीं कर लेते। अतएव पुनः विशेष अवधान के लिए विशेष आवेदन है। 'यत्तदग्रे विषमिव परिणामे-ऽमृतोपमम्' इस आर्ष सिद्धान्त के अनुसार सम्भव है यही विषवत् कटु भी प्रतीयमान रूक्ष तत्त्ववाद हमें किसी अमृतलक्षण सुस्वादु फल का भोक्ता बना दे। आप लोगों का ही तो विशेष आग्रह हुआ था इस अश्वत्थविद्या के लिए। वृक्षों में ही तो नहीं लग जाता। वर्षों के श्रम-परिश्रम के अनन्तर वृक्ष सम्पन्न होता है, तब कहीं जा कर फल के दर्शन होते हैं। हाँ, तो अब केवल तालिकामात्र-द्वारा इस रूक्ष प्रसङ्ग को शीघ्र ही उपरत कर देने की चेष्टा की जा रही है।

षोडशीप्रजापति ने सृष्टिकामना की। इस कामना से जो पाँच विकार उत्पन्न हुए, वे क्रमशः-प्राण-आप-वाक्-अन्नाद-अन्न-कहलाए, इन्हें ही विश्वोपादान बनने के कारण-विश्वस्रष्टा बनने के कारण 'विश्वसृट्' कहा गया। इन पाँचों का पञ्चीकरण हुआ। प्रत्येक प्रत्येक में शेष चारों की आहुति हुई। इससे पञ्चात्मक पाँच विकार उत्पन्न हुए, जिन्हें कहा गया-'पञ्चजन'।

'यस्मिन् पञ्च पञ्चजना-आकाशश्च प्रतिष्ठितः' इत्यादिरूप से इन्हीं का स्वरूप-विश्लेषण हुआ है। पुनः इन पाँच पञ्चजनों का पञ्चीकरण हुआ इसमें प्राणादि प्रत्येक में २५-२५ कलाएँ आविर्भूत हो गईं। इन्हीं का साङ्केतिक नाम रक्खा गया-'पुरञ्जन'। प्राण नामक पञ्चजन से 'वेदपुरञ्जन' उत्पन्न हुआ। आप पञ्चजन से 'लोकपुरञ्जन', वाक् पञ्चजन से 'देवपुरञ्जन' अन्नादपञ्चजन से भूतपुरञ्जन एवं अन्नपञ्चजन से पशुपुरञ्जन का विकास हुआ। पञ्च-पञ्चीकृत इन पाँच पुरञ्जनों का पुनः पञ्चीकरण हुआ। इस पञ्चीकरण से पाँचों पुरञ्जनों के द्वारा पाँच पुरमाग उत्पन्न हुए, जिन्हें वैदिक परिभाषा में-'महापुर' कहा गया है। ग्रामप्रमाणात्मक-ऐन्द्राग्न ही 'पुर' की परिभाषा है

जैसा कि–'इमा हि पुरः' इस श्रुतिवचन से स्पष्ट है। वेदपुरुषन से स्वयम्भूपुर का, यज्ञपुरुषन से परमेष्ठीपुर का, देवपुरुषन से सूर्य्यपुर का, भूतपुरुषन से 'पृथिवीपुर' का, एवं पशुपुरुषन से चन्द्रपुर का स्वरूपाविर्भाव हुआ। यह स्मरण रहे कि, आज हम जिस भू-पिण्ड-मा-सूर्य्य-रूप से अपनी आँखों से प्रत्यक्ष कर रहे हैं, सूर्य्यपुर-चन्द्रपुर-पृथिवीपुर-रूप पुर इन प्रत्यक्षदृष्ट महाभूतपिण्डों से सर्वथा पृथक् तत्त्व हैं। इनकी पूर्वावस्था से सम्बन्ध रखने वाले वर्णेनात्मक इन्द्रोमय सूक्ष्म तत्त्वात्मक पुरों का ही नाम सूर्य्यपुरादि है, जिन इन पुरों में क्रमशः पांच महाभूत प्रतिष्ठित रहते हैं, जो कि पाँचों महाभूत क्रमशः आकाश-वायु-तेज-जल-पृथिवी-इन नामों से प्रसिद्ध हैं। जिसे हम देखते हैं, वह यही महाभूतात्मिका पृथिवी, जिसे भूपिण्ड है, जिसका आधार पृथिवीपुर बना हुआ है। यही स्थिति अन्य महाभूतों के सम्बन्ध में घटित है। विज्ञानभाषा में यहां ब्रह्मपुर स्वयम्भू-आदि नामों से व्यवहृत हुए हैं, वहां सर्वहुतलक्षण यज्ञ की परिभाषा में ये ही पाँचों ब्रह्मपुर क्रमशः परमाकाश, महासमुद्र, सम्वत्सर, चान्द्र, नक्षत्र–इन नामों से भी व्यवहृत हुए हैं। सामपरिभाषा में ये ही पाँचों पुर क्रमशः आयन्तीयसाम–वारवन्तीयसाम–बृहत्साम–रथन्तरसाम–निधनसाम, इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। पुर के दूसरे वैज्ञानिक नाम हैं विभिन्न दृष्टिकोणों से पुर-पद-विभूति-महिमा-साहस्री-आदि नामों से भी यत्रतत्र उपवर्णित हैं।

इसप्रकार अक्षरत्रयात्मक षोडशी-प्रजापति की एकशाखारूप अपराप्रकृतिलक्षण क्षरभाग से अक्षर के द्वारा अव्यय के आधार पर 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' मूला पञ्चीकरणप्रक्रिया के धारावाहिक क्रम से क्रमशः विश्वसृट्-पञ्चजन-पुरञ्जन-पुर एवं महाभूत, इन पांच विवर्तों का क्रमिक विकास हुआ है जिसका दर्शनभाषा में गुण-अणु-रेणु-भूत-भौतिक-इन नामों से समन्वय किया जा सकता है। प्रत्यक्ष दृष्ट सूर्य्यचन्द्रादि-पृथिवीजलादि महाभूत ही भौतिक विवर्त हैं ये ही महाभूत हैं। इन पाँचों पञ्च महाभूतों–स्थूलभूतों के मूल ही पांच भूत हैं, ये ही विज्ञानभाषा के स्वयम्भू आदि पञ्च पुर हैं। भूतों के मूल रेणुभूत हैं ये ही पुरञ्जन हैं। रेणुभूतों के मूल अणुभूत हैं ये ही पञ्चजन हैं। अणुभूतों के मूल गुणभूत हैं, ये ही विश्वसृट् हैं, एवं यहाँ दर्शन की सीमा समाप्त है। क्योंकि दर्शनशास्त्र स्थूलभूत से उपक्रान्त होकर गुणभूतात्मक अन्तिम सूक्ष्मभूत पर ही विश्रान्त है। विश्वसृट् का मूल अपराप्रकृतिरूप आत्मक्षर है, आत्मक्षर का मूल पराप्रकृतिरूप अक्षर है, सर्वमूल

मनोमय काममूर्त्ति मायापेन्द्ररूप अश्वत्थबीजात्मक यही मायी अव्ययपुरुष है, जिसके लिए-'ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्' यह कहा गया है। इसी बीज का यह विस्तार है, उपबृंहण है, जिसे 'ब्रह्मविस्तार' कहा गया है। कहने सुनने के लिए इस विस्तार का उल्लेख-मात्र है। वैसे तत्त्वतः अनन्त के इस अनन्त विस्तार को अद्धा-स्पष्ट-प्रकट-रूप से आइतक कौन जान सका है!।

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्
योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्-सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद

सचमुच ऐसा प्रतीत होने लगा है कि अब इस शुष्क-तत्त्वचर्चा से आप लोग क्षुब्ध हो पड़े हैं। तो लीजिए! केवल एक मन्त्र का सस्मरण कर इस सर्वथा रूक्षा, किन्तु अमृत-परिणामा तत्त्वचर्चा को उपरत करते हुए प्रतिज्ञाता अश्वत्थविद्या को प्रणाम समर्पित कर लीजिए। बतलाया गया है कि परमात्मापस्त आपोमय पारमेष्ठ्य महान् ही अव्ययाश्वत्थ की गर्भभूमि है, जैसा कि-'मम योनिर्महद् ब्रह्म०' इत्यादि से स्पष्ट है। ब्रह्मणस्पति नामक पारमेष्ठ्य पवित्र सोम ही 'महान्' की स्वरूपव्याख्या है। 'महत्तत् सोमो महिषश्चकार' इत्यादि ऋक्श्रुति महान् सोम की इसी महत्ता का यशोगान कर रही है। सम्पूर्ण ओषधियाँ सोमप्रधान ही मानी गई हैं, विशेषतः सौम्या उत्तरदिशा की ओषधियाँ। अतएव सोममय चन्द्रमा को-'ओषधीनां पतिः' कहा गया है। अथर्वसोममय परमेष्ठी-मण्डल का ओषधि-सोमात्मक यह महान ही अश्वत्थबीज को पञ्चविस्ताररूप में परिणत करता है-अपने आकृति-प्रकृत्यादि पञ्चभावों से। यह स्वयं आश्रित है गर्भ में प्रतिष्ठित केन्द्रावच्छिन्न काममय-मनोमूर्त्ति अव्ययाश्वत्थ में। अश्वत्थविद्यामूलक इसी रहस्य को लक्ष्य बना कर ऋषि ने कहा है इस ओषधिरूप महान् के लिए—

> अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता।
> गोभाज इत् किलासथ यत्सनवथ पूरुषम्॥

— ऋक्संहिता १०।९७।५।

आपोमय परमेष्ठीमण्डल अश्वत्थविद्या की दृष्टि से 'विष्णु' अक्षर से सम्बद्ध है। यही सोममय महान् प्रतिष्ठित है। यही अश्वत्थविस्तार का प्रवर्त्तक है।

सकता है कहा गया है। निदानविद्यात्मक पुराणशास्त्र ने सौम्यप्राण-प्रधान, अतएव विष्णुप्राण-प्रधान सुप्रसिद्ध अश्वत्थवृक्ष को, पीपल के पेड़ का स्वरूप बना कर ही अपनी आख्यानमाला में–आलङ्कारिकभाषा में–वेदशास्त्र की अश्वत्थ-विद्या का विस्तार किया है। सचमुच वृक्षों में अश्वत्थवृक्ष सौम्यप्राणप्रधान बनता हुआ चान्द्रमस सोममय मन का संग्राहक बन मनःस्वरूप का संरक्षक बना हुआ है। अवश्य ही पीपल के पेड़ का स्पर्श द्वारा, आराधन-आदि हमारे सोममय हृदयस्थ सोममय मन की शक्ति के ही वर्द्धक हैं, साथ ही अध्यात्मभावना के द्वारा अश्वत्थोपासना के भी केन्द्र। जो निरन्तर अश्वत्थवृक्ष का आश्रय लिए रहते हैं, अवश्य ही उन्हें सोमक्षयात्मक राजयक्ष्मा कदापि नहीं हो सकता। हम यत सम्मिलितरूप से प्रणतभाव से प्रणामाञ्जलि समर्पित कर रहे हैं आधिदैविक अश्वत्थ की सगुणप्रतिमारूप इस विष्णुप्रधान अश्वत्थवृक्ष के प्रति इस रूप से कि—

> मूलतो ब्रह्मरूपाय मध्यतो विष्णुरूपिणे ।
> अग्रतः शिवरूपाय अश्वत्थाय नमो नमः ॥
>
> —पुराण

स्वयम्भू ब्रह्मा मूल में है परमेष्ठी विष्णु मध्य में हैं, पारमेष्ठ्य समुद्रगर्भ में प्रतिष्ठित, अतएव आपोमय साम्बसदाशिव सूर्यनारायण अग्रस्थित हैं। यही तो है आधिदैविक अश्वत्थ का स्वरूप। यही तो निदानरूप से उपास्य बना हुआ है इस सौम्य अश्वत्थवृक्ष के माध्यम से।

उपरता चात्र–अश्वत्थविद्या–रहस्यपूर्त्ता

———•———

श्री

वेदशास्त्र के साथ पुराणशास्त्र का समन्वय
[रासपञ्चाध्यायी के तात्त्विक-स्वरूप के माध्यम से]

आत्मबुद्धिसम्मता तत्त्वचर्चा से अवश्य ही हमनें आप लोगों के मनोभावों की उपेक्षा की है, जिसके लिए हम क्षमाप्रार्थी हैं। हम नहीं चाहते कि, आप को इसप्रकार तत्त्वचर्चा के रूक्ष वातावरण से समन्वित कर लौट जायें। अतएव दो शब्दों में मनोविनोदात्मक वर्त्तमानयुग के सांस्कृतिक-आयोजन का समादर करते हुए अन्त में कुछ एक मनोविनोद के प्रसङ्ग उपस्थित कर दिए जाते हैं। भारतीय दृष्टिकोण से मनोविनोद की परिभाषा भी अपना कुछ विशेष महत्त्व रखती है। जिस मनोविनोद में मानसिक विकास के साथ साथ गोविन्दरस-प्रमोदमधुरा-माधुरी निष्प्रतिरिक्त रहती है वही माधुरी माधुरी है, वही विनोद विनोद है। जैसे कि अभ्याम-अधिभूत-दोनों का स्वरूप-संरक्षण करने वाली चातुरी ही यहाँ चातुरी मानी गई है विगतघना पूर्णचन्द्रा यामिनी ही यहाँ यामिनी मानी गई है, एवं सौन्दर्य्यगुणान्विता पतिप्रेमरता कामिनी ही यहाँ कामिनी मानी गई है। कवि के ही शब्दों में सुनिए भारतीय मनोविनोद की यह परिभाषा—

> या राका शशिशोभना, गतघना, सा यामिनी यामिनी।
> या सौन्दर्य्यगुणान्विता पतिरता, सा कामिनी कामिनी॥
> या गोविन्दरसप्रमोदमधुरा, सा माधुरी माधुरी।
> या लोकद्वयसाधिनी तनुभृतां, सा चातुरी चातुरी॥
>
> —कविसूक्तिः

[जिस रात्रि में पूर्ण चन्द्र विकसित है, पूर्ण चन्द्र की निर्म्मला-शुभ्रा-ज्योत्स्ना-चन्द्रिका से जो रात्रि पूर्णरूप से ज्योतिर्म्मयी प्रकाशमयी बनी रहती है, साथ ही जिस रात्रि में चान्द्र-आकाश मेघखण्डों से असंस्पृष्ट रहता हुआ सर्वथा स्वच्छ-निर्म्मल है, ऐसी मेघशून्या-पूर्ण-चन्द्रप्रकाशसमन्विता ज्योतिर्म्मयी रात्रि ही 'रात्रि' है। अग्निदेव की

माधी में मम्मन परिलीना जो कामिनी, 'रति' गुणापता जो भाग्य-नारी शारीरिक सौ-दर्यस्प रूप गे, तथा मानसिक माल्दम्यरूप गुणों मे समन्वित रहना हुई पति के प्रति श्रद्धा-वात्मल्य-स्नेह-प्रेम-समन्वयात्मिका 'दाम्पत्यरति' से नित्य युता है, वह कामिनी वास्तव में 'कामिनी' है। मानसिक-प्रेमभावापन्ना जो माधुरी भगवान् वासुदेव कृष्ण के प्रति 'आत्मरति'-लक्षणा भगवद्भक्ति से समन्विता है वही माधुरी वास्तविक 'माधुरी' है। एवं जिस चतुरता के माध्यम से शरीरधारी मानव अपनी आन्त-बुद्धिनिशम्पना माया ममता से, तथा धम्मा चरणों से आध्यात्मिकी-पारलौकिकी-निःश्रेयस्-सम्पत्तिरूपा चातुरी से समन्वित है, मन-शार रनिम धन धाम, तथा अर्थो से आधिर्मौतिकी-ऐहलौकिकी अभ्युदय-सम्पत्तिरूपा चातुरी से समन्वित है, उभयलोकसम्पत्-संसाधिका ऐसी चातुरी ही भारतीय परिभाषा में 'चातुरी' है।]

आज ही वक्तव्य के आरम्भ में हमसे किसी ने यह प्रश्न किया था कि, 'आज किसकी कथा होगी?'। हमनें सहजरूप से यही उत्तर दे दिया था कि,-'आज पीपल के पेड़ की कथा होगी'। इस 'कथा प्रश्न से हमनें यह अनुमान किया कि, सचमुच इस देश में तत्त्वप्रचार का एकमात्र माध्यम तो पौराणिकी कथा ही है। जो एकान्तनिष्ठ बन कर वेदशास्त्र के दुर्बोध्य तत्त्वचिन्तन के लिए समय नहीं निकाल सकते उनकी आस्था-श्रद्धा के संरक्षण के लिए तो पुराणकथा से अति-रिक्त और कोई दूसरा उपमार्ग है ही नहीं। सामूहिक प्रचार के लिए पुराणकथा ही अनन्य पथ माना है यहाँ की प्रतिमशाने। इतिहास साक्षी है कि, कभी इस देश में वेदशास्त्र की कथा जनसमाज की अनुगामिनी नहीं बनी। अपितु यह तो एकान्तनिष्ठापूर्वक स्वाध्याय, तथा अन्तेवासी-परम्परा से अध्ययनाध्यापन का ही केन्द्र बनी रही। नैमिषारण्य में ८०-६ हजार महर्षियों के सम्मुख पुराणपुरुष भगवान् व्यास के पौराणिक शिष्य पुराणशास्त्रमर्मज्ञ महाभाग सूत के तथा कथामृतरसास्वादकुशल महाभाग्यशाली 'शौनक' के सम्वादरूप से पुराणकथाएँ ही प्रक्रान्त रहीं हैं इस देश में। इसीलिए वेदयुग से अर्वाचीनकाल के भारतीय संस्कृति के एकमात्र संरक्षितसमुद्धारक भगवान् बादरायण वेदपुरुष न कहला कर

'पुराणपुरुष' ही कहलाएँ हैं। वेदशास्त्र की तात्त्विक परिभाषाओं की विलुप्ति से जैसे वेदशास्त्र आज हमारे लिए एक–'अगम्य' मात्र बना रह गया है, एवमेव वैदिक परिभाषाओं का ही अक्षरशः अनुगमन करने वाली पुराणपरिभाषाओं के विलुप्तप्राय हो जाने से यह शास्त्र भी आज दुर्भाग्यवश उपहास का ही लक्ष्य बन रहा है। जो महानुभाव अपनी वेदभक्ति के आवेश में आकर आर्य्यसर्वस्वात्मक इस पुराणशास्त्र को 'निरी गप्प' मानने–मनवाने के महत्पातक से अपने आपको प्रायश्चित्त का भागी बनाते जारहे हैं, उन्हें सम्भवत यह विदित न होगा कि, पुराण के जिन रहस्यपूर्ण आख्यानों को वे गप्प मान रहे हैं उन सब आख्यानों का मूल स्वयं वेदशास्त्र में ज्यों का त्यों सुरक्षित है। फलत पुराण की निन्दा परम्परया स्वय वेदशास्त्र की ही निन्दा बन रही है। अस्तु आज के इस मनो-विनोदात्मक पावन प्रसङ्ग में इस उद्देगकर प्रसङ्ग को हमें अधिक तूलरूप नहीं देना है। आज तो एक कथाप्रसङ्ग ही संक्षेप मे भावुक हृदयों के सम्मुख उपस्थित करते हुए हमें अपनी लोकानुगता कथा–भावुकता का परिचय दे देना है। इमी कथाप्रसङ्ग से वेदशास्त्र के साथ पुराणशास्त्र का सर्वात्मना समन्वय प्रमाणित हो जायगा, ऐसी श्रद्धापूर्ण आस्था है इस भावुक की।

अश्वत्थविद्या के प्रसङ्ग में कौनसी पौराणिकी कथा अनुरूप रहेगी ? यह प्रश्न हमारे सम्मुख उपस्थित है। एक ओर मनोविनोद का प्रश्न है, तो दूसरी ओर अश्वत्थविद्या उपस्थित है। तो तीसरी ओर नृत्यगीतवाद्यादि से समाकुलित आज के युग के महारम्भ सांस्कृतिक आयोजनों से सम्बन्ध रखने वाले युगधर्म्मानुगत मनोविनोद की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। क्या कोई ऐसा कथानक है पुराणशास्त्र में, जिसके द्वारा इन तीनों ही मार्गों का संग्रह सम्भव बन सके ?। अवश्य है। क्योंकि वेदशास्त्रवत् पुराणशास्त्र भी सनातन साहित्य है शाश्वत साहित्य है। जिस प्रकार वेदशास्त्र के सनातन तत्त्व सदा के लिए मानव को सनातन सत्य की शिक्षा प्रदान करने में समर्थ हैं, एवमेव तद्नुबन्धरूप पुराणशास्त्र भी कालसीमा से विनिर्म्मुक्त रहता हुआ सनातनशास्त्र ही है, जिसकी त्रैकालिकी उपयोगिता के सम्बन्ध में यहाँ के त्रिकित्स्वान् प्रज्ञाशील आस्तिक मानव को तो न कभी सन्देह हुआ, एवं न भविष्य में होगा। क्योंकि–'संशयात्मा विनश्यति' का जैसा मर्म्म इस देश की आस्तिक प्रज्ञा ने समझा है, वैसा अन्यत्र अनुपलब्ध है।

समझे, और बिना समझे, संसार के विविध उत्पीड़नों को सहते हुए भी यहाँ की आर्यप्रजा निष्ठापूर्वक इस पुराणशास्त्र के द्वारा आज तक अपनी भावुकता का

संरक्षण किए हुए है, वही ही रहेगी मानवचन्द्रिकाएंगे। हाँ, तो जिसमें मानमय महान् से सम्पन्न मगन भाव से अवगाहनाय की भावना का भी समावेश हो, भारतीय परिमाणामगमत हित मनोविनोद भी हो, और भाव के नृत्य-गीतादि की भावना भी जिसमें सन्निहित हो ऐसा पौराणिक कथानक माना जायगा-श्रीमद् भागवत का 'रासक्रीडाकथानक', जिसके मूल-सूत्रधार हैं-सौम्य-सम्भवास्वरूप के पूर्णावतार भगवान् श्री भगवान् कृष्ण, रसपूर्णतम मनोविनोद है जिसका वैसा मूल लक्ष्य, जिस विनोद-विनाद-में ही मनोज-कामदेव का दर्पदलन हो रहा है। एवं गोपीगीत-रासचक्रमणादि से सम्बन्ध रखने वाले गीतगाथादि-वंशीवादनादि भी समाविष्ट ही हैं इस महान् कथानक में। तो लीजिए-आस्था-श्रद्धा-परिपूर्ण मनोभावों से बुद्धिपूर्वक इन माङ्गलिक संस्मरणों के साथ रासक्रीडा-कथानक की रूपरेखा को लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए।

श्री

(क) माङ्गलिक-संस्मरण

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्—
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः ॥
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गो मृषा—
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ॥१॥

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां—
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम् ॥
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किंवा परैरीश्वरः—
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् ॥२॥

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं—
शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ॥
पिबत भागवतं रसमालय—
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥३॥

यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्य-
द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव ॥
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदु-
स्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि ॥४॥
यः स्वानुभावमखिलश्रुतिसारमेक-
मध्यात्मदीपमतितितीर्षतां तमोऽन्धम् ॥
संसारिणां करुणयाऽऽह पुराणगुह्य-
तं व्यासस्नुमुपयामि गुरुं मुनीनाम् ॥५॥
या यां शक्तिमुपाश्रित्य पुरुशक्तिः-परः पुमान् ॥
आत्मानं क्रीडयन् क्रीडन् करोति विकरोति च ॥६॥
नूनं भगवतो ब्रह्मन् हरेरद्भुतकर्मणः ॥
दुर्विभाव्यमिवाभाति कविभिश्चापि चेष्टितम् ॥७॥
यथा गुणांस्तु प्रकृतेर्युगपत् क्रमशोऽपि वा ॥
बिभर्ति भूरिशस्त्वेकः कुर्वन् कर्माणि जन्मभि ॥८॥
विचिकित्सितमेतन्मे ब्रवीतु भगवान् यथा ॥
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परस्मिंश्च भवान् खलु ॥९॥

सूत उवाच

इत्युपामन्त्रितो राज्ञा गुणानुकथने हरेः ॥
हृषीकेशमनुस्मृत्य प्रतिवक्तुं प्रचक्रमे ॥१०॥

श्रीशुक उवाच

नमः परस्मै पुरुषाय भूयसे-
सदुद्भवस्थाननिरोधलीलया ॥
गृहीतशक्तित्रितयाय देहिना-
मन्तर्भवायानुपलक्ष्य वर्त्मने ॥११॥

भूयो नमः सद्वृजिनच्छिदेऽसता-
मसम्भवायाखिलसत्त्वमूर्तये ॥
पुंसां पुनः पारमहंस्य आश्रमे-
ष्ववस्थितानामनुमृग्यदाशुषे ॥१२॥

नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां-
विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम् ॥
निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा-
स्व धामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः ॥१३॥

यत्कीर्तन-यत्स्मरण-यदीक्षण-
यद्वन्दन-यच्छ्रवण-यदर्हणम् ॥
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं-
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥१४॥

विचक्षणा यच्चरणोपसादनात्-
सङ्गं व्युदस्योभयतोऽन्तरात्मनः ॥
विन्दन्ति हि ब्रह्मगतिं गतक्लमा-
स्तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥१५॥

तपस्विनो दानपरा यशस्विनो-
मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः ॥
क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं-
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥१६॥

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा-
आभीरकङ्का यवनाः खसादयः ॥
येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः-
शुध्यन्ति, तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥१७॥

स एष आत्माऽऽत्मवतामधीश्वर-
स्त्रयीमयो धर्ममयस्तपोमय ॥
गतव्यलीकैरजशङ्करादिभि-
र्वितर्क्यलिङ्गो भगवान् प्रसीदताम् ॥१८॥

श्रिय पतिर्यज्ञपति प्रजापति-
र्धियां पतिर्लोकपतिर्धरापति ॥
पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्वतां-
प्रसीदतां मे भगवान् सतां पति ॥१९॥

यदङ्घ्र्यभिध्यानसमाधिधौतया-
धियानुपश्यन्ति हि तत्त्वमात्मन ॥
वदन्ति चैतत्कवयो यथारुच-
स मे मुकुन्दो भगवान् प्रसीदताम् ॥२०॥

प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती-
वितन्वताजस्य सतीं स्मृतिं हृदि ॥
स्वलक्षणा प्रादुरभूत्-किलास्यत -
स मे ऋषीणामृषभ प्रसीदताम् ॥२१॥

भूतैर्महद्भिर्य इमा पुरो विभु-
निर्माय शेते यदमूषु पूरुष ॥
भुङ्क्ते गुणान् षोडश-षोडशात्मक -
सोऽलङ्कृषीष्ट भगवान् वचांसि मे ॥२२॥

नमस्तस्मै भगवते वासुदेवाय वेधसे ॥
पपुर्ज्ञानमयं सौम्या यन्मुखाम्बुरुहासवम् ॥२३॥

एतदेवात्मभू राजन् ! नारदाय विपृच्छते ॥
वेदगर्भोऽभ्यधात् साक्षात् यदाह हरिरात्मन ॥२४॥

भूयो नम सद्गुणिजिनच्छिदङ्मता-
ममम्भवायागिलमत्नमूर्तये ॥
पुमा पुन पारमहस्य आश्रमे-
व्यवस्थितानामनुमृग्यदाशुष ॥१२॥

नमो नमस्तेऽस्त्वुपमाप मान्वतां-
निदूरकाष्ठाय मुहु कुयोगिनाम् ॥
निरस्तसाम्यातिशयेन राधमा-
स्व धामनि ब्रह्मणि रस्यते नमः ॥१३॥

यत्कीर्तन-यत्स्मरण-यदीक्षण-
यद्वन्दनं-यच्छ्रवण-यदर्हणम् ॥
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं-
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥१४॥

विचक्षणा यच्चरणोपसादनात्-
सङ्ग व्युदस्योभयतोऽन्तरात्मन ॥
विदन्ति हि ब्रह्मगति गतक्लमा-
स्तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नम ॥१५॥

तपस्विनो दानपरा यशस्विनो-
मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गला ॥
क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं-
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥१६॥

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा-
आभीरकङ्का यवना खसादयः ॥
येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः-
शुध्यन्ति, तस्मै प्रभविष्णवे नम ॥१७॥

स एष आत्माऽऽत्मवतामधीश्वर-
स्त्रयीमयो धर्ममयस्तपोमय ॥
गतव्यलीकैरजशङ्करादिभि-
र्वितर्क्यलिङ्गो भगवान् प्रसीदताम् ॥१८॥

श्रिय पतिर्यज्ञपति प्रजापति-
र्धियां पतिर्लोकपतिर्धरापति ॥
पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्वता-
प्रसीदतां मे भगवान् सतां पति ॥१९॥

यदङ्घ्र्यभिध्यानसमाधिधौतया-
धियानुपश्यन्ति हि तत्त्वमात्मन ॥
वदन्ति चैतत्कवयो यथारुच-
स मे मुकुन्दो भगवान् प्रसीदताम् ॥२०॥

प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती-
वितन्वताजस्य सतीं स्मृतिं हृदि ॥
स्वलक्षणा प्रादुरभूत्-किलास्यत -
स मे ऋषीणामृषभ प्रसीदताम् ॥२१॥

भूतैर्महद्भिर्य इमा पुरो विभु-
र्निर्माय शेते यदमूषु पूरुष ॥
भुङ्क्ते गुणान् षोडश-षोडशात्मकः-
सोऽलङ्कृषीष्ट भगवान् वचांसि मे ॥२२॥
नमस्तस्मै भगवते वासुदेवाय वेधसे ॥
पपुर्ज्ञानमयं सौम्या यन्मुखाम्बुरुहासवम् ॥२३॥
एतदेवात्मभू राजन् ! नारदाय विपृच्छते ॥
वेदगर्भोऽभ्यधात् साक्षात् यदाह हरिरात्मनः ॥२४॥

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय-
गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय ॥
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणु-
लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय ॥२५॥

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य-
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि ॥
नेशे महित्ववसितु मनसाऽऽन्तरेण-
साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः ॥२६॥

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव-
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम् ॥
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम् ॥२७॥

क्वाहं तमोमहदहं खचराग्निवार्भू-
संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकाय ॥
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्या-
वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम् ॥२८॥

अहोऽतिधन्या व्रजगोरमण्यः—
स्तन्यामृतं पीतमतीव ते मुदा ॥
यासां विभो वत्सतरात्मजात्मना—
यत्तृप्तयेऽद्यापि न चालमध्वरा ॥२६॥

श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्ह-
धातुप्रवालनटवेशमनुव्रतांसे ॥
तमितरेण धुनानमब्जं-

॥३०॥

भाय श्रुतप्रियतमोदयकर्णपूरै-
यस्मिन् निमग्नमनसस्तमथाक्षिरन्ध्रै ॥
अन्त प्रवेश्य सुचिर परिरम्य तापं-
प्राज्ञ यथाभिमतयो विजहुर्नरेन्द्र ! ॥३१॥

आसामहो चरणरेणुजुपामह स्या-
वृन्दावने किमपि गुल्म-लतौपधीनाम् ॥
या दुस्त्यज स्वजनमार्य्यपथं च हित्वा-
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥३२॥

यो यज्ञो दिवि परमेष्ठि-गोसवात्मा-
विज्ञान सद्युपदिदेश गीतया य ॥
आनन्द जनयतु विश्वतो ममाय-
गोविन्द स हि मयि सन्निधानमेतु ॥३३॥

अहो बकीयं स्तनकालकूट-
जिघांसया पाययदप्यसाध्वी ॥
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं-
कं वा दयालु शरणं व्रजेत ॥३४॥

अखाविजयसरूढ-दर्पकन्दर्पदर्पहा ॥
जयति श्रीपतिर्गोपी-रासमण्डलमण्डनः ॥३५॥

—❀—

[यो वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन्-
योगेश्वरोतीर्भवतास्त्रिलोक्याम् ॥
क वा, कथ वा, कति वा, कदेति-
विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम् ॥३६॥

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय-
गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय ॥
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणु-
लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय ॥२५॥

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य-
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि ॥
नेशे महि त्ववसितुं मनसाऽऽन्तरेण-
साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूते ॥२६॥

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव-
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम् ॥
स्थाने स्थिता श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम् ॥२७॥

क्वाहं तमोमहदहं खचराग्निवार्भू-
संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकाय ॥
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्या-
वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम् ॥२८॥

अहोऽतिधन्या व्रजगोरमण्य—
स्तन्यामृतं पीतमतीव ते मुदा ॥
यासां विभो वत्सतरात्मजात्मना—
यत्तृप्तयेऽद्यापि न चालमध्वरा ॥२९॥

श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्ह-
धातुप्रवालनटवेषमनुव्रतांसे ॥
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं-
कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम् ॥३०॥

'पुराणपुन्द' नाम से प्रसिद्ध भगवान व्यास देव की सुप्रसिद्धा 'पुराणसंहिता' नाम की पाँचवीं संहिता के आधार पर महाभाग परम भागवत महर्षि सूत के द्वारा उपबृंहित 'श्रीमद्भागवत' में ईर्ष्या-कपट-छल-माया-अतिमान-दम्भ-मद-मान-मात्सर्य्य-आसक्ति अभिनिवेश अस्मिता आदि आदि दोषों से सर्वथा रहित सश्रिष्ठ भावुक मानवश्रेष्ठों के फलकामासक्ति विरहित निष्कामकर्म्मयोगात्मक 'बुद्धियोग' का एवं तदाधारभूत ईश्वराव्ययानुगत शाश्वत आर्ष धर्म्म (सनातनधर्म्म) का तथा आध्यात्मिक आधिदैविक-आधिभौतिक-भेद से त्रिधा विभक्त लौकिक तापों को उन्मूलित कर डालने वाले 'गूढोत्मा' नामक सुगुप्त वास्तविक सर्वरूप वासुदेवरूप-अव्यय-कृष्ण का ही स्वरूप-वर्णन हुआ है (कथाव्याज से)। इत्थंभूता इस भागवती कथा को सुनने की इच्छा रखने वाले महद्भाग्यशाली मानव श्रेष्ठ सहजसिद्धा आस्थान्विता श्रद्धा के अनुग्रह से अपने अन्तर्हृदय में निरवयेन ईश्वराव्यय को अविलम्ब प्रतिष्ठित कर लेते हैं। ऐसे भागवतपरायण मानवों को अपने अभ्युदय-नि-श्रेयस् के लिए किसी भी अन्य साधन-परिग्रह की कोई भी आवश्यकता नहीं है ॥२॥

गोविन्दरसप्रमोदमाधुरी-लक्षणा भाक्तरूपा भावुकता से समन्वित रहने वाले हे भावुक-श्रेष्ठमानवो! वेदशास्त्र-रूप कल्पवृक्ष के अमृतरस से परिपूर्ण-परिपक्व-इस भागवत-तत्त्वरूप सुस्वादु फल के रस का आप यावज्जीवन पान करते रहें, जो कि फल महामुनि 'शुक' के मुख से भावुक-भक्त-प्रजा के लिए (स्वर्गलोकात्मक दिव्यधाम से) टूट कर धरातल पर आ गिरा है। जिस प्रकार शुक (तोते) की चञ्चु से भूपृष्ठ पर गिरा हुआ पका फल अत्यन्त ही सुस्वादु माना गया है एवमेव शुकमुनि के मुखपङ्कज के स्पर्श से वेदशास्त्र का सारभूत यह भागवतकथा' रूप फल अत्यन्त ही सुमधुर-तृप्ति-तुष्टि-पर बन गया है, यही व्यञ्जना है ॥ ३ ॥

काम्यकर्म्मयोग-सकामभक्तियोग-आदि आदि यथयावत कामनाप्रधान लौकिक-वैदिक-कर्म्मों का परित्याग कर शुद्ध बुद्धिनिष्ठात्मिका अध्यात्म

प्रह्लाद नारद-पराशर-पुण्डरीक-व्यासा-
ऽम्बरीष-शुक-शौनक-भीष्म-दाल्भ्यान् ॥
रुक्मा-ङ्गदा-र्जु न-वशिष्ठ-विभीषणादीन-
पुण्यानिमान् परमभागवतान्भजोऽस्मि ॥३७॥]

ये दोनों श्लोक टेपरेकार्ड में समाविष्ट नहीं हो सके हैं।

——✾——

(क) पाठकों की तुष्टि के लिये माङ्गलिक-सम्मरणों का अथरार्थ यहाँ टिप्पणी के रूप में उद्धृत हो रहा है, जिसका टेपरकार्ड से सम्बन्ध नहीं है।

अन्वय, एवं व्यतिरेक की दृष्टि से-उभयथा जो तत्त्व सर्वथा व्यापक है, निःसीम है, अत्यन्तपिनद्ध है, मायातीत बनता हुआ 'विश्वातीत-परात्पर' है, जिसकी रसनिमग्नघना सत्ता से ही विश्वपदार्थ सद्रूप बने हुए हैं, जिसे अभिष्ठान-आधार-बनाए बिना किसी भी भूत-भौतिक पदार्थ का अस्तित्व सम्भव ही नहीं है, जिस इत्थंभूत अनाद्यनन्त ब्रह्म से ही-'जन्माद्यस्य यत' (वेदान्तसूत्र) इस वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति-स्थिति-एवं लय व्यवस्थित हैं, जो अपनी चिच्छक्ति से सर्वज्ञ बना हुआ है, जो अपनी स्वज्योति से स्वतः प्रकाशमान है, जिसके स्वरूप-निरूपण में तत्त्वज्ञ विद्वान् भी कुण्ठित मोहित हो रहे हैं,जो परोरजा स्वयम्भू ब्रह्मा के वेदात्मक हृदय में विश्वरूप से वितत हुआ है जिसकी गुणमयी अक्षरप्रकृति के सुप्रसिद्ध तेज-अप् अन्न नामक तेज-जल-मृत्-भावों के त्रिवृत्करण से असद्भावों के ग्रन्थिबन्धन-तारतम्य से त्रिगुणा विश्वप्रकृति (परमप्रकृति) का विस्तार हुआ है, जिसके शुद्ध-स्वच्छ-प्रचण्ड-प्रकाश से अज्ञाना धकार क्षणमात्र में पलायित हो जाता है, ऐसे सत-चित्-आनन्द-घन-परमब्रह्मरूप 'सत्य' का ही (इस रासक्रीडाकथानक के उपक्रम में) हम संस्मरण कर कर रहे हैं ॥१॥

राजा परीक्षित की एवंविधा जिज्ञासा का स्पष्टीकरण कर सूत कहते हैं– भगवत्स्वरूप-परिज्ञान-जिज्ञासा के अभिव्यक्त करने पर महामुनि शुकदेव अपने हृदयाकाश में अव्ययेश्वर का सस्मरण करते हुए कहने लगे राजा परीक्षित से इस प्रकार कि ॥१०॥

जो अव्ययेश्वर भगवान् विश्व की उत्पत्ति–संरक्षण–एवं विलयन के लिए अपनी 'अक्षर' नाम की पराप्रकृति से समन्विता बहुसरात्मिका महत्प्रकृति (पारमेष्ठ्य-प्रकृति) को सौर–चान्द्र–पार्थिव दर्शपूर्णमासात्मक परिभ्रमण से क्रमश अहङ्कृतिमूलक सत्त्व प्रकृतिमूलक रज, तथा आकृतिमूलक-तम–इन तीन प्राकृतिक गुणों में परिणत कर, तद्द्वारा ही सत्त्वानुगत ब्रह्मभाव (ब्रह्मा), रजोऽनुगत विष्णुभाव, एवं तमोऽनुगत रुद्रभाव में परिणत हो रहे हैं इस त्रिदेवता-माध्यम से ही जो अव्ययेश्वर आगतिलक्षण 'हृ' रूप विष्णु गतिलक्षण 'द' रूप इन्द्र, एवं स्थिति-लक्षण 'यम्' रूप ब्रह्मा–रूप से हृदयरूप में परिणत होते हुए सम्पूर्ण चर–अचर–भूतों में 'अन्तर्य्यामी' रूप से प्रतिष्ठित हैं, ऐसे हृदयरूप, अतएव अलक्ष्यगति (अनिर्वचनीयगति) रूप परमपुरुष को हम बारम्बार नमस्कार कर रहे हैं ॥११॥

पुन हम उस परमपुरुष 'अव्यय' (नामक अनुपास्य) कृष्ण को नमस्कार कर रहे हैं, जो सुकर्म्मा (शास्त्रकर्त्तव्यनिष्ठ) श्रेष्ठ सामानवों के भवबन्धनों को क्षणमात्र में काट फेंकते हैं एवं दुष्कर्म्मा (शास्त्र-विरुद्ध असत्कर्म्मासक्त) निकृष्ट-दुष्ट-असमानवाधर्मों के लिए अभ्युदय का मार्ग सदा के लिए अवरुद्ध कर देते हैं, तथा योगपथ के पथिक चतुर्थ आश्रम ('परमहंस' नामक संन्यासाश्रम) में निष्ठ द्विजाति-ब्राह्मण को स्वब्रह्मज्ञान-प्रकाश समर्पित कर देते हैं ॥१२॥

जो परमपुरुष षोडशीप्रजापति–अव्ययेश्वर समर्पणभावनिष्ठ आश्रित नैष्ठिक भक्तों का सदा संरक्षण करते रहते हैं जो असन्मार्गानुगामी प्रत्यक्षवादी शून्य-क्षणिक-दुःखवाद-चार्वाकादि नास्तिक कुमानवों की स्थूलदृष्टि से सदा परोक्ष बने रहते हैं 'यस्मात्पर नापरमस्ति किञ्चित्–यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्' इत्यादि श्रौत

निद्रा से ममन्वित वन की ओर स्वच्छन्दरूप से गमन करते हुए जिन बालरूप महामुनि शुकदेव महाभाग के पीछे पीछे पुत्रविरहातुर से आर्त बनते हुए महर्षि द्वैपायन व्यासदेव अनुधावन करने लग पड़े थे, इस आत्यन्तिक तन्मयता के कारण जिनकी ओर से मानो वृक्ष भी मानो स्वयं-'हे पुत्र तुम कहाँ चल-कहाँ चल !' रूप से व्यासदेव के प्रति सहानुभूति व्यक्त करने लग पड़े थे, वैसे सर्वभूतात्मस्वरूप मुनीश्वर को इस कथारम्भ में हम श्रद्धापूर्वक प्रणामाञ्जलि समर्पित कर रहे हैं ॥ ४ ॥

हम उन महामुनि शुकदेव के प्रति पुनः पुनः नमन कर रहे हैं, जिन्होंने अज्ञानान्धकार का सन्तरण करने वाले मुमुक्षु संसारियों के लिए अनुग्रहदृष्ट्या निगूढ अध्यात्मतत्त्व के स्वरूप-विश्लेषक, अनुपमेय प्रभावपूर्ण सम्पूर्ण वेदशास्त्र के सारभूत, अतएव अप्रतिम, तथा सम्पूर्ण पुराणों के समतुलन में अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण इस 'श्रीमद्भागवत' तत्त्व का आविर्भाव किया है। ऐसे व्यासपुत्र, मुनिगणगुरु श्रीशुक मुनि के प्रति ही हम आत्मसमर्पण कर रहे हैं ॥ ५ ॥

राजा परीक्षित श्रीशुकदेव से प्रश्न कर रहे हैं कि, हे महामुने ! सर्वशक्तिघन परमपुरुषोत्तम अव्ययेश्वर भगवान् अपनी साहजी-लक्षणा विभूति में ही क्रीडा करते हुए जिस परा (अक्षर)-अपरा (क्षर) शक्ति के माध्यम से विश्व की उत्पत्ति-स्थिति-एवं लय के आलम्बन बना करते हैं अनुग्रह कर यही रहस्य बतलाने की कृपा करें ! ॥ ६ ॥

हे ब्रह्मन् ! सचमुच लोकलीलापरायण विश्वेश्वर अव्ययेश्वर भगवान् की लोकलीलाओं का सुपरिहस्यों का यथावत् समन्वय कर लेना प्रज्ञाशील विद्वानों के लिए भी दुर्बोध्य ही माना गया है ॥ ७ ॥

हे भगवन् ! कृपा कर आप मेरी इन जिज्ञासाओं का समाधान करने का अनुग्रह कीजिए। क्योंकि आप शब्दब्रह्म, एवं इससे अभिन्न परब्रह्म दोनों के आत्यन्तिक-लक्षण तादात्म्य रहस्य को भलीभाँति जान रहे हैं। अतएव आप ही अपने शब्दब्रह्मोपदेश के द्वारा उस परमब्रह्मतत्त्व का सम्यक् समाधान करने की क्षमता रखते हैं ॥८॥

ते। अर्थात् आत्मबुद्धया ही मानव इन साधन-पथा से जीवन की कृत-कृत्यता प्राप्त कर सकता है। इसप्रकार अपने अर्पणमात्र से इन साधनों को कृतकृत्य बनाने वाले पुण्यकीर्त्ति अव्ययेश्वर भगवान् को हम पुन पुन नमस्कार कर रहे हैं ॥१८॥

अनार्य्यप्रान्त-निवासी किरात-हूण-आन्ध्र-पुलिन्द-पुल्कस आभीर-कङ्क-यवन-[असुरजातिविशेष]-खस-दरद-पल्लव-शक-आदि आदि पापकर्म्मा मलीमस-यानी भी भगवद्भक्तों के समाश्रय-सान्निध्य से जिस ईश्वरभावना के द्वारा कालान्तर में शुचिभाव में परिणत हो जाते हैं उस पुण्यश्लोक सर्वोद्धारक अव्ययकृष्ण को हम भूयो भूय प्रणाम कर रहे हैं ॥१७॥

सर्वेश्वर अव्ययकृष्ण ही आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्व-लक्षण-आत्मनिष्ठ मानवों के आत्मा हैं। अर्थात् समस्त चराचरविश्व में एकमात्र 'मानव' में ही अव्ययात्मा स्वस्वरूप से अभिव्यक्त हुए हैं। ये अव्ययात्मा ही अपने मायामय सीमित स्वायम्भुव-पुररूप में महानि श्वसित-नामक-वस्त्वात्मक वदरूप में परिणत होते हुए वेदमूर्त्ति बने हुए हैं। ये वेदमूर्त्ति अव्ययात्मा ही अपने पराप्रकृतिरूप अक्षरलक्षण हृदयात्मक अन्त र्य्यामी स्वरूप के माध्यम से नियति सत्य रूप शाश्वत धर्म्मरूप में परिणत होते हुए, इस नियतिधर्म्म से अपराप्रकृतिरूप क्षरात्मक विश्व का सञ्चालन करते हुए 'धर्म्ममूर्त्ति' बने हुए हैं। ये अव्ययेश्वर ही अपने हृ-द्-य-रूप ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्रात्मक-अन्तर्य्यामी-नियतिसत्यधर्म्म के आधार पर अग्नि-सोम-रूप सूत्रात्मा के रूप से (भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्' इत्यादि श्रौत सिद्धान्त के अनुसार विश्वकर्म्मात्मक तपोरूप में परिणत रहते हुए 'तपोमूर्त्ति' बने हुए हैं। ऐसे अपने शुद्ध अव्ययरूप से आत्ममूर्त्ति, महानि-श्वसितत्रयीवेदरूप से वेदमूर्त्ति अन्तर्य्यामीरूप से धर्म्ममूर्त्ति, सूत्रात्मारूप से तपोमूर्त्ति बने हुए अव्ययेश्वर भगवान् के इत्थंभूत महामहिम विभूतिस्वरूप को रोदसी त्रिलोकी के अधिष्ठाता विराट्-हिरण्यगर्भ सर्वज्ञमूर्त्ति रुद्र-विष्णु-ब्रह्मा निरन्तररूप से देखा करते हैं, आश्रय लिय

सिद्धान्तानुसार जिन [illegible] 'आत्माराम' [illegible] कर्मी भक्त का [illegible] समनुलन [illegible] महिमामय इस आत्मेश्वर [illegible]-'आत्मारामोऽप्यरीरमत्' [illegible] सदा रमण करते रहते हैं, उन्हें परम गुरु [illegible] हम भूयोभूयः नमस्कार कर रहे हैं ॥१३॥

जिस अव्ययेश्वर कृष्ण का स्वरूपगुणात्मक कीर्त्तन (गुणात्मक विस्तारोपवर्णन), अन्तर्जगत में आत्मरूपेण (विज्ञानप्रभु) रूप से संस्मरण, सर्वायतनविन्यासात्मक पञ्चपर्वा विश्वस्वरूपात्मक विराट्पुरुष से दर्शन, तत्स्वरूपगुणनात्मक स्तवन-वन्दन, सत्यरूपपरमात्मा के मुख से तत्स्वरूप-श्रवण, एवं सर्वहुतयज्ञात्मक 'यजन' रूप से तत्पूजन करने वाले महद्भाग्यशाली ईश्वरनिष्ठा के सञ्चित पाप्मा-संस्कार अविलम्ब नष्ट हो जाया करते हैं। ऐसे पुण्यश्लोक अव्ययेश्वर भगवान् को हम बारम्बार नमस्कार कर रहे हैं ॥१४॥

जिस सहस्रशीर्ष स्वायम्भुव, सहस्राक्ष सौर, सहस्रपात् पार्थिव विराट्पुरुषेश्वर के पादस्थानीय पार्थिव विवर्त्त की यज्ञमात्रिक वेदतत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित यज्ञ-तपो-दान-स्वाध्याय-निवृत्त-सत्कर्म्मों के माध्यम से उपासक सतत उपासना किया करते हैं, वैसे सद्बुद्धिवादी निष्काम-कर्म्मयोगनिष्ठ बुद्धियोगी मानवश्रेष्ठ सहजरूप से ही अव्यय-ब्रह्मनिष्ठा प्राप्त करते हुए विदेहमुक्ति के अनुगामी बन जाते हैं ॥१५॥

वैदिक कर्म्मयोगात्मक तपोयोग से 'तपस्वी' बने हुए कर्म्मठ, प्रभूत दक्षिणा के प्रदाता दानशील दानी, लोकाभ्युदयसंसाधक विद्यानिरपेक्ष इष्ट-आपूर्त्त-दत्त-नामक सत्कर्म्मों के अनुगामी यशस्वी, भक्तियोगानुगामी मनस्वी, एवं मन्त्रयोगानुगामी आचारनिष्ठ-मन्त्रजपपरायण मन्त्रवेत्ता, इनमें से कोई भी तबतक आत्मनिबन्धन क्षेम-स्वस्ति-शान्ति के अधिकारी नहीं बन सकते, जबतक कि ये-'यत्करोषि यदश्नासि-तत् कुरुष्व मदर्पणम्' रूप से अव्ययेश्वर के प्रति आत्मसमर्पण नहीं कर

प्राणानि पाँच विन्दवट्-रूपा (पिण्डरूपा) व पद्मकमल से उत्पन्न पञ्चजनों के द्वारा। इन ब्रह्म-लोक-देव-भूत-पशु नामक पाँच पुरजनों का प्रादुर्भाव हुआ है, ये ही पाँच पुरजन आगे आकर क्रमशः आकाशात्मक स्वयम्भू-वागात्मक परमेष्ठी-तेजोरूप सूर्य-जलरूप चन्द्रमा, मृद्रूप भूपिण्ड—इन पाँच पुरों (ब्रह्माण्डों) के रूप में परिणत हुए हैं। मायापुर में सीमित कामनय-मनोमय-अव्यय की कामना से, प्राणात्मक तप से, तथा वाङ्मय श्रम से अक्षर के द्वारा क्षर ही इस विश्व रूप-पञ्चजन पुरञ्जन-रूप गुणभूत-अणुभूत-रेणुभूत-क्रम से इन पाँच 'विश्वपुर' रूपों में परिणत होता हुआ—'पुरि शेते-निर्वचन से 'पुरुष' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। अपना आनन्द—विज्ञान-मन—प्राण-वाग् रूपा पाँच अव्यय-कलाओं से, ब्रह्मा—विष्णु इन्द्र—अग्नि—सोम—रूपा पाँच अक्षर-कलाओं से, प्राण—आप—वाक्—अन्नाद—अन्नम्—रूपा पाँच क्षर-कलाओं से, तथा सोलहवीं निष्कलात्मिका परात्परकला से षोडशकल-षोडशात्मक-बनते हुए षोडशी-प्रजापतिरूप विश्वेश्वर प्राकृतिक षोडशविध-गुणभावों से समन्वित हो रहे हैं। ऐसे सर्वभूतमय षोडशीपुरुष-अव्ययेश्वर मेरी वाणी को उद्बोधन प्रदान करने का अनुग्रह करें ॥२३॥

जिन पुराणपुरुष के मुखकमल से विनिःसृता ज्ञानसुधा का महद्-भाग्यशाली भागवत-पुरुष पान करते रहते हैं उन परम तेजस्वी भगवान द्वैपायन व्यास को हम पुनः पुनः नमस्कार कर रहे हैं ॥२४॥

हे परीक्षित! अपने आविर्भावकाल से ही जिन स्वयम्भू ब्रह्मा के अन्तःकरण में वेदतत्त्व प्रतिष्ठित हैं, अर्थात जिनका प्राणमय स्वरूप ही वेदात्मक है, उन वेदमूर्ति स्वयम्भू-प्रजापति से जब नारद महर्षि (पारमेष्ठ्य-अप्तत्त्व-प्रवर्तक 'नारद' नामक ऋषि प्राण से क्रमागत तन्मात्मक मानव नारद-ऋषि) ने तत्त्वविज्ञान की जिज्ञासा की थी, तो स्वयं ब्रह्मा ने पारमेष्ठ्य-तत्त्वरूपा इस भागवती कथा का मर्म नारद के प्रति अभिव्यक्त किया था, जो कि कथामर्म ब्रह्मा को स्वयं नारायण (महद्गर्भीभूत-गोलोकाधिष्ठाता गोविन्द) भगवान् से प्राप्त हुआ था ॥२५॥

रहे हैं। ऐसे अव्ययेश्वर के प्रसाद-गुण की ही हम कामना किया करते हैं ॥ १८ ॥

जो अव्ययेश्वर भगवान् अपनी ग्रामप्रतिष्ठारूप पारमेष्ठ्य महद्ब्रह्मानुगत आगमय-परमेष्ठी-लोक की आपोमयी भृगुमयी 'आम्भृणीवाक्' रूपा अयस्तुष्टि की अधिष्ठात्री लक्ष्मी के पति हैं, जो यज्ञेश्वर भगवान् त्रयीरूप ब्रह्माग्नि, अथर्वाग्नि सुब्रह्मसोम के यज्ञनात्मक अग्नीषोमात्मक यज्ञ से यज्ञ के पति बन रहे हैं जो अव्ययेश्वर अपने विश्वकेन्द्रस्थ हिरण्यगर्भ सूर्य के ज्योतिर्गौ आयु-रूप मनोतामों से समन्वित पञ्चऋतुमनुबन्धलक्षण सम्वत्सरयज्ञ के द्वारा विश्वप्रजा को उत्पन्न करते हुए प्रजा के पति बने हुए हैं जो अव्ययेश्वर सौर विज्ञानतत्त्व के माध्यम से धर्म-ज्ञान-वैराग्य—ऐश्वर्य्य-रूप चारों बुद्धियोगों के प्रवर्त्तक बनते हुए बुद्धि के पति-भाग्य बने हुए हैं जो अपने लोक-वेद-वाङ्मय त्रिविध साहस्री-भावों से सर्वलोकात्मक बनते हुए लोकों के पति बने हुए हैं, जो अपने पार्थिव—गायत्रीमात्रिक-सदसत्व के माध्यम से अण्वचय भूपिण्ड का निर्माण कर धरा के पति प्रमाणित हो रहे हैं, इत्थंभूत जो विश्वेश्वर अपने योगात्मक पूर्णावतारूप वासुदेवकृष्णात्मक मानुषात्मक-स्वरूप से अभ्यक्त, तथा वृष्णिवंशी यादवों के पति बने हुए हैं ऐसे अव्ययेश्वर भगवान् के प्रसादगुण की हम सतत कामना करते रहते हैं ॥१६॥

जिस अव्ययेश्वर भगवान् के पादारविन्द के अनुध्यानात्मक—समान प्रत्ययप्रवाहलक्षण—उपासनात्मक—चिन्तन-संस्मरण से मुमुक्षु आरुरुक्षु योगी बुद्धियोग के द्वारा अव्ययात्मा का साक्षात् करते हुए इसका यथामति स्वरूपोपवर्णन करते रहते हैं, ऐसे मुकुन्द-गोविन्द-भगवान् के प्रसाद गुण की हम सतत कामना किया करते हैं ॥२०॥

सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मनिःश्वसित-वेदमूर्त्ति परोरजा भगवान् स्वयम्भू-ब्रह्मा के अन्तर्जगत् में सर्गसम्बन्धानुगत-संस्कारों को जागरूक बना देने वाले जिन अव्ययेश्वर भगवान् की मनोमयी—कामनामयी-प्रेरणा से अङ्गिरा—धारात्मिका—पारमेष्ठिनी सरस्वती—भागधारा—त्मक हो पड़ती है अव्यक्त स्वयम्भूब्रह्मा के ही मुख से ऐसे सर्वज्ञानप्रवर्त्तक भगवान् कृष्ण के प्रसादगुण की हम सतत कामना किया करते हैं ॥२१॥

प्राणादि पाँच विश्वसृट्-भावों (विकारक्षरों) के पञ्चीकरण से उत्पन्न पञ्चजनों के द्वारा। जिन वेद-लोक-देव-भूत-पशु नामक पाँच पुरञ्जनों का प्रादुर्भाव हुआ है, ये ही पाँच पुरञ्जन आगे जाकर क्रमशः आकाशात्मक स्वयम्भू-वाय्वात्मक परमेष्ठी-तेजोरूप सूर्य्य-जलरूप चन्द्रमा, मृद्रूप भूपिण्ड-इन पाँच पुरों (अण्डवृत्तों)के रूप में परिणत हुए हैं। मायापुर से सीमित काममय-मनोमय-अव्यय की कामना से, प्राणात्मक तप से, तथा वाङ्मय श्रम से अक्षर के द्वारा क्षर ही इस विश्व सृट्-पञ्चजन-पुरञ्जन-रूप गुणभूत-अणुभूत-रेणुभूत-क्रम से उक्त पाँच 'विश्वपुर' रूपों में परिणत होता हुआ-'पुरि शेते-निर्वचन से 'पुरुष' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। अपना आनन्द-विज्ञान-मन -प्राण-वाग्-रूपा पाँच अव्यय कलाओं से, ब्रह्मा-विष्णु इन्द्र-अग्नि-सोम-रूपा पाँच अक्षर-कलाओं से प्राण -आप -वाक्-अन्नाद -अन्नम् -रूपा-पाँच क्षर-कलाओं से, तथा सोलहवीं निष्कलात्मिका परात्परकला से षोडशकल-षोडशात्मक-बनते हुए षोडशी-प्रजापतिरूप विश्वेश्वर प्राकृतिक षोडशविध-गुणभावों से समन्वित हो रहे हैं। ऐसे सर्वभूतमय षोडशीपुरुष-अव्ययेश्वर मेरी वाणी को उद्बोधन प्रदान करने का अनुग्रह करें ॥२२॥

जिन पुराणपुरुष के मुखकमल से विनिःसृता ज्ञानसुधा का महद्-भाग्यशाली भागवत-पुरुष पान करते रहते हैं उन परम तेजस्वी भगवान् द्वैपायन व्यास को हम पुनः पुनः नमस्कार कर रहे हैं ॥२ ॥

हे परीक्षित ! अपने आविर्भावकाल से ही जिन स्वयम्भू ब्रह्मा के अन्तःकरण में वेदतत्त्व प्रतिष्ठित हैं, अर्थात् जिनका प्राणमय स्वरूप ही वेदात्मक है, उन वेदमूर्त्ति स्वयम्भू-प्रजापति से अब नारद महर्षि (पारमेष्ठ्य-अप्तत्त्व-प्रवर्त्तक 'नारद' नामक ऋषि प्राण से कृतात्मा तन्नामक मानव नारद-ऋषि) ने तत्त्वविज्ञान की जिज्ञासा की थी सो स्वयं ब्रह्मा ने पारमेष्ठ्य-कल्परूपा इस भागवती कथा का मर्म नारद के प्रति अभिव्यक्त किया था, जो कि कथामर्म्म ब्रह्मा को स्वयं नारायण (महद्गर्भीभूत-गोसवलोकाधिष्ठाता गोविन्द) भगवान् से प्राप्त हुआ था ॥२४॥

श्रीशुक मुनि के द्वारा उपर्वर्णित भक्त्येश्वर कृष्ण के इसी विमूर्तिस्वरूप की स्तुति करते हुए पद्मयोनि भगवान ब्रह्मा कह रहे हैं कि—हे स्तुत्य विभो ! जिन आपका भौतिक शरीर सजल-श्याम-मेघ के समान श्याम-वर्ण है, जो विद्युच्छटासम कान्तियुक्त पीताम्बर धारण किए हुए हैं, जिनका मुखकमल गुञ्जा व आभूषणों-कुण्डलों से, तथा मोरमुकुट से उद्भासित हो रहा है, जो वनमाला से विभूषित हैं, जिनके चरणकमल अत्यन्त मृदुल हैं, भोजन-कौर (ग्रास), छड़ी, सींग, और वंशी-आदि से जिनका स्वरूप अत्यन्त ही आकर्षक बन रहा है, ऐसे गोपालनन्दन नन्दनन्दन को हम बारम्बार नमस्कार कर रहे हैं ।।२५।।

हे भगवन् ! आपने मुझ पर अनुग्रह कर अपनी इच्छा से ही यह विग्रह (शरीर) धारण किया है, जो कि विग्रह पाञ्चभौतिक प्रतीत होता हुआ भी वस्तुतः शुद्ध सत्त्वमय-ज्योतिर्मय (ज्ञानमय) ही है। आपके इस दिव्य अलौकिक सगुण विग्रह के वास्तविक स्वरूप को मैं और अन्य कोई भी जानने में सर्वथा असमर्थ है। जब आपका विग्रह ही अविज्ञेय है, तो आपके आभ्यन्तर आत्मस्वरूप को तो कोई जान ही कैसे सकता है ? ।। २६ ।।

हे विश्वेश्वर ! जो मानव में इ अपने बुद्धि-प्रयास-सम्मत ज्ञानार्जन पथ की उपेक्षा कर अपने स्थान पर ही प्रतिष्ठित रहते हुए आत्मतत्त्व मर्मज्ञ महापुरुषों के मुख से विनिर्गत आपके महिमामय स्वरूप को सुनते हुए, मनसा वाचा उस गुह्य रहस्य को हृदयङ्गम बनाते हुए जीवन यापन करते रहते हैं, हे अजितेश्वर भगवन् ! ऐसे अनन्यनिष्ठ ही प्रायः आपको जीत लिया करते हैं ।। २७ ।।

हे भगवन् ! प्रकृति-महान्-आकाश-वायु-अग्नि-जल-और पृथिवी रूप भूतावरणों से आवृत यह ब्रह्माण्ड ही जिस मुझ ब्रह्मा का भूः-भुवः-स्वः-महः-जनः-तपः-सत्यम्-रूप सप्तवितस्तिकायात्मक-छोटा सा शरीर है, उसका क्या महत्त्व शेष रह जाता है, आपकी उस महिमा के सम्मुख में, जिसके रोमकूपात्मक विवरों में से ऐसे ऐसे अगणित-असंख्य ब्रह्माण्ड परमाणु के समान आविर्भूत-तिरोभूत-होते रहते हैं ।। २८ ।।

हे भगवन् ! ये व्रजगोपियाँ, तथा व्रज की गायें सचमुच धन्य हैं, कृतकृत्य हैं, जिनके स्तनदुग्ध का आपने बछड़े-तथा शिशुरूप से पान

किया। जिन्हें सम्पूर्ण यज्ञ भी आज तक तृप्त नहीं कर सके, वे ही इस दुग्धरस से तृप्त हो गए। अहो! वास्तव में इन व्रजगोपियों के महद् भाग्य की कौन समता कर सकता है ? ॥ २६ ॥

(जिन यज्ञपत्नियों ने यमुनातट पर नवपल्लवमण्डित अशोक-वन में भगवान् कृष्ण का अपने ज्येष्ठभ्राता हलधर (बलराम) के साथ गोपों से परिवेष्टित-विचरते देखा) उन भगवान् का शरीर श्याम था, वे स्वर्णवर्ण-हेमाभ-पीताम्बर धारण किए हुए थे। वे नूतन पुष्पों की माला मयूर पिच्छ चित्र-विचित्र गैरिकादि धातुओं के लिम्पन-नवपल्लववेष्टन-आदि से नटवेश बनाए हुए थे। वे अपना एक हाथ अपने किसी एक सखा के कन्धे पर रक्खे हुए थे (उसकी ओर अपने मुखकमल को झुकाते हुए)। दूसरे हाथ से कमलपुष्प को घुमा रहे थे एवं ऐसी मोहक मुद्रा में अव-स्थित भगवान् के कानों में कमलपुष्प, कपोलों पर अलकावलियाँ, तथा मुखारविन्द पर मन्द-मृदु-हास की दिव्य छटा नृत्य कर रही थी ॥३ ॥

हे परीक्षित! अबतक कर्णाकर्णिपरम्परया जिन श्यामसुन्दर-भगवान का सुयश कानों में निरन्तर पड़ते रहने के कारण जिनका मन तन्मय बन गया था उन्हीं श्यामसुन्दर को पूर्वोपवर्णित मोहक स्वरूप से सामने पाकर वे यज्ञपत्नियाँ अपने नेत्रों के द्वारों से अपने अन्तःकरण में ले गई। जिस प्रकार सात्त्विकी सम्पूर्ण अहंवृत्तियाँ सुषुप्ति-अवस्था के अभि मानी देवता प्राज्ञ आत्मा की प्राप्ति कर उसी में लीन हो जाती हैं, एवमेव नेत्र-द्वारा अपने अन्तःकरण में कृष्ण के उस आत्मस्वरूप को प्रतिष्ठित कर ये भाग्यवती स्त्रियाँ इत्ताप को ही मानो इस आत्मसुखानुभूति से शान्त करने लगीं ॥ ३१ ॥

(इस मानवशरीर की तो अब एकमात्र यही कामना शेष है कि)—हमें इस परम धन्य वृन्दावनधाम में इन व्रजबालाओं के चरणरज का सेवन करने वाली लता-ओषधि-झाड़ियों आदि में से ही मैं भी एक लता-गुल्मादि ही बन जाऊँ। सचमुच धन्य हैं ये व्रजगोपियाँ, जिन्होंने अपने दुस्त्यज बन्धु-बान्धवों को एवं मर्यादात्मक धर्मों को उपेक्षित मान कर श्रुतियों के द्वारा प्रयास-पूर्वक ढूँढी जाने वाली मुकुन्दपदवी (भगवत्स्वरूप-सरणी) का ही अनुसरण कर लिया ॥ ३२ ॥

'पद्मरगाद' नाम से प्रसिद्ध पारमेष्ठ्य 'गोमत' नामक गोलोक में विराजमान पाञ्चरात्राधिष्ठाता जिन गोविन्द भगवान् ने अपने सत्वात्मक वासुदेवावतार मे अर्जुन को गीता के माध्यम से बुद्धियोगात्मक गीताशास्त्र का उपदेश देने का निःसीम अनुग्रह किया, वे ही गोविन्द भगवान् हमें आत्मानन्दपथानुगामी बनाने का अनुग्रह करते हुए हमारे जीवभाव के सान्निध्य में प्रतिष्ठित हों। ॥ ३३ ॥

(सचमुच उस पूतना-राक्षसी से अधिक और कौन भाग्यशाली होगा) जो अपने स्तनों पर कालकूटात्मक महाविष के द्वारा भगवान् कृष्ण को धाई तो थी मारने, किन्तु प्राप्त कर गई 'धात्री' सम्मता वह लोकोत्तर-पदवी, जिसके लिए मुमुक्षु योगी भी तरसते रहते हैं। ऐसे परमकारुणिक दयालु भगवान् की शरण में कौन नहीं जाना चाहेगा ?॥३४॥

भारत-श्रद्धा-रस से समाप्लुत अपने चिरन्तन आप्त पुरुषों से हम परम्परया ऐसा सुनने सुनाने का महद्भाग प्राप्त करते आ रहे हैं कि, आज से अनुमानत' पाँच सहस्र पूर्व देवदुर्लभ इसी भारतवर्ष में पारमेष्ठ्य गोलोकधाम के प्रतिमानरूप परम धन्य लोकोत्तर व्रजधाम के अलौकिक दिव्य प्राङ्गण में अक्षरव्रह्माव्ययावतार पूर्णेश्वर भगवान् नन्दनन्द ने कामदेव के दर्पदलन के लिए महाभाग्यवती स्वप्रकृतिभूता व्रजगोपियों के साथ रासविहार किया था। किस भारतवर्ष में ?, क्या दौष्यन्ति-भरत के भारतवर्ष में ?, किंवा महाभाग ऋषभदेव के भारतवर्ष में ? । नहीं । अपितु उस भारतवर्ष में जहाँ के शयसानपात्-अधिष्ठाता देवता सृष्टिकाल के आरम्भ से हव्य-कव्य-वहन करने वाले 'भारत' नामक ब्रह्मवीर्यप्रधान अतएव 'ब्राह्मण' नाम से प्रसिद्ध 'भारत' नामक अग्नि ही बने हुए हैं। अग्नेर्महाँ असि ब्राह्मण भारत (ऋक्)-'अग्निर्वै देवेभ्यो हव्यं भरति' (शत) 'तस्माद् भरताऽग्निरित्याहुः' इत्यादि मन्त्र-ब्राह्मण-श्रुतियों से उपवर्णित भरत किंवा भारत अग्नि ही इस देश की-'भारत' अभिधा के मूल कारण हैं जिन भारताग्नि किंवा भरताग्नि के प्रतिरूप-शिल्प का समन्वय 'कृष्णमृग' (काले हरिण) से माना गया है।

भावुक भक्तों की न केवल ऐसी मान्यता ही है अपितु आस्था है कि, भगवान् कृष्ण को सम्पूर्ण विश्व में एकमात्र यह 'व्रजधाम' ही परम प्रिय है

वहाँ यमुनातट पर गोमाताएँ स्वच्छन्द विचरण करतीं रहतीं हैं। प्रसिद्ध है इस सम्बन्ध का यह पद कि—

> ब्रज तज या संसार में प्रिय न दूसरो ठाम।
> पात पात में रम रहा राधा राधा नाम॥

तो, आइए! रासक्रीड़ा से पहिले निदानरूप इस भारतीय ब्रजधाम के माध्यम से अश्वत्थ-अव्ययश्वर के विहार-स्थानीय उस ब्रजधाम की ओर आप को ले चलें जहाँ सचमुच गोविन्दभगवान् अपनी प्रिय गायों के साथ विराजमान रहते हुए वंशीनिनाद के रसवपन से सम्पूर्ण विश्व को रसाप्लुत बनाते हुए अपनी 'रासेश्वर' अभिधा को अन्वर्थ चरितार्थ कर रहे हैं। अश्वत्थविद्या में यह बतलाया गया है कि सूर्य्य जिस महासमुद्र के गर्भ में बुद्बुद्वत् प्रतिष्ठित है, वह महासमुद्रात्मक 'महान्' लक्षण परममण्डल ही-'परमेष्ठी' कहलाया है, जिसका पाँच अक्षरों में से द्वितीय विष्णु-अक्षर से ही सम्बन्ध है। मनोता-विज्ञान के अनुसार इस परमेष्ठी के जैसे भृगु-अङ्गिरा-अत्रि-ये तीन मनोता माने गए हैं, एवमेव इट्-ऊर्क्-भोगा-नामक तीन मनोता भी इसी परमेष्ठी के माने गए हैं। पारमेष्ठ्य विष्णुग्रक्षर से समन्वित गोतत्त्व वह सौम्य प्राण ही है, जिसके सहस्रधा वितान से सहस्ररश्मियुक्त सूर्य्य का विकास हुआ है। इसी गोरूप प्राण की विकासावस्था के कारण स्वयं सूर्य्य भी आगे चल कर 'गौ' नाम से, तथा 'गोपा' नाम से प्रसिद्ध हो गए हैं, जैसा कि-'आयं गौः पृश्निरक्रमीत्०' 'अयं वै गोपाः' इत्यादि मन्त्र-ब्राह्मण-श्रुतियों से स्पष्ट प्रमाणित है।

आगे चल कर स्थूल रूप से, अर्थात् गतिरूप से आङ्गिरस प्राण गर्भित भार्गव सौम्य प्राण ही, पारमेष्ठ्य 'गौ' तत्त्व ही इस गतिभाव से 'गच्छतीति गौः' कहलाने लगा है। कैसी गति?, जिसके वेग का अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता, जिसके विस्तार का बखान भी नहीं किया जा सकता। भूत लक्षण पिण्डभाव को मूर्त्त भाव को आधार बना कर जहाँ गतितत्त्व नियन्त्रित-सीमित बन जाता है, वहाँ पिण्ड से पृथक् होकर शुद्ध ऋतभाव में आकर वही गति प्रचण्ड वेग से घोघूयमान बन जाती है। और ऐसी ही गति प्रक्रान्त रहती है आङ्गिर धाराओं से समन्विता गोप्राणरूपा भृगुधाराओं की उस अनन्त पारमेष्ठ्य समुद्र में। लोकभाषा में इसी स्थिति का यों विश्लेषण किया जा सकता है कि, क्षीर ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति से

पूर्ण परमेष्ठी-समुद्र में अनन्त-अपरिमित आग्नेय अणुओं पर मरुत् सहस्र-कोटायित आङ्गिरस दारक अग्नि-स्फुलिंग इतस्ततः प्रचण्ड वेग से दौड़ते हुए ग्रहों के रूप से दोलायमान थे, जो भागव दास सोम में समर्पित रहते हुए ज्योतिष्मान् बने हुए थे। अव्यावस्था-विरलावस्था-अवयवावस्थारूपा धूमावस्था के कारण ही ये आग्नेय रोमय विस्फुलिंग 'हरया धूमकेतवः' (ऋक्) रूप से- 'धूमकेतु' नाम से प्रसिद्ध हुए, जिनसे पारमेष्ठ्य आपोमय समुद्र आसमन्तात् समाप्लुत था। उस पारमेष्ठ्य आप का यही स्वरूप था आज भी है, जिसका श्रुति ने- 'आपो भृग्वङ्गिरारूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्। अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिता' (गोपथब्रा०) इत्यादि रूप से विश्लेषण किया है। इसी पूर्णभाव के कारण सहस्र मान लिए गए हैं ये विस्फुलिङ्गात्मक धूमकेतु, जिनमें से कोई सा एक ही धूमकेतु उसी कामभय अभ्यागमन की प्रेरणा से तत्केन्द्र में शनैः शनैः चित-सचित-घनीभूत-पिण्डीभूत बनता हुआ एक दिन व्यक्त हिरण्यगर्भ-सूर्य्यरूप में परिणत हो जाता है, और यही है हिरण्यगर्भप्रजा पतिरूप से उपवर्णित सूर्य्य की उत्पत्ति का चिरन्तन इतिहास, जिसके माध्यम से प्रकृत में हमें केवल गतिलक्षण उस पारमेष्ठ्य गौ-तत्त्व की ओर ही आपका ध्यान आकर्षित करना था, जो वैष्णव पारमेष्ठ्य समुद्र में लम्बलम्बायमान धाराओं से इतस्ततः विचरण कर रहे हैं। ये धाराएँ ही मानों शृङ्ग-सींग हैं इन पारमेष्ठ्य गौ-मार्गों के। इसी भाव को लक्ष्य बनाते हुए श्रुति ने कहा है-

> या ते धामान्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः ।
> अत्राह तदुरु गायस्य विष्णोः परमं पदमव भाति भूरि ॥
>
> —यजुःसंहिता ६।३।

जिस प्रकार पार्थिव क्षार पानी 'मर' कहलाया है, चान्द्र सौम्य आपस्तत्त्व 'अम्भ' कहलाया है पारमेष्ठ्य भार्गव सौम्य अपतत्त्व 'अम्भ' कहलाया है, एवमेव सौर रश्मियों के संघर्ष से उत्पन्न सूक्ष्म अग्निप्रकृतिक अपतत्त्व 'मरीचि' कहलाया है जिन इन चारों पानियों का भगवान् ऐतरेय ने दिग्दर्शन कराया है (ऐ० ऐ० उप०)। जिस प्रकार कूप-नद-नदी का पार्थिव पानी मर है, ओषधि का अपतत्त्व 'अम्भ' है गाङ्गेय सलिल अम्भ है एवमेव यमुनाजल और मरीचि का ही प्रतिमान है। क्षीर-सीमा-प्रान्त में परमेष्ठी है। जो पारमेष्ठ्य अपतत्त्व रश्मिमण्डल में समाविष्ट है, वही 'वेन' कहलाता है, जिससे दर्भ-कुशा-

उत्पन्न होती हैं, जिनकी पवित्रता भारतीय आचारधर्म्म में प्रसिद्ध है। यही वेन मरीचिरूप यमुना का मौलिक रूप है। इस सीमापर्य्यन्त उन पारमेष्ठ्य-भूरि-शृङ्गा मृगवह्निरामय गौप्राणों का अनुधावन होता रहता है। मानो परमेष्ठी लोक की गाएँ और प्रान्तात्मक यमुनातट पर ही चरण कर रही हैं। और फिर कैसा है यह परमेष्ठी-लोक !, जहाँ विष्णुदेवता प्रतिष्ठित हैं, व्यक्त हैं अपने अव्ययरूप से।

गतिशील गौप्राण के सञ्चरण से ही यह लोक 'गोष्ठान' कहलाया है, जिसे सामवेद ने 'गोसव' कहा है, जैसा कि 'गामयो देवनिर्म्मित' (सामवेद) इत्यादि वचन से प्रमाणित है। वेद का यह गोसव लोक ही पुराण में 'गोलोक' नाम से उपवर्णित है। गतिशील इस गौतत्त्व की प्रधानता से ही तो इस पारमेष्ठ्य विष्णुलोक को गत्यर्थक 'व्रज' धातु के सम्बन्ध से व्रजधाम' कहा जा सकता है ! । क्या यह नामकरण हमारी कल्पनामात्र है ! । अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् ! ! कल्पना करते हैं मतवाद से अभिनिविष्ट मानव । यहाँ का तो प्रत्येक शब्द सृष्टि के मौलिक रहस्य का, चिरन्तन इतिहास का स्पष्टीकरण कर रहा है।

पुराण का गोलोक गोसवात्मक-गोष्ठान कहलाया है, तो यही गोष्ठानरूप पारमेष्ठ्य आपोमय लोक उसी वेद में 'व्रज' नाम से भी प्रसिद्ध हो रहा है, जिसकी विशेष व्याख्या में न जाकर प्रमाणभक्त-वेदभक्तों के परितोष के लिए वे मन्त्र ही उद्धृत कर दिए जाते हैं, जहाँ 'व्रज' शब्द आप्य वारुण-प्राणात्मक परमेष्ठी-लोक के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। सुनिए।

(१)-अपाररु पृथिव्यै देवयजनाद् वध्यास- व्रज गच्छ गोष्ठानम्।
वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवित परमस्यां पृथिव्याम् ॥

—यजुःसंहिता १।२५।२५।

(२)-अररो ! दिव मा पप्त , द्रप्सस्ते द्यां मा स्कन् ।
व्रज गच्छ गोष्ठान वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवित ० ॥

(३)-पृथिवी देवयजन्योपध्यास्ते मूलं मा हिंसिपम् ।
व्रज गच्छ गोष्ठान वर्षतु ते द्यौ ० ॥

(४)—त्वामग्ने ! यजमाना अनु द्यून् विश्वा वसु दधिरे वार्याणि ।
त्वया सह द्रविणमिच्छमाना व्रजं गोमन्तमुशिजो विवव्रुः ॥
—यजु संहिता १०।२८।

(५)—अति विश्वाः परिष्ठास्तेन इव व्रजमक्रमुः ।
ओषधीः प्राचुच्यवुर्यत्किंच तन्वोरपः ॥
यजुःसंहिता १२।८४।

गतिप्राणात्मक गौतत्त्व से 'व्रज' धाम नाम से प्रसिद्ध परमेष्ठी—लोक में दो वाग्धाराओं का प्रवाह बतलाया गया है मन्तुर्थ वक्तव्य के उपक्रम में । कल्पितधारा से शब्दसृष्टि होती है, मधुधारा से अर्थसृष्टि होती है । दोनों वाक्तत्त्व क्रमशः सरस्वती, तथा 'आम्भृणी' नाम से प्रसिद्ध हैं । आम्भृणी ही लक्ष्मी है, जिसका पुराण ने 'राधा' के रूप से यशोगान किया है । दूसरी सरस्वती ही ध्वनिवाक् की अधिष्ठात्री है, जिसे 'श्रीः' कहा गया है । 'श्री' रूपा सरस्वती ही वह नादध्वनि है, जिसके आधार पर शब्दप्रपञ्च का विकास हुआ है । यही वह वंशी है, जिसका गोलोकनाथ गोविन्दकृष्ण (विष्णु) के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है । पारमेष्ठ्य सारस्वत धामात्मक व्रजधाम में प्रतिष्ठित गोलोकनाथ गोविन्द गोचारण के साक्षी बने रहते हुए अपनी नादब्रह्मधारा से मानो विश्व को आप्लुत ही कर रहे हैं । इत्थंभूत तत्त्व के अवतार, अतएव साक्षात् 'भगवान्'-रूप से उपवर्णित यशोदानन्दन—नन्दनन्दन—भगवान् कृष्ण की यदि व्रजधाम में वंशीवादनपूर्वक ये ही लीलाएँ होती रहती हैं, तो इसमें कौन सा विसंवाद है ! । यही तो भगवान् की भगवत्ता है । ऐसी लीलाएँ ही तो भगवत्स्वरूप की परिचायिका हैं । जैसी, जो लीलाएँ—अवतारी में नित्य विप्रतिष्ठित हैं वैसी, वे ही लीलाएँ अवतार में घटित हुई हैं किन्तु इस भगवत्—तत्त्व के रहस्य—बोध का सभी को अधिकार नहीं मिलता । नित्य—लीलाधाम में नित्य—लीलारत भगवान् कृष्ण की उन नित्य लीलाओं से जो भारतवर्ष धन्य बना, जिसका अमुक व्रजधाम परम धन्य बना इस साक्षात्–सगुणब्रह्म के पावन—संस्पर्श से, उसकी महिमा का बखान क्या मादृश वेदाभ्यासजड़मति की बैखरी—वाणी कर सकती है ! । हम तो वंशीवादन-रत—गोचारण तत्पर—भगवान् कृष्ण की इस पारमेष्ठ्य—लीला के प्रसङ्ग में उनके उस 'परमेष्ठी' नाम का ही स्मरण कर लेते हैं जो स्मरणाधिकार इस देश के मानवमात्र को परम भागवत भगवान् शुकदेव से इसप्रकार प्राप्त हुआ है—

तत्रोद्वहत् पशुपवंशशिशुत्वनाट्यं-
ब्रह्माद्वय परमनन्तमगाधबोधम् ।
वत्सान् सखीनिव पुरा परितो विचिन्व-
देक सपाणिकवल-परमेष्ठयचेष्ट ॥
—श्रीमद्भागवत् १० पू० । १३ अ० । ६१ श्लो० ।

[भगवान् ब्रह्मा ने अपनी अन्तर्दृष्टि से यह देखा अनुभव किया कि, जो-अव्ययब्रह्म अद्वय-परम-अनन्त, अतएव अवाङ्मनसगोचर बनता हुआ अगाधबोध-स्वरूप है, वही (आज इस गोपवंशीय वात्सभावात्मक नन्दनन्दन-के रूप में परिणत हो कर) नाट्यवेश धारण कर अपने एक हाथ में कौर लिए पूर्ववत् एकाकी रूप से ही अपने साथी-सखा ग्वाल-बालों तथा बछड़ों को खोजता फिर रहा है । (कैसा है यह नट-वेश-धारी नन्दनन्दन ?) यह है गोमत्वात्मक परमेष्ठी-विष्णु का सगुणावतार । 'परमेष्ठी-अचेष्टत' से इस अवतार के उसी पारमेष्ठ्य-अलौकिक स्वरूप की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है ।]

तभी तो स्वयं भगवान् ब्रह्मा ने गद्गद् होकर स्तुति की है भगवान् के इस रूप की इसप्रकार—

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय-
गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय ।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणु-
लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय ॥

विषय है आज का 'वेदशास्त्र के साथ पुराण का समन्वय' । इसी विषयमर्य्यादा के निर्वाह के लिए हमें इस पुराणकथाप्रसङ्ग के मध्य मध्य में वैदिक-तत्त्ववाद का भी प्रासङ्गिक दिग्दर्शन कराना पड़ रहा है, जिसके लिए क्षम्य ही मान लिए जायेंगे हम ।

हाँ, तो कृष्णभावापन्न भारत भूमि के देश इस भारतवर्ष में ! । ठहरिए । भारत-भूमि के साथ यह 'कृष्ण' शब्द और कहाँ से आ गया ! । इसका भी

प्रसिद्ध प्रमाण का स्मरण कीजिए। जिस पारमेष्ठ्य आङ्गिरस अग्नि का पूर्व में उल्लेख हुआ है, वह वस्तुतः अपने स्वरूप से अनिरुक्त कृष्णभावापन्न ही है। प्रकाश का नि-अग्नि का धर्म्म नहीं है। तभी तो—'आकृष्णेन रजसा वर्त्तमान०' इत्यादि मन्त्र से घोर अग्नि को 'कृष्ण' ही माना गया है। इसी कृष्णभाव के कारण यह अग्नि मृगचारण करता हुआ 'कृष्णमृग' नाम से प्रसिद्ध हुआ है वेदशास्त्र में, जैसा कि—'मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः' (ऋक्)—'अग्निर्वै कृष्णो भूत्वा चचार' इत्यादि मन्त्र-ब्राह्मण-वचनों से प्रमाणित है। इस मृगभाव से, अतएव 'मृग' नामक त्रयीवेदतत्त्वात्मक कृष्णाग्निप्राण की जिस प्राणी में प्रधानता है, वह भी इसी नाम से, अर्थात् 'कृष्णमृग' नाम से प्रसिद्ध हो गया है, जो अत्यन्त ही पवित्र माना गया है महर्षियों के द्वारा। अतएव जिसके 'कृष्णाजिन' नामक चर्म्मास्तरण के बिना न तो हविर्वेदनादि यज्ञकर्म्म ही सम्पन्न होते, एवं न यहाँ के द्विजाति को इसके परिधान के बिना यज्ञसूत्रधारणात्मक वेदस्वाध्यायाधिकार ही उपलब्ध होता। ऐसा है यह परम-भाग्यशाली भारतवर्ष, जिसमें त्रयीवेद का प्रतिरूप शिरस्त्रात्मक कृष्णमृग स्वच्छन्द विचरण करता रहता है। करता क्या है!, करता था, जब कि इस देश की प्रजा वेदपुराणतत्त्व का अनुगमन करती हुई इसे अवध्य मानती थी। सम्भव है अब निकट भविष्य में ही संस्कृतिनिष्ठ महामहिम राष्ट्रपति महाभाग के अनुग्रह से यह तत्त्वनिष्ठाप्रचार पुनः राजर्षि मनु की इस स्मृति को यथारूप प्रमाणित कर दे कि—

कृष्णासारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः ।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशः, म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥

—मनु २।२३।

और फिर पाँच सहस्र वर्ष पूर्व के वैसे भारतवर्ष में जिसमें सम्भवतः तत्त्ववाद की विलुप्तिमूला अधर्म्मभावना के ही कारण यहाँ के जनवर्ग के दो प्रतिद्वन्द्वी भिन्न-भिन्न दो क्षेत्रों के अनुगामी बने हुए थे। एक वर्ग कहता था-धर्म्म ही सब कुछ है तो दूसरा वर्ग कहता था कर्म्म ही सब कुछ है। धर्म्म-वर्म्म-कुछ नहीं—बस काम करो काम किए जाओ। यों कुनैतिक सत्तामदान्ध दुर्य्योधन-प्रमुख कौरवगण धर्म्मपथ का अतिक्रमण कर यहाँ केवल कर्म्म-क्षेत्र का ही उद्घोष कर रहे थे वहाँ सत्तावञ्चित धर्म्मभीरु, नितान्त भावुक युधिष्ठिर-प्रमुख पाण्डव निष्ठापथ को विस्मृत कर केवल धर्म्मपथ के ही समर्थक बने हुए थे। यों एक दल कर्म्मक्षेत्र में

विभक्त हो रहा था, तो दूसरा दल धर्मक्षेत्र का विध्वंसमघोष कर रहा था। क्या भयानक परिणाम हुआ इन दो क्षेत्रों की इस प्रतिद्वन्द्विता का?, प्रश्न के दुःख-पूर्ण समाधान से सभी भारतीय सुपरिचित हैं। उसी का यह भीषण परिणाम है कि, महाभारतयुग में भारतराष्ट्र की जिम श्री का अभिभव हो गया था, वह आज तक पुनरावर्तित नहीं हो सकी। जब दो क्षेत्र ही यों राष्ट्रश्री राष्ट्रवैभव के सर्वनाश का कारण बन जाते हैं, तो जिस राष्ट्र में दुर्भाग्यवश अनेक क्षेत्र वहाँ परस्पर प्रतिद्वन्द्विता में प्रवृत्त हो जायँ, वहाँ क्या परिणाम विघटित हो पड़ेगे?, उस भयावह स्थिति के स्मरणमात्र से भी तटस्थ मानव का हृदय विकम्पित हो पड़ता है। ऐसी ही कम्पन-स्थिति उपस्थित हो पड़ी थी आज से पाँच सहस्रवर्ष पूर्व के भारत में, जिसे उपशान्त किया था भगवान् ने मानवावतार लेकर। ऐसे पूर्णेश्वर भगवान् की सुप्रसिद्धा रासक्रीड़ा के ही कतिपय संस्मरण आज हम यत्र उपस्थित करने के लिए प्रयत्नशील हैं।

धर्मग्लानि के उपशम के लिए, धर्मसंस्थापन-द्वारा साधु-जनों के परित्राण के लिए ही भगवान् का मानुषावतार हुआ करता है। अवतार के द्वारा भगवान् को अपनी भगवत्ता नहीं स्थापित करनी है। अपितु मानव को ही अपने चरित्र-उपदेश-आदि से उद्बोधन प्रदान करना है। मानवेश्वर भगवान् जिस मानव का उद्धार करने के लिए प्रवृत्त हैं, उस मानव का स्वरूप-आत्मा, बुद्धि, मन, शरीर, इन चार पर्वों से चतुष्पर्वात्मक है, जैसा कि तृतीय खण्ड में स्पष्ट कर दिया गया है। अपने इन चार पर्वों से मानव अन्तर्निष्ठ-बहिर्मुखरूप से दो स्वरूपों में प्रवृत्त रहता है। आत्मा, और बुद्धि, दोनों के समन्वय से यही मानव अन्तर्निष्ठ है, जबकि मन और शरीर से यही मानव बहिर्मुख बना रहता है। सभी मानवों में ये दोनों भाव विकसित नहीं रहते। कितने एक मानव अन्तर्निष्ठ ही हैं कितने एक मानव बहिर्मुख ही हैं। तत्त्वचिन्तक-स्वाध्यायनिष्ठ मानव आत्मबुद्धि पथानुगामी बने रहते हुए जहाँ 'अन्तर्निष्ठ' माने जायँगे वहाँ केवल योग-क्षेम-परायण-मनःशरीरपथानुगामी मानव बहिर्निष्ठ' कहे जायँगे।

भगवान् क्यों कि मानवमात्र के समुद्धार के लिए अवतीर्ण हैं। अतएव इन्हें मानव के तथाकथित दोनों वर्गों के उद्बोधन के लिए अपने मानुषस्वरूप को दो विभिन्न जीवन-धाराओं में ही विभक्त करना पड़ता है। अबतक भगवान् के जितने अवतारों से भारतभूमि धन्य बनी है, उन सब अवतारों में एकमात्र भगवान् कृष्ण का ही मानुषावतार इस दृष्टिकोण का सर्वात्मना समर्थक बना

प्र हृदिक समन्वय कर लीजिए। जिस पारमेष्ठ्य आङ्गिरस अग्नि का पूर्व में उल्लेख हुआ है, वह वस्तुत अपने स्वरूप से अनिरुक्त कृष्णभावापन्न ही है। प्रकाश क्यापि-अग्नि का धर्म नहीं है। तभी तो–'आकृष्णेन रजसा वर्तमान०' इत्यादिरूप से और अग्नि को 'कृष्ण' ही माना गया है। इसी कृष्णभाव के कारण यह अग्नि मृग्यमाण बनता हुआ 'कृष्णमृग' नाम से प्रसिद्ध हुआ है वेदशास्त्र में जैसा कि—'मृगो न भीम कुचरो गिरिष्ठा' (ऋक्)—'अग्निर्वै कृष्णो भूत्वा चचार' इत्यादि मन्त्र-ब्राह्मण-वचनों से प्रमाणित है। इस मृग्यमाण, अतएव 'मृग' नामक त्रयीवेदतत्त्वात्मक कृष्णाग्निप्राण की जिस प्राणी में प्रधानता है, वह भी इसी नाम से, अर्थात् कृष्णमृग' नाम से प्रसिद्ध हो गया है, जो अत्यन्त ही पवित्र माना गया है महर्षियों के द्वारा। अतएव जिसके 'कृष्णाजिन' नामक चर्मास्तरण के बिना न तो हविर्यज्ञादि यज्ञकर्म ही सम्पन्न होते, एवं न यहाँ के द्विजाति को इसके परिधान के बिना यज्ञसूत्रधारणात्मक वेदस्वाध्यायाधिकार ही उपलब्ध होता। ऐसा है यह परम-भाग्यशाली भारतवर्ष, जिसमें त्रयीवेद का प्रतिरूप शिल्पात्मक कृष्णमृग स्वच्छन्द विचरण करता रहता है। करता क्या है?, करता था, जब कि इस देश की प्रजा वेदपुराणतत्त्व का अनुगमन करती हुई इसे अवश्य मानती थी। सम्भव है अब निकट भविष्य में ही संस्कृतिनिष्ठ महामहिम राष्ट्रपति महाभाग के अनुग्रह से यह तत्त्वनिष्ठाप्रचार पुन: राजर्षि मनु की इस स्मृति को जागरूक प्रमाणित करदे कि—

> कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः ।
> स ज्ञेयो यज्ञियो देशो, म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥
>
> —मनु: २।२३।

और फिर पाँच सहस्र वर्ष पूर्व के वैसे भारतवर्ष में जिसमें सम्भवत: तत्त्ववाद की मिलुप्तिमूला अधर्मभावना के ही कारण यहाँ के सनातन के दो प्रतिद्वन्द्वी विभिन्न दो श्रेणी के अनुगामी बने हुए थे। एक वर्ग कहता था-धर्म ही सब कुछ है तो दूसरा वर्ग कहता था कर्म ही सब कुछ है। धर्म-कर्म-कुछ नहीं-बस काम करो काम किए जाओ। यों कुनैष्ठिक सत्तामदान्ध दुर्योधन प्रमुख कौरवगण धर्मपथ का अतिक्रमण कर जहाँ केवल कर्म-क्षेत्र का ही उपयोग कर रहे थे वहाँ सत्तावञ्चित धर्मभीरु, नितान्त भावुक युधिष्ठिर-प्रमुख पाण्डव निष्ठापथ को विस्मृत कर केवल धर्मपथ के ही समर्थक बने हुए थे। यों एक इस कर्मक्षेत्र में

विभक्त हो रहा था, तो दूसरा दल धर्मक्षेत्र का डिण्डिमघोष कर रहा था। क्या भयानक परिणाम हुआ इन दो क्षेत्रों की इस प्रतिद्वन्द्विता का ?, प्रश्न के सु-स-पूर्ण समाधान से सभी भारतीय सुपरिचित हैं। उसी का यह भीषण परिणाम है कि, महाभारतयुग में भारतराष्ट्र की जिस श्री का अभिभव हो गया था, वह आज तक पुनरावर्तित नहीं हो सकी। जब दो क्षेत्र ही यों राष्ट्रश्री राष्ट्रवैभव के सर्वनाश का कारण बन जाते हैं, तो जिस राष्ट्र में दुर्भाग्यवश अनेक क्षेत्र यहाँ परस्पर प्रतिद्वन्द्विता में प्रवृत्त हो जायँ, वहाँ क्या परिणाम विघटित हो पड़े गे ?, उस भयावह स्थिति के स्मरणमात्र से भी तटस्थ मानव का हृदय विकम्पित हो पड़ता है। ऐसी ही कम्पन स्थिति उपस्थित हो पड़ी थीं आज से पाँच सहस्रवर्ष पूर्व के भारत में, जिसे उपशान्त किया था भगवान् ने मानवावतार लेकर। ऐसे यूर्णेश्वर भगवान् की सुप्रसिद्ध रासक्रीड़ा के ही कतिपय संस्मरण आज हम अत्र उपस्थित करने के लिए प्रयत्नशील हैं।

धर्मग्लानि के उपशम के लिए, धर्म संस्थापन-द्वारा साधु-जनों के परित्राण के लिए ही भगवान् का मानुषावतार हुआ करता है। अवतार के द्वारा भगवान् को अपनी भगवत्ता नही स्थापित करनी है। अपितु मानव को ही अपने चरित्र-उपदेश-आदि से उद्बोधन प्रदान करना है। मानवेश्वर भगवान् जिस मानव का उद्धार करने के लिए प्रवृत्त हैं, उस मानव का स्वरूप-आत्मा, बुद्धि, मन, शरीर, इन चार पर्वों से चतुष्पर्वात्मक है, जैसा कि तृतीय खण्ड में स्पष्ट कर दिया गया है। अपने इन चार पर्वों से मानव अन्तर्निष्ठ-बहिर्भावुकरूप से दो स्वरूपों में प्रवृत्त रहता है। आत्मा, और बुद्धि दोनों के समन्वय से यही मानव अन्तर्निष्ठ है, जबकि मन और शरीर से वही मानव बहिर्भावुक बना रहता है। सभी मानवों में ये दोनों भाव विकसित नही रहते। कितनें एक मानव अन्तर्निष्ठ ही हैं कितनें एक मानव बहिर्भावुक ही हैं। तत्वचिन्तक-स्वाध्यायनिष्ठ मानव आत्मबुद्धि पथानुगामी बने रहते हुए यहाँ 'अन्तर्निष्ठ' माने जायेंगे यहाँ केवल योग-क्षेम-परायण-मन शरीरपथानुगामी मानव बहिर्निष्ठ' कहे जायेंगे।

भगवान् क्यों कि मानवमात्र के समुद्धार के लिए अवतीर्ण हैं। अतएव इन्हें मानव के यथाकथित दोनों वर्गों के उद्बोधन के लिए अपने मानुषस्वरूप को दो विभिन्न जीवन-धाराओं में ही विभक्त करना पड़ता है। अबतक भगवान् के जितने अवतारों से भारतभूमि धन्य बनी है, उन सब अवतारों में एकमात्र भगवान् कृष्ण का ही मानुषावतार इस दृष्टिकोण का सर्वात्मना समर्थक बना

है। भगवान् कृष्ण ने ही अपनी जीवन धारा को दोनों प्रकार के मानवों के समुद्धार के लिए अपने आपको सख्या योगेश्वर-भागवश्वर रूप से दो मार्गों में विभक्त प्रमाणित कर लिया है। यही इनके पूर्णावतारत्व का मौलिक रहस्य है जब कि अन्य अवतार अंशावतार ही माने गए हैं। इसी स्थिति का लोकभाषा में यों भी समन्वय किया जा सकता है।

पूर्णावतार भगवान् माथुर कृष्ण के नन्दनन्दन, तथा वसुदेवनन्दन, भेद से दो विभिन्न स्वरूप उपवर्णित हैं पुराणों में। मनःशरीरानुबन्धी लोकानुगत मानवीय स्वरूप ही नन्दनन्दन है, जो भावुक भक्त-समाज का एवं भावुक मनःप्रधान स्त्रीवर्ग, तथा भावुक शरीरप्रधान बालबुद्धि-मानवों का आराध्य माना गया है। श्रीकृष्ण की सम्पूर्ण बाललीलाओं का मनःशरीरानुबन्धी इस लौकिक नन्दनन्दन-कृष्णस्वरूप में ही अन्तर्भाव है। आत्मा, तथा बुद्ध्यनुबन्धी अलौकिक अमानवीय स्वरूप ही वसुदेवनन्दन है जो आत्मनिष्ठ आरुढ़, मुक्त-योगियों में, तथा बुद्धिनिष्ठ आरुरुक्षु मुमुक्षु-योगियों में-'वासुदेव' नाम से भी प्रसिद्ध है। धर्म्म ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य्य, नामक सुप्रसिद्ध चार 'भग' भावों से अनुप्राणित आर्षविद्या-सिद्धविद्या-राजर्षिविद्या-राजविद्या, नाम की 'भग-विद्या' ओं का स्वरूप-विश्लेषक आत्म-बुद्धि-सत्त्व-सम्मत गीताशास्त्र भगवान् कृष्ण के आत्मबुद्धि स्वरूपानुगत वासुदेव-स्वरूप का ही संग्राहक है, जो कि गीतोपदेष्टा वासुदेव भगवान् 'योगेश्वर' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं, जैसा कि-'यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्द्धरः' इत्यादि चिरन्तन-सूक्ति से भी प्रमाणित है। उधर मनःशरीरानुबन्धी बाललीलापरायण भगवान् नन्दनन्दन का लौकिक मानवीय रूप-'भोगेश्वर' नाम से प्रसिद्ध हुआ है यत्रतत्र भागवती कथाओं में। भावुक श्रीजयदेव कवि ने भी भगवान् के इसी 'भोगेश्वर' रूप का ही यशोगान किया है अपने सुप्रसिद्ध गीतगोविन्द नामक लोककाव्य में, जो काव्य मनःशरीरपरायण भावुक भक्तों को विभोर बना देने की क्षमता रख रहा है, जैसा कि उनके इस प्रथम माङ्गलिक पद्य से ही स्पष्ट है—

मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै-
र्नक्तं भीरुरयं, त्वमेव तदिमं राधे! गृहं प्रापय।
इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुञ्जद्रुमं-
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः॥
—श्रीगीतगोविन्द

यदि हरिस्मरणे सरस मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम् ।
मधुरकोमलकान्तपदावलीं शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम् ॥

बाललीलाओं से आकर्षितमना श्रीश्रीनन्दकुमार अपनी अभिन्न-सहचारिणी श्रीश्रीराधे को साथ लेकर यमुनातटवर्ती निकुञ्जों में कुञ्जविहार के लिए बाबानन्द से आज्ञा प्राप्त कर लेते हैं। कृष्ण अभी अल्पवयस्क हैं, अधिक से अधिक १०-११ वर्ष के-वात्सल्य-रसपरिपूर्ण बाबानन्द की दृष्टि में। इधर श्रीराधे अवस्था में बड़ी हैं श्रीनन्दनन्दन से। अतएव महद्भाग्यशाली बाबानन्द श्रीराधे को लक्ष्य बना कर कह रहे हैं कि, "हे राधे! तुम कुञ्जविहार के लिए जाती तो हो। किन्तु हमारा यह अनुरोध विस्मृत न कर बैठना कि, तुम्हें ही इस अबोध बालकृष्ण की सँभाल करनी है। देखो! रात का अँधेरा घना होता आ रहा है, उधर नभोमण्डल घनघोर श्यामल मेघों से चारों ओर से ढँका आ रहा है। साथ ही विशाल तमालद्रुमों के घनीभूत आवरणों से भी कुञ्ज-प्रदेश अधिकाधिक सघन बना हुआ है। और इधर सर्वथा अल्पवयस्क बालकृष्ण अपने बचपन के कारण स्वभाव से ही डरपोक है। इसलिए सावधानी से तुम्हें ही इसका संरक्षण करना है। एवं कुञ्ज-भ्रमण के अनन्तर तुम्हें ही इसे क्षेमकुशल-पूर्वक घर ले आना है' इत्यादि भावपूर्ण स्तुति विस्पष्ट शब्दों में भगवान् कृष्ण के मन-शरीरानुबन्धी बालभावानुप्राणित नन्दनन्दनात्मक उस अलौकिक भी लौकिक स्वरूप का ही स्पष्टीकरण कर रही है, जिस अलौकिक-भावगर्भित इत्थंभूत लौकिक स्वरूप का परम-वीतरागी आत्मचिन्तननिष्ठ तत्त्वयोगी इन शब्दों में बखान करते हुए अपनी योगनिष्ठा को धन्य बनाते रहते हैं—

किं कस्मै कथनीय, कस्य मन प्रत्ययो भवतु।
गोधूलिधूसराङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्त ॥

सुनते हैं, एकबार एक वेदान्तनिष्ठ वीतराग संन्यासी नन्दद्वार की ओर से गमन कर रहे थे। वहीं नन्दद्वार के धूलि-धूसरित गारज-समाप्लुत गोष्ठ के समीप के प्राङ्गण में शिशु बालकृष्ण घुटनों के बल इतस्ततः क्रीड़ा कर रहे थे। वेदान्तनिष्ठ संन्यासी की दृष्टि सहसा इस बालविभूति की ओर आकर्षित हो पड़ती है और तत्क्षण ही इनका अन्तस्तल इसलिए केन्द्रच्युत हो पड़ता है कि, जिस निर्गुण-निरञ्जन-शान्तैकघन-वेदान्तपुरुष के चिन्तन में ये सम्लीन थे, वही आज

इस रूप से सगुणरूप का बालरूप में ही इनकी दृष्टि का विषय बन रहा है और मैं मानता इनके मुख में यही निर्गुण [illegible] रहा ! हम जिसने कहें ! ऐसे क्या कहें ?, और कहें भी तो कौन हमारी इस बात पर विश्वास करेगा कि, गगन-गाभूमि से पूर्णब्रह्म बना हुआ साक्षात् निर्गुण वेदान्तपुरुष ही आज इस नन्दप्राङ्गण में सगुणरूप धारण कर नृत्य कर रहा है" ।

ज्ञान-वैराग्य-समन्वित भक्तिरस के प्रतिपादक 'श्रीमद्भागवत' नामक सुप्रसिद्ध सन्मान्य ग्रन्थ में भगवान् के योगेश्वर-भगेश्वर, दोनों ही स्वरूपों का यथावसर-यथाप्रसङ्ग यत्रतत्र उपासक-अधिकारी की योग्यता के अनुपात से निरूपण हुआ है, किन्तु इन दोनों विभिन्न स्वरूपों को यथावत् समन्वय कर लेना असाधारण-पुराणप्रज्ञा का ही क्षेत्र है। मादृश प्राकृत मानव तो पूर्णावतार पूर्णेश्वर के इस उभयविध यशोवर्णन-श्रवण-मात्र पर ही विश्रान्त है। बाल भावानुप्राणित-मन शरीरनिबन्धन लोकानुगत 'श्रीनन्दनन्दनस्वरूप' ही अस्मदादि प्राकृत सर्वसाधारण वर्ग में प्रसिद्ध है जब कि आत्मबुद्धिनिबन्धन, चतुर्विध विद्या बुद्धियों से अनुप्राणित अलौकिक योगेश्वरात्मक 'श्रीवासुदेव' स्वरूप केवल तत्त्वसाक्षात्कर्त्ता योगियों के लिए ही ध्यानगम्यमात्र ही माना गया है। स्वयं भगवान् ने अपने आत्मनिबन्धन-बुद्धियोगप्रतिपादक-गीताशास्त्र में अपने इस आत्मबुद्ध्यनुगत योगेश्वरात्मक अलौकिक वासुदेवस्वरूप को अनेक जन्मों की तपश्चर्या के अनन्तर व्यक्त होने वाले शुद्ध-सत्त्वभावापन्न निर्मल ज्ञानमात्र से ही प्राप्तव्य घोषित किया है, जैसाकि इस गीतावचन से ही प्रमाणित हो रहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
'वासुदेवः सर्व' मिति, स महात्मा सुदुर्लभः ॥

—गीता

श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध में लोकोत्तरा-रसपरिपूर्णा-प्रसादगुणान्विता प्राञ्जलभाषा में उपवर्णित भगवान् कृष्ण के बालभावनिबन्धन श्रीनन्दनन्दनस्वरूप से अनुप्राणित 'रासपञ्चाध्यायी' प्रकरण में बाह्य दृष्टि से जहाँ भगवान् के 'भोगेश्वर' स्वरूप का प्राधान्य प्रतीत हो रहा है, वहाँ सुसूक्ष्म-दृष्ट्या यही 'रास-चरित' भगवान् के आत्मबुद्धिनिबन्धन योगेश्वर-स्वरूप की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है, जैसाकि तत्प्रकरण के-'आत्मन्यवरुद्धसौरत'-'आत्मा-

रामोऽप्यरीरमत्'-'यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः' इत्यादि पद्यांशों से स्पष्ट प्रतिध्वनित है। सम्पूर्ण भागवत में 'रासपञ्चाध्यायी ही एकमात्र वैसा अलौकिक-अद्भुत-प्रकरण है, जिसमें भगवान् के योग-भोगात्मक दोनों स्वरूपों का तत्त्वदृष्टि से वैसा लोकोत्तर समन्वय हुआ है, जिसके स्मरणमात्र से ही मादृशी लौकिकी स्वल्पप्रज्ञा तो सर्वात्मना आत्मविस्मृत ही बन जाती है। तो आइए! भगवान् के योग-भोग-स्वरूपों से समन्वित, अतएव सर्वसमन्वयात्मक अतएव च पूर्णभावात्मक रासप्रकरण के कुछ एक मूल-सम्मरणों के मनन-निदिध्यासन से सम्मिलित रूप से आज के इस ऐतिहासिक वातावरण में अपने आपको धन्य बना लेने का महद्भाग्य प्राप्त कर लें।

सुनते हैं-इस भाग्यशालिनी धरित्री के परमधन्य विश्वविश्रुत पारमेष्ठ्य-ब्रजधाम के क्रोड़ में धर्मसंस्थापन के लिए, एवं संस्कृतिनिष्ठ आर्य मानवों के कल्याण के लिए जब भगवान् श्रीकृष्ण का पूर्णावतार हुआ, तो ब्रह्मा-इन्द्र-आदि देवताओं नें भगवान् के इस 'पूर्णावतारत्व' की परीक्षा प्रारम्भ कर दी। अपनी परीक्षाओं से पूर्णरूपेण तुष्ट-तृप्त बनते हुए इन सभी ब्रह्मेन्द्रादि देवताओं नें भगवान् के इस पूर्णावतारस्वरूप के प्रति अपनी अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ समर्पित कर अपने आप को धन्य-कृतकृत्य अनुभूत किया। इस देवपरीक्षाकाण्ड के अनन्तर इस परीक्षेतिवृत्त से परिचित हो पड़ने वाले एक वैसे महाप्राण देव का अन्तर्जगत् संक्षुब्ध हो पड़ा श्रोत्यस्मिकरूप से, जो आजतक विश्व के इतिहास में किसी से भी पराभूत न हुआ था। अपने सुतीक्ष्ण पञ्च-शरामभागों के प्रचण्ड प्रहारों से शम्भु-स्वयम्भु-विष्णु, आदि त्रैलोक्याधिष्ठाता सर्वसमर्थ भी जिन देवताओं को जिसने रहस्य-कर्म में दीक्षित कर लेने का महान् गौरव प्राप्त कर लिया था, अपने तृतीय चक्षुरुन्मीलन व्यापार से भस्मसात् कर देने वाले, अतएव 'कामारि' नाम से प्रसिद्ध भगवान् शङ्कर ने जिसे 'अनङ्ग' तक बना डाला था, उस अनङ्ग के प्रभाव से अन्तर्योगरता स्वयं कामारि भी अपने आपको न बचा सके थे, फलस्वरूप स्त्रीभाव का स्वस्कन्ध पर आरूढ़ किए हुए उन्मादमुद्रा से जो शङ्कर त्रैलोक्य में घूमते रहे थे, ऐसे अनङ्गदेव मानो कवि की इस कल्पना को—

"क्रोध प्रभो ! संहर संहरेति—
यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति ।
तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा—
भस्मावशेषं मदनं चकार ॥"

इस दर्पोक्ति को धूमिधूमरित ही करते हुए, और फिर वैसे सर्वदर्पदलन कामदेव जिन्होंने मर्य्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम जैसे अमानव अवतार-पुरुष को इसकी मनोनिकम्पना आर्तवाणी निकलवाने के लिए विवश बना दिया था कि—

"रे वृक्षा पर्वतस्था गिरिगहनलता वायुना वीज्यमाना—
रामोऽहं व्याकुलात्मा दशरथतनयः शोकशुक्रेण दग्ध
बिम्बोष्ठी चारुनेत्रा सुविपुलजघना बद्धनागेन्द्रकाञ्ची—
हा सीता केन नीता मम हृदयगता को भवान् केन दृष्टा ।

ऐसे विश्वविजयी मदोन्मत्त रतिपति ने जब यह सुना कि, अब में कोई वैसी शक्ति प्रादुर्भूत हो पड़ी है जिसने अनायास ही ब्रह्मेन्द्रादि देवताओं का दर्पदलन कर अपने आप को पूर्णविजयी-पूर्णावतार प्रमाणित कर दिया है, तो सहसा वे आपादमस्तक विक्षुब्ध हो पड़े । अंततः भी मनःसंयम सुरक्षित न रख सके वे मनोजवेगता इस घटना से परिचित होने के अनन्तर । एवं अपनी अप्रतिहता-अपराजिता-विश्वविजयिनी-दुर्द्धर्ष पञ्चसायक-शक्ति का अभिनिवेश अभिमान करते रहने वाले कामदेव परीक्षण के लिए एक दिन भगवान् कृष्ण के सम्मुख सहसा उपस्थित हो पड़ने की मूर्खतापूर्ण धाष्टर्य-धृष्टता कर ही तो बैठे ।

भगवान् ने शिष्टजन-सम्मत स्वागत-आतिथ्य किया दर्पमदोन्मत्त इन कामदेव महानुभाव का अपने सहज मन्दस्मित भाव से । इस शिष्टाचार-भाव के उपरत होते ही अपने स्वभाव से ही नम्र-लज्जा-शिष्टता-नम्रता-शील-विवेक-आदि आदि नैतिक सद्गुणों को दूर से ही प्रणामाञ्जलि समर्पित कर देने में परम चतुर, भगवान् की आत्मबुद्धि-निकम्पना भगवत्ता से सदा से ही अपरिचित बने रहने वाले केवल मनोवीणी अभिमानी मनोजवेग भगवान् को लक्ष्य बना कर इत्यपर अनर्गल प्रलाप करने ही तो लग पड़े कि—

"हमने सुना है-आप पूर्णावतार हैं । यह भी कर्णाकर्णिपरम्परया सुना गया है कि, एक पाषाणखण्ड-गोवर्द्धन के छल से इन्द्रवर्षणकोप से व्रजवासियों को बचा लेने जैसी एक सामान्य सी घटना के माध्यम से, एवं ब्रह्मा के द्वारा अपहृत गोवत्सों का ढूँढ निकालने जैसे एक छोटे से काम से आपने अपने इन ब्रह्मेन्द्रादि देवों को परास्त कर देने की महती भ्रान्ति का भी अनुगमन कर लिया है। किन्तु सर्वथा व्यर्थ है आपके ये पौरुषाभासलक्षण सामान्य पौरुष तबतक, जबतक कि आप इस कामदेव की शक्ति से परिचित नहीं हो जाते ! । आपको यह स्मरण रखना चाहिए कि, आजतक इस मुझ कामदेवता को त्रैलोक्य में कोई भी परास्त नही कर सका है । अतएव स्पष्ट है कि, जबतक आप अमुक स्पर्धाओं-अर्थात् शर्तों के माध्यम से युद्ध में समत्वाम्युत्थरूप से हमें सर्वात्मना पराजित नहीं कर लेते, तबतक कम से कम विश्व का कोई भी प्रज्ञाशील तो आपको कदापि पूर्णावतार नही मान सकता नही कह सकता । बोलिए ! शीघ्र उत्तर दीजिए ! क्या स्वीकार है आपको हमारा यह रणनिमन्त्रण, ! क्या अभिमत है आपको हमारी यह चिनौती ! । ' ।

अन्तर्योगनिष्ठ-बहिर्योगपरायण सर्वैश्वर्य्यपरिपूर्ण भगवान् ने कामदेव के इस रणनिमन्त्रण को, आह्वान का मानो गजनिमीलिकादृष्टि से ही देखा और उपेक्षा-पूर्वक ही मानो सुना भी । अपने सहजसिद्ध अलौकिक दिव्य मन्दस्मित-मन्दहासात्मक उपहास के माध्यम से ही मानो मौनभाषा में ही कामदेव का भयपरक-परीक्षणात्मक यह रणनिमन्त्रण साभिनन्दन स्वीकार ही कर लिया गया । स्वयं कामदेव की ओर से ही ये स्पर्धाएँ भी निर्धारित हो गई कि—

(१)-पहिली स्पर्धा यह रहेगी कि युद्ध का ऋतुकाल, अर्थात् समय वह रहेगा, जिसमें केवल हमारा ही-अर्थात् एकमात्र कामदेव का ही प्राकृतिक बल-पौरुष पूर्णरूप से सुविकसित रहता है । अर्थात् शरद्-ऋतु की शुभ्रा निर्म्मला ज्योत्स्नाएँ ही युद्धकाल माना जायगा ।

(२)-दूसरी स्पर्धा यह रहेगी कि, युद्ध में आप किसी भी प्रकार के दुर्ग का आश्रय न ले सकेंगे, किलेबन्दी न कर सकेंगे । अपितु युद्ध सर्वथा निरावरण प्रान्त में-खुले मैदान में-हीं होगा ।

(३)-तीसरी स्पर्धा यह मानी जायगी कि, मैं स्वयं सब प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का इस युद्ध में स्वच्छन्दता से उपयोग कर सकूँगा, जब कि आप किसी भी

प्रकार के शस्त्रास्त्र का स्मरण भी न कर सकेंगे। सर्वथा निरस्त्र-शस्त्र-निःशस्त्र रह कर ही सायाग्नास्त्र-सुसज्जित सुभट कामदेवता के प्रहारों से आपको सम्मुख करना पड़ेगा!

(४)—और हाँ—चौथी सन्धा यह रहेगी कि, आवश्यकता पड़ने पर मैं इच्छानुरूप शस्त्रास्त्रों से पूर्णरूपेण सुसज्जित प्रबल सैन्यबल का भी आमन्त्रण कर लूँगा यथावसर, जब कि आप सेनाबल से सर्वथा असंस्पृष्ट ही माने जायेंगे!

इसप्रकार एकपक्षीय-समसमन्वित सन्धाओं की स्वीकृति पर दोनों का युद्धारम्भ हो गया। तदनन्तर दोनों ही योद्धा निर्धारित उपयुक्त युद्ध-समय तक के लिए स्व स्व स्थानों की ओर परावर्तित हो गए। कालान्तर में सन्धा-सम्मत निश्चित समय के समुपस्थित होते ही क्या हुआ?, सुनिए महाभागवत-स्वयं श्रीशुकमुनि के ही मुखारविन्द से—

श्रीशुक उवाच—भगवानपि 'ता' रात्री शरदोत्फुल्लमल्लिका।
वीक्ष्य रन्तु, मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रित॥।

'हे परीक्षित! जिन रात्रियों में मल्लिकापुष्प सुविकसित रहते हैं, 'उन' शरत्प्रभव की निर्मल-प्रकाशित रात्रियों को आया देख कर योगमाया से समन्वित-महामायावच्छिन्न भगवान् ने भी रमण करने की कामना प्रकट की', यह है उक्त शुकवचन का अक्षरार्थ।

विस्मृतिगुण के, किंवा दोष के सहज उपासक मनोभव-मूर्ति कामदेव तो पूर्व-प्रतिज्ञात समय भूल गए थे। किन्तु त्रिकालसाक्षी योगमायामय, अर्थात् योगेश्वर भगवान् कैसे विस्मृत कर सकते थे अपने सत्यसंकल्प को!, कामदेव के ही द्वारा निर्धारित, किन्तु स्वयं कामदेव के द्वारा विस्मृत कामैतिहासिक-समय के प्राप्त होते ही स्वयं अपनी ही ओर से भगवान् मानो कामदेव का सान्निध्य करते हुए ही, इस स्मृति से मानो प्रथम भूमिका में ही कामदेव का दर्प-दलन करते हुए ही भगवान् ने रमण करने की इच्छा प्रकट कर डाली। ध्यान दीजिए! —'ता रात्रीः' वाक्य पर। उन रात्रियों को! जिन रात्रियों को?, जिनके लिए कि किसी समय कामदेव के साथ प्रतिज्ञात बने थे भगवान्। यह स्मरण रहे, प्रत्येक-शब्द-प्रत्येक वाक्य अपनी एक रहस्यपूर्ण व्यञ्जना रख रहा है, जिसके लिए तो वेदशास्त्रज्ञ,

पुराणशास्त्र का भी ऐकान्तिक चिन्तन ही अपेक्षित है। कदापि सामयिक कथाओं के द्वारा उस रहस्य का स्पष्टीकरण सम्भव नहीं है *। उदाहरण के लिए 'मल्लिका' शब्द को ही लीजिए। जिसे लोकभाषा में 'बेला'–'मोगरा' कहा जाता है, वही संस्कृत-साहित्य में 'मल्लिका' कहलाया है। पुराणशास्त्र ने तो इस 'मल्लिका' के स्वरूप-निरूपण के लिए एक स्वतन्त्र आख्यान ही व्यवस्थित किया है A। वहाँ कहा गया है कि, जब कामदेव भगवान् शङ्कर पर प्रहार करने के लिए इतस्ततः घूमते हुए भगवान शङ्कर को अपना लक्ष्य बना रहे थे, तो सहसा इनके तृतीय नेत्र से कामदेव भस्म होने लगे। सर्वप्रथम इनका शस्त्र ही जलने लगा। जलता हुआ वही शर पाँच प्रकार के पुष्परूपों में परिणत हुआ। शर का जो सर्वश्रेष्ठ विद्रुममणि–विभूषित ऊर्ध्व भाग था, वही मल्लिका–पुष्परूप में परिणत हुआ। देखिए।

ऊर्ध्वं मुष्टया अध कटया स्थान विद्रुमभूषितम्।
तस्माद्बहुपुटा मल्ली सञ्जाता विविधा मुने!॥

इसीलिए भारतीय कवियोंने मल्लिका को पञ्चसायक–कामदेव का ही पुष्प माना है। सुनिए।

मल्लिकामुकुले चण्डि! भाति गुञ्जन मधुव्रत।
प्रयाणे पञ्चबाणस्य शङ्खमापूरयन्निव॥

—काव्यादर्श

पद्य का यही अक्षरार्थ है कि, "मल्लिकापुष्प का विकास ऐसा ही है, मानो किसी पर प्रहार करने के लिए जब कामदेव सशस्त्र होकर अपने प्रासाद से निकलते हैं तो इनके इस निर्गमन की सूचना इनके गण आगे आगे शङ्ख बजाते हुए देते जाते हैं"। स्पष्ट ही भागवतकार का 'शरदोत्फुल्लमल्लिकाः' वाक्य कामप्रक्रिया की ही सूचना दे रहा है। अब इस संबन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न शेष रह जाता है यह कि, इन्हीं ऋतुओं में वसन्त–ऋतु ही कविसम्प्रदाय

* 'वैहायसकृष्णरहस्य' नामक स्वतन्त्र निबन्ध में 'रासपञ्चाध्यायी' के तात्विक स्वरूप–विश्लेषण की चेष्टा हुई है।

A–देखिए वामनपुराण १ अध्याय १७।

प्रकार के शस्त्रास्त्र का स्मरण भी न कर सकेंगे। सर्वथा निरस्त्र-शस्त्र-निर्लेप रह कर ही गर्वास्त्रशस्त्र-सुसज्जित मुझ कामदेवता के प्रहारों से आपको सामुख्य करना पड़ेगा।

(४)—और हां—चौथी स्पर्धा यह रहेगी कि, आवश्यकता पड़ने पर मैं इच्छानुरूप शस्त्रास्त्रों से पूर्णरूपेण सुसज्जित प्रबल सैन्यबल का भी आमन्त्रण कर सकूँगा यथावसर, जब कि आप सेनाबल से सर्वथा असंस्पृष्ट ही माने जायेंगे।

इसप्रकार एकपक्षीय-पक्षसमन्विता स्पर्धाओं की स्वीकृति पर, दोनों का मुद्राङ्कन हो गया। अनन्तर दोनों ही योद्धा निर्धारित उपयुक्त युद्ध-समय तक के लिए स्व स्व स्थानों की ओर परावर्तित हो गए। कालान्तर में स्पर्धा-सम्मत निश्चित समय के समुपस्थित होते ही क्या हुआ ?, सुनिए महाभागवत-स्वयं श्रीशुकमुनि के ही मुखारविन्द से—

श्रीशुक उवाच—भगवानपि 'ता' रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

'हे परीक्षित! जिन रात्रियों में मल्लिकापुष्प सुविकसित रहते हैं, 'उन' शरदृतु की निर्मल-प्रकाशित रात्रियों को आया देख कर योगमाया से समन्वित—महामायावच्छिन्न भगवान् ने भी रमण करने की कामना प्रकट की', यह है उक्त शुकवचन का अक्षरार्थ।

विस्मृतिगुण के, किंवा दोष के सहज उपासक मनोभव-मूर्ति कामदेव तो पूर्व-प्रतिज्ञात समय भूल गए थे। किन्तु त्रिकालदर्शी योगमायामय, अर्थात् योगेश्वर भगवान् कैसे विस्मृत कर सकते थे अपने सत्यसंकल्प को ?, कामदेव के ही द्वारा निर्धारित, किन्तु स्वयं कामदेव के द्वारा विस्मृत कामोचित समय के प्राप्त होते ही स्वयं अपनी ही ओर से भगवान् मानो कामदेव का सान्निध्य करते हुए ही, इस स्मृति से मानो प्रथम भूमिका में ही कामदेव का दर्प-दलन करते हुए ही भगवान् ने रमण करने की इच्छा प्रकट कर डाली। ध्यान दीजिए ! —'ता रात्रीः' वाक्य पर। उन रात्रियों को। जिन रात्रियों को ?, जिनके लिए कि किसी समय कामदेव के साथ प्रतिज्ञाबद्ध बने थे भगवान्। यह, स्मरण रहे, प्रत्येक-शब्द-प्रत्येक वाक्य अपनी एक रहस्यपूर्णा व्यञ्जना रख रहा है, जिसके लिए तो वेदशास्त्र

पुराणशास्त्र का भी ऐकान्तिक चिन्तन ही अपेक्षित है। कदापि सामयिक कथाओं के द्वारा उस रहस्य का स्पष्टीकरण सम्भव नहीं है *। उदाहरण के लिए 'मल्लिका' शब्द को ही लीजिए। जिसे लोकभाषा में 'बेला'–'मोगरा' कहा जाता है, वही संस्कृत-साहित्य में 'मल्लिका' कहलाया है। पुराणशास्त्र ने तो इस 'मल्लिका' के स्वरूप-निरूपण के लिए एक स्वतन्त्र आख्यान ही व्यवस्थित किया है A। वहाँ कहा गया है कि, जब कामदेव भगवान् शङ्कर पर प्रहार करने के लिए इतस्ततः घूमते हुए भगवान् शङ्कर को अपना लक्ष्य बना रहे थे, तो सहसा इनके तृतीय नेत्र से कामदेव भस्म होने लगे। सर्वप्रथम इनका शस्त्र ही जलने लगा। जलता हुआ वही शर पाँच प्रकार के वृक्षरूपों में परिणत हुआ। शर का जो सर्वश्रेष्ठ विद्रुममणि–विभूषित ऊर्ध्व भाग था, वही मल्लिका–पुष्परूप में परिणत हुआ। देखिए।

ऊर्ध्वं मुष्टया अथ कटया स्थान विद्रुमभूषितम्।
तस्माद्बहुपुटा मल्ली सञ्जाता विविधा मुने! ॥

इसीलिए भारतीय कवियोंने मल्लिका को पञ्चसायक–कामदेव का ही पुष्प माना है। सुनिए।

मल्लिकामुकुले चण्डि! भाति गुञ्जन् मधुव्रतः।
प्रयाणे पञ्चबाणस्य शङ्खमापूरयन्निव ॥
—काव्यादर्श

पद्य का यही अक्षरार्थ है कि, "मल्लिकापुष्प का विकास ऐसा ही है, मानो किसी पर प्रहार करने के लिए जब कामदेव सशस्त्र होकर अपने प्रासाद से निकलते हैं, तो इनके इस निर्गमन की सूचना इनके गण आगे आगे शङ्ख बजाते हुए देते जाते हैं।" स्पष्ट ही भागवतकार का 'शरदोत्फुल्लमल्लिका' वाक्य कामशक्तिप्रसार की ही सूचना दे रहा है। अब इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न शेष रह जाता है यह कि, 'ऋतुओं में वसन्त–ऋतु ही कविसम्प्रदाय

---

* 'वैहायसकृष्णारहस्य' नामक स्वतन्त्र निबन्ध में 'रासपञ्चाध्यायी' के सात्त्विक स्वरूप–विश्लेषण की चेष्टा हुई है।

A–देखिए वामनपुराण ६ अध्याय।

में कामदेवानुरूपा ऋतु मानी गई है । इसीलिए समस्त कामपरायण कवियों ने इसे 'ऋतुराज' कहा है, जैसाकि कविश्रेष्ठ के इस पद्य से प्रमाणित है-

> द्रुमा सपुष्पा, सलिल सपद्म —
> स्त्रिय' सकामा, पवन सुगन्धि ।
> सुखा प्रदोषा, दिवसाश्च रम्या —
> सर्व्वं प्रिये ! चारुतर वसन्ते ॥
>
> —ऋतुसंहारकाव्य

मनस्त्वपरायण यहाँ के कविगण उन्मत्त बने रहते हैं-'वास न्त्वका वासरा' के उद्घोष से । यदि यों प्रकृत्या वसन्त ऋतु ही कामदेव के लिए उपयुक्त ऋतु है, तो भागवतकार ने शरद् ऋतु को कामदेव के अनुरूप समय कैसे, और क्यों बतलाया ? । अत्यन्त ही सूक्ष्म तत्त्ववाद से सम्बद्ध है इस प्रश्न का समाधान, जिसका वैदिक नाक्षत्रिक यज्ञ से ही सम्बन्ध है, जिसका संक्षिप्त दिग्दर्शन भी असम्भव है आवके वक्तव्य में । कुतूहलोपशममात्र के लिए दो शब्दों में यही निवेदन कर दिया जाता है कि, भगवान् कृष्ण पूर्णावतार हैं । जिसका अर्थ है अव्ययेश्वर–विश्वेश्वर में जितनी भी पूर्ण विभूतियाँ हैं, उन का इस अवतारपुरुष में अवतरण हुआ है । स्वयम्भू का वेदप्रजापतिरूप प्रतिष्ठातत्त्व भी यहाँ आया है, जिसका निदर्शन वेदानुगत भारसमतुलनरूप गोवर्द्धन-धारण बना हुआ है । परमेष्ठी का अंश भी यहाँ अवतरित है, जिसका गोलोकादिरूप से पूर्व में दिग्दर्शन कराया ही जा चुका है । स्वयं भागवत पारमेष्ठ्य-सारस्वत शास्त्र नाम से ही विद्वत्-सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है । 'परमेष्ठ्यपथ' रूप से स्पष्ट ही इनके पारमेष्ठ्य-रूप का भागवत में निरूपण हुआ है । वंशीवादन भी इसी पारमेष्ठ्य-धर्म का प्रतीक है, जिसका पारमेष्ठिनी सरस्वती-वाक् से सम्बन्ध है । हिरण्मयमूर्त्ति सूर्य का भाग भी यहाँ सर्वात्मना समन्वित है, जिसका भौतिक प्रतीक जहाँ पीताम्बर है वहाँ प्राणात्मक प्रतीक बुद्धियोगात्मक गीता का तत्त्ववाद है । और हिरण्मय-मण्डल से अनुप्राणिता केनोपनिषत् की 'हैमवतीउमा' नाम की चिच्छक्ति ही भागवताख्य की श्रीश्रीपीताम्बरा भगवती है । जहाँ से महाभारत में गीता का आरम्भ होता है, उससे पूर्व ही भगवान् कृष्ण अपने से अभिन्न इस चिच्छक्तिरूपा गौरी हैमवती उमा के अनुग्रह से अपने प्रियसखा अर्जुन को दीक्षित करते हैं, जैसाकि महाभारतीय सुप्रसिद्ध स्तवस्थल के 'पीताम्बरास्तोत्र' से स्पष्ट है । एवमेव पार्थिव-

भाव भी भगवान् में सर्वात्मना व्यक्त हैं, जिनका ही श्रीमद्भागवत में विशेषरूप से उपबृंहण हुआ है। शेषभूत चान्द्र धर्म भी यहाँ सर्वात्मना व्यक्त हैं। और स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-भूपिण्ड-चन्द्रमा-इन पाँचों विश्वपर्वों के शक्ति-गुण-धर्म-सर्वात्मना पूर्णरूप से भगवान् में व्यक्त हुए हैं। एवं यही इनका पूर्णावतारत्व है। इन विश्वधर्मों में से भगवान् की रासक्रीड़ा का प्रधानरूप से चान्द्र पर्व से ही सम्बन्ध है। उसी रहस्य के सम्बन्ध में यहाँ दो शब्द निवेदन कर देने हैं।

'ब्रह्म कृष्णारुच नोऽवतु' इत्यादि यजुर्वेद-मन्त्रानुसार चन्द्रमा प्राकृतिक नित्य-यज्ञ के ब्रह्मा माने गए हैं। एवं ये अपने स्वरूप से सर्वथा कृष्ण हैं। चन्द्रमा में आप जो प्रकाश देखते हैं, वह तो सूर्य्यरश्मियों का प्रतिफलनमात्र है, जैसाकि—

अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्।
इत्था चन्द्रमसो गृहे। (ऋक्संहिता) इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है।

'तरणिकिरणसङ्गादेष-पानीयपिण्डो-दिनकरदिशि चञ्चच्चन्द्रिका-भिश्चकास्ते' प्रसिद्ध ही है। हाँ, तो चन्द्रमा कृष्ण हैं, और यही हैं अधिदैवतमण्डल के रासविहारी 'कृष्णचन्द्र'। किन्तु राधा के बिना रास कैसा ? । राधा है वृषभानु की पुत्री। वह कौन है, और कहाँ है इस आधिदैविक रास में ? । अन्वेषण कीजिए नक्षत्रविद्या के माध्यम से। अश्विनी-नक्षत्र से आरम्भ कर रेवती-नक्षत्र पर्य्यन्त क्रान्तिवृत्त-मण्डल में २७ प्रधान नक्षत्र माने गए हैं। इनके ९-९-९ नक्षत्रों के तीन खण्ड प्रसिद्ध हैं। इन नक्षत्रों में एक नक्षत्र का नाम है 'विशाखा' नक्षत्र। इसे ही 'राधा' भी कहा है, जैसाकि-'राधा-विशाखा-पुष्ये तु' इत्यादि अमरवचन से स्पष्ट है। क्यों कहा गया इसे राधा ? । राधा का तात्पर्य्य है विश्व की व्यक्त-भूत्-सम्पत्ति, जिसकी उपलब्धि के पृथिवी, अर्थात् भूगोल, सूर्य्य, अर्थात् खगोल-ये दो ही प्रधान आलम्बन हैं। पृथिवी के प्राणदेवता अग्नि हैं, सूर्य्य के प्राणदेवता इन्द्र हैं, जैसाकि-'यथाग्निगर्भा पृथिवी-यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी' इत्यादि से प्रमाणित है। भावापृथिवी की सम्पत्ति के अधिष्ठाता इन्द्राग्नी ही विशाखा-नक्षत्र में उक्थरूप से प्रतिष्ठित हैं। अतएव ज्योतिषशास्त्र ने नक्षत्रों की देवगणना में विशाखा के देवता इन्द्राग्नी मान लिए हैं, जैसाकि इस तन्त्रशास्त्र-वचन से स्पष्ट है—

में कामदेवानुरूपा ऋतु मानी गई है। इसीलिए सम्भवतः कामपरायण कवियों ने इसे 'ऋतुराज' कहा है, जैसाकि कविश्रेष्ठ के इस पद्य से प्रमाणित है-

> द्रुमा सपुष्पा, सलिलं सपद्मं —
> स्त्रियः सकामा, पवनः सुगन्धिः ।
> सुखाः प्रदोषा, दिवसाश्च रम्या —
> सर्वं प्रिये ! चारुतरं वसन्ते ॥
>
> —ऋतुसंहारकाव्य

मनस्तन्त्रपरायण यहाँ के कविगण उन्मत्त बने रहते हैं-'मास मधुका बासरा' के उद्घोष से। जबकि यों प्रकृत्या वसन्त ऋतु ही कामदेव के लिए उपयुक्त ऋतु है, तो भागवतकार ने शरद् ऋतु को कामदेव के अनुरूप समय कैसे, और क्यों बतलाया ?। अत्यन्त ही सूक्ष्म तत्त्ववाद से सम्बद्ध है इस प्रश्न का समाधान, जिसका वैदिक तात्त्विक रात से ही सम्बन्ध है, जिसका संक्षिप्त दिग्दर्शन भी असम्भव है आपके वक्तव्य में। कुतूहलोपशममात्र के लिए दो शब्दों में यही निवेदन कर दिया जाता है कि, भगवान् कृष्ण पूर्णावतार हैं। जिसका अर्थ है अव्ययेश्वर-विश्वेश्वर में जितनी भी पूर्ण विभूतियाँ हैं, उन का इस अवतारपुरुष में अवतरण हुआ है। स्वयम्भू का केन्द्रप्रजापतिरूप अविज्ञातत्व भी यहाँ आया है, जिसका निदर्शन केन्द्रानुगत भारसमधारणरूप गोवर्द्धन-धारणापन बना हुआ है। परमेष्ठी का अंश भी यहाँ अवतरित है, जिसका गोलोकादिरूप से पूर्व में दिग्दर्शन कराया ही जा चुका है। स्वयं भागवत पारमेष्ठ्य-सारस्वत-कल्प नाम से ही विद्वत्-सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है। 'परमेष्ठ्यपत्नी' रूप से स्पष्ट ही इनके पारमेष्ठ्य-रूप का भागवत में निरूपण हुआ है। वंशीवादन् भी इसी पारमेष्ठ्य-धर्म का प्रतीक है, जिसका पारमेष्ठिनी सरस्वती-वाक् से सम्बन्ध है। हिरण्मयमूर्ति सूर्य का भाव भी यहाँ सर्वात्मना समन्वित है, जिसका भौतिक प्रतीक यहाँ पीताम्बर है, यहाँ भावात्मक प्रतीक बुद्धियोगात्मक गीता का तत्त्ववाद है। सौर हिरण्मय-मंडल से अनुप्राणिता केनोपनिषत् की 'हैमवतीउमा' नाम की विश्वविश्रुत ही आगमशास्त्र की श्रीश्रीपीताम्बरा भगवती है। यहीं से महाभारत में गीता का आरम्भ होता है, उससे पूर्व ही भगवान् कृष्ण अपने से अभिन्न इस चित्प्रकाशिकरूपा सौरी हैमवती उमा के अनुग्रह से अपने प्रियसखा अर्जुन को दीक्षित करते हैं, जैसाकि महाभारतीय सुप्रसिद्ध तदुपक्रम के 'पीताम्बरास्तोत्र' से स्पष्ट है। एवमेव पार्थिव-

के इसी साम्वत्सरिक रास से रथन्तरसामाभिध महापृथिवी के महिमा-मण्डल में प्रतिष्ठित दधि-घृत-मधु-इक्षु-आदि सातों रसों का अनवरत भूलोक पर वर्षण होता रहता है।

सात समुद्र माने हैं पुराण ने। क्या यह केवल कल्पना है ?। नहीं। तो कहाँ है-घी-दूध-शहद-के समुद्र पृथिवी पर ?। कहीं मिले तो नहीं आज तक उन भूगोलवेत्ताओं को, जिनकी दृष्टि से पृथिवी का कोई भी भाग आज के वैज्ञानिक युग में परोक्ष नहीं रह गया है। अवश्य ही वैज्ञानिकों नें भूगोल तो देख लिया है। किन्तु अभी उनका यह भूतविज्ञान मण्डलरूपा पृथिवी को नहीं पहिचान सका है, जो भूकेन्द्र से आरम्भ कर सूर्य्य से भी कुछ ऊपर तक व्याप्त है। जिसके रूप्तदशस्तोम के माध्यम से दो अण्डकटाह माने हैं भारतीय वैज्ञानिकों नें। जिन दोनों अण्डकटाहों में से नीचे के अण्डकटाह की दृष्टि से पृथिवी को आदर्श की भाँति समोदरा-चपटी माना है पुराण ने। 'आदर्शोदरसन्निभा भगवती स्वरूप को देखकर पौराणिक परिभाषाओं से पृथक रहने वाले स्वयं भास्कराचार्य्य एकबार तो घबड़ा जाते हैं। अन्ततोगत्वा 'एतत्सर्वं पुराणाभिर्त बोध्यम्' कह कर वे अपनी श्रद्धा का संरक्षण कर लेते हैं। सात-द्वीप-जिनके कि अनन्त विस्तारों का पुराणों में वर्णन हुआ है, जिसे देख सुन कर आज के नवीन मस्तिष्क एकदेशतया पुराणों को गप्प मान बैठने की भ्रान्ति कर बैठते हैं, वे सब अनन्त द्वीप सातों रससमुद्र, ४९ वायुस्तर, आदि आदि सब कुछ पृथिवी-मण्डल में ही विद्यमान हैं, जो पार्थिवमण्डल सूर्य्य को भी अपने गर्भ में लिए हुए है अपने रथन्तरसाम के २१ वें अहर्गण के द्वारा। इन सब रसों का वर्षण होता रहता है-उसी चान्द्ररस के द्वारा जिसका उपक्रमबिन्दु बनती है-शरद्-ऋतु'। इस रसेश्वर-चान्द्र सत्त्व के भी प्रतीकभूत भगवान् कृष्णचन्द्र स्वप्रकृतभूत शरत्काल में ही तो रास का उपक्रम कर सकते हैं, जो शरद्-ऋतु की दृष्टि से जहाँ इनके आधिदैविक प्रकृतिभाव का संग्राहक बन रहा है, वहाँ उत्फुल्ल-मल्लिका के द्वारा स्वयं कामदेव से अनुगत काल का भी संग्राहक बना हुआ है। अपने मनोमय मनोज को, स्व-कामशक्ति को परास्त करने के लिए ही शरद्-यामिनियों में इस भूतल पर जहाँ भगवान् नन्दनन्दन रास के लिए अवतीर्ण हुए, तो वहाँ नभोमण्डल में इनके प्रकृतिरूप आकाशविहारी उडुपति चन्द्रदेव भी रास के लिए प्रस्तुत हुए। इसी आधिदैविक-आधिभौतिक-समतुलन को अपनी रहस्य-पूर्ण शब्दसमाधा के माध्यम से व्यक्त करते हुए महामुनि शुकदेव कहने लगे—

नारस्यान्तकवह्निवायुशशभृद्रुद्राविरीश्वोरगा -
श्यन्येशा पितरोऽर्य्यमा भगरवी त्वष्टा समीर क्रमात्।
'शक्राग्नी' त्वथ इन्द्रमित्र-निर्ऋति-नीराब्धि विश्वेविधि-
गोविन्दो वसुतोयपाजचरवाहिर्बुध्न्यपूषाभिधा ॥

यों विशाखा-नक्षत्र सर्वभूतसम्पत्-प्रवृत्ति का केन्द्र बनता हुआ अवश्य ही राधानक्षत्र है। तभी तो इससे आगे का नक्षत्र 'अनुराधा' नक्षत्र कहलाया है। मध्य में विशाखा-नक्षत्ररूप राधा-नक्षत्र, एवं इसके पूर्वपार्श्व में उत्तराफाल्गुनी हस्त-चित्रा-स्वाती ये चार उपनक्षत्र, तथा उत्तर-पार्श्व में अनुराधा-ज्येष्ठा-मूल-पूर्वाषाढ-ये चार नक्षत्र, इन ६ नक्षत्रों का एक स्वतन्त्र नक्षत्रसत्र-मण्डल माना गया है, जिसके मध्य में केन्द्ररूप से विशाखारूपा राधा प्रतिष्ठित है। शरद् ऋतु के कृष्णचन्द्र, एवं इसी ऋतु के वृषराशि के सूर्य्य, जिनके सम्मुख पड़ते हैं ६ नक्षत्र, जिनमें ठीक सामने पड़ता है विशाखा-नक्षत्र। 'पश्यन्ति सप्तमं सर्वे शनिजीवकुजाः पुनः' इस पारायर-सिद्धान्तानुसार सर्वथा सम्मुख में सम्मुख अवस्थित विशाखा-नक्षत्र के साथ वृष के सूर्य्य के तेज का, अर्थात् 'वृषभानु' के तेज का सीधा सम्बन्ध हो रहा है। और यों यह राधा *'वृषभानुसुता' बन रही है जिसके साथ शरच्चन्द्ररूप कृष्णचन्द्र रासविहार कर रहे हैं। जिस प्रकार श्रीकृष्ण के श्रीदामादि आठ सखा प्रसिद्ध हैं। एवमेव श्रीराधा की भी आठ प्रमुख सखियाँ, प्रसिद्ध हैं। राधा के पार्श्ववर्त्ती ८ उपनक्षत्र ही प्रधान आठ सखियाँ हैं। और यों शरद्-ऋतु में ही नक्षत्ररूप गोपीमण्डल के साथ कृष्णचन्द्र रासमण्डलाध्यक्ष बने हुए हैं, जिनका यह सात्त्विक रास-नित्यरास, अनन्तरास, सम्वत्सररास, मासिकरास अहोरात्ररास, आदि आदि भेद से अनेक भावों में विभक्त है। रासावासनिवासिनी रसेश्वरी राधा के साथ सोमरसमूर्त्ति कृष्णचन्द्र

---

* कैनचित्कारणेनैव राधा वृन्दावने वने।।'
वृषभानुसुता जाता गोलोकस्थायिनी सदा ॥१॥
कार्तिक्यां पूर्णिमायां तु राधा-रास-महोत्सव ॥
कृष्णः सम्पूज्य तां रासमास रासमण्डले ॥२॥
—पुराण

के इसी साम्वत्सरिक रास में रथन्तरसामात्मिका महापृथिवी के महिमा-मण्डल में प्रतिष्ठित दधि-घृत-मधु-इक्षु-आदि सातों रसों का अनवरत भूलोक पर वर्षण होता रहता है।

सात समुद्र माने हैं पुराण ने। क्या यह केवल कल्पना है?। नहीं। तो कहाँ है-घी-दूध-शहद-के समुद्र पृथिवी पर?। कहीं मिले तो नहीं आज तक उन भूगोलवेत्ताओं को, जिनकी दृष्टि से पृथिवी का कोई भी भाग आज के वैज्ञानिक युग में परोक्ष नहीं रह गया है। अवश्य ही वैज्ञानिकों नें भूगोल तो देख लिया है। किन्तु अभी उनका यह भूवविज्ञान मण्डलरूपा पृथिवी को नहीं पहिचान सका है, जो भूकेन्द्र से आरम्भ कर सूर्य्य से भी कुछ ऊपर तक व्याप्त है। जिसके ऊर्ध्वदशस्तोम के माध्यम से दो अण्डकटाह माने हैं भारतीय वैज्ञानिकों नें। जिन दोनों अण्डकटाहों में से नीचे के अण्डकटाह की दृष्टि से पृथिवी को आदर्श की भाँति समोदरा-चपटी माना है पुराण ने। 'आदर्शोदरसन्निभा भगवती स्वरूप को देखकर पौराणिक परिभाषाओं से पृथक रहने वाले स्वयं भास्कराचार्य्य एकबार तो चक्का जाते हैं। अन्ततोगत्वा 'एतत्सर्वं पुराणाभिर्तं योग्यम्' कहकर वे अपनी श्रद्धा का संरक्षण कर लेते हैं। सात-द्वीप-जिनके कि अनन्त विस्तारों का पुराणों में वर्णन हुआ है, जिसे देख सुन कर आज के नवीन मस्तिष्क एकदेलमा पुराणों को गप्प मान बैठने की भ्रान्ति कर बैठते हैं, वे सब अनन्त द्वीप सातों रससमुद्र, ४९ वायुस्तर, आदि आदि सब कुछ पृथिवी-मण्डल में हीं विद्यमान हैं, जो पार्थिवमण्डल सूर्य्य को भी अपने गर्भ में लिए हुए है अपने रथन्तरसाम के २१ वें अहर्गण के द्वारा। इन सब रसो का वर्षण होता रहता है-उसी चान्द्ररस के द्वारा, जिसका उपक्रमबिन्दु बनती है-'शरद्-ऋतु'। इस रसेश्वर-चान्द्र तत्त्व के भी प्रतीकभूत भगवान् कृष्णचन्द्र स्वयमेव षोडशकलायुक्त शरत्काल में हीं तो रास का उपक्रम कर सकते हैं, जो शरद्-ऋतु की दृष्टि से जहाँ इनके आधिदैविक प्रकृतिभाव का संग्राहक बन रहा है, वहाँ उसत्त्व-मल्लिका के द्वारा स्वयं कामदेव मे अनुगत काल का भी संग्राहक बना हुआ है। अपने मनोमय मनोज को, स्व-कामशक्ति को परास्त करने के लिए ही शरद्-यामिनियों में इस भूतल पर जहाँ भगवान् नन्दनन्दन रास के लिए अवतीर्ण हुए, तो वहाँ नभोमण्डल में इनके प्रकृतिरूप आकाशविहारी उडुपति चन्द्रदेव भी रास के लिए प्रवृत्त हुए। इसी आधिदैविक-आधिभौतिक-समतुलन को अपनी रहस्य-पूर्ण रहस्यभाषा के माध्यम से व्यक्त करते हुए महामुनि शुकदेव कहने लगे—

तदोडुराज ककुभ करैर्मुखं—
प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः ।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन्—
प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः ॥

आगे क्या हुआ ?, सुनिये ।

दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्ड-मण्डल-
रमाननाभ नवकुङ्कुमारुणम् ।
वनं च तत्कोमलवीक्ष्य रञ्जितं-
जगौ कल वामदृशां मनोहरम् ॥

कुङ्कुमवर्ण—अखण्डमण्डलाकार—स्वप्रकाशिभूत चन्द्रदेव को नभोमण्डल में उदित देख कर, एवं कोमल—स्निग्ध—चान्द्र—रश्मियों से तथाविध बने हुए यमुना-तट को लक्ष्य बना कर वामाङ्गनाओं के मन को हरण करने वाले वंशी—निनाद का ही भगवान् ने उपक्रम किया। वंशीवादन के माध्यम से मानो भगवान् ने प्रतिज्ञात समय में कामदेव का आह्वान ही किया, युद्ध के लिए ललकारा। तत्काल कामदेव उपस्थित हुए, और कहने लगे—क्यों ! आरम्भ में ही सन्धा का अतिक्रमण ?। आपने तो कहा था कि हम किसी प्रकार के शस्त्र का ग्रहण न करेंगे इस युद्ध में, किसी भी प्रकार के सैन्यबल का संग्रह न करेंगे। फिर सन्धा के सर्वथा विपरीत 'वंशी' रूप शस्त्रग्रहण, एवं वामलोचनाओं का मूक आमन्त्रणरूप सैन्यसंग्रह क्या ठीक माना जायगा ?। अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यम् !! वस्तुतः कामदेव अनङ्ग होने के साथ साथ अन्ध भी है। तभी तो स्वयं अपनी स्थिति का भी तो इन्हें ध्यान नहीं रहा। सङ्गीतभाव-प्रवर्तिका वंशी क्या भगवान् का शस्त्र है ?। वामलोचनाएँ क्या भगवान् की सेना है ?। नहीं। सर्वथा नहीं। यह सर्वविदित, ये वामलोचनाएँ तो कामदेव के ही शस्त्र—तथा—सैन्यबल माने गए हैं। अतएव तो अनङ्ग का ही अस्तवर्द्धक है। वामाङ्गनाएँ तो कामदेव की ही सेना है। आज भगवान् तो वंशीवादन के द्वारा व्रजगोपियों का आमन्त्रण करते हुए मानो स्वयं कामदेव को अपनी ओर से शस्त्र—सैन्यबल ही प्रदान कर रहे हैं। इसी भाव का निरूपण करते हुए शुकमुनि कहते हैं—

निशम्य गीतं 'तदनङ्गवर्द्धनं'-
व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः ।
आजग्मुरन्योऽन्यमलक्षितोद्यमाः -
स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः ॥

कैसा था वह सङ्गीत, जिसने कि गोपियों के मनस्तन्त्र को कृष्ण की ओर आकर्षित कर दिया !-'तदनङ्गवर्द्धनम्' । अनङ्ग, अर्थात् कामदेव का ही बलवर्द्धक था वह सङ्गीत । किन्तु इस सङ्गीत से सङ्गीत सुनने वाली गोपियों का मन मनोज की ओर आकर्षित न हो कर आकर्षित हो पड़ा कृष्ण के प्रति, जो मनोज का दर्पदलन करने के लिए आज समराङ्गण में उपस्थित हैं । मानो सेना ने अपने सेनापति के प्रति विद्रोह ही कर दिया हो । और यों बिना ही युद्ध के सेनापति परास्त हो रहे हैं युद्धारम्भ से ही पहिले । ऐसा ही कुछ भाव व्यक्त हुआ है उक्त पद्य से । भगवान् कृष्ण भगवान् हैं, आत्मस्वरूप हैं । इनकी ओर आकर्षित होना तो कामदेव का पराभूत ही होना है । कामरूपा कामनाओं से आकर्षित हो कर ही नर-नारी लोकानुबन्धों में अनुरक्त रहते हैं । जब इस जीवभाव पर ईश्वर का अनुग्रह हो जाता है, तो नर-नारियों के लोकभ्रमनात्मक सम्पूर्ण बन्धन विच्छिन्न हो जाते हैं । एवं वे सम्पूर्ण लोकानुबन्धों को विस्मृत कर ईश्वरभाव के प्रति आकर्षित हो पड़ते हैं । इसी भाव को लक्ष्य बना कर शुकमुनि कहते हैं—

दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद्दोहं हित्वा समुत्सुकाः ॥
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः ॥१॥

परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून्पयः ॥
शुश्रूषन्त्यः पतीन्काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम् ॥२॥

लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने ॥
व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित्कृष्णान्तिकं ययुः ॥३॥

ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः ॥
'गोविन्दापहृतात्मानो' न न्यवर्तन्त मोहिताः ॥४॥

सदोदराज क्रम करैर्मुख—
प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः ।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन्—
प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः ॥

आगे क्या हुआ ?, सुनिये ।

दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्ड-मण्डलं—
रमाननाभं नवकुङ्कुमारुणम् ।
वनं च तत्कोमलगोभी रञ्जित—
जगौ कलं वामदृशां मनोहरम् ॥

कुङ्कुमवर्ण—अखण्डमण्डलाकार—स्वप्रकाशविभूत चन्द्रदेव को नभोमण्डल में उदित देख कर, एवं कोमल-स्निग्ध—सान्द्र—रश्मियों से रञ्जित बने हुए यमुना-तट को लक्ष्य बना कर वामाङ्गनाओं के मन को हरण करने वाले वंशी—निनाद का ही भगवान् ने उपक्रम किया । वंशीवादन के माध्यम से मानो भगवान् ने प्रतिवाद समय में कामदेव का आह्वान ही किया, युद्ध के लिए ललकारा । तत्काल कामदेव उपस्थित हुए, और कहने लगे—क्यों ! आरम्भ में ही सन्धि का अतिक्रमण ? । आपने तो कहा था कि, हम किसी प्रकार के शस्त्र का ग्रहण न करेंगे इस युद्ध में, किसी भी प्रकार के सैन्यबल का संग्रह न करेंगे । फिर सन्धा के सर्वथा विपरीत 'वंशी' रूप शस्त्रग्रहण, एवं वामलोचनाओं का मूक आमन्त्रणरूप सैन्यसंग्रह क्या ठीक माना जायगा ? । अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! स्वमुच कामदेव अनङ्ग होने के साथ साथ अन्ध भी है । तभी तो स्वयं अपनी स्थिति का भी तो इन्हें ध्यान नहीं रहा । रतिविभाव-प्रवर्तिका वंशी क्या भगवान् का शस्त्र है ? । वामलोचनाएँ क्या भगवान् की सेना है ? । नहीं । सर्वथा नहीं । यह सङ्गीत, ये वामलोचनाएँ तो कामदेव के ही शस्त्र—तथा—सैन्यबल माने गए हैं । सङ्गीत तो अनङ्ग का ही बलवर्द्धक है । वामाङ्गनाएँ तो कामदेव की ही सेना है । आज भगवान् तो वंशीवादन के द्वारा व्रजगोपियों का आमन्त्रण करते हुए मानो स्वयं कामदेव को अपनी ओर से शस्त्र—सैन्यबल ही प्रदान कर रहे हैं । इसी भाव का निरूपण करते हुए शुकमुनि कहते हैं—

> निशम्य गीत 'तदनङ्गवर्द्धन'–
> व्रजस्त्रिय कृष्णगृहीतमानसा ।
> आजग्मुरन्योऽन्यमलक्षितोद्यमा –
> स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डला ॥

ऐसा था यह सङ्गीत, जिसने कि गोपियों के मनस्तन्त्र को कृष्ण की ओर आकर्षित कर दिया !–'तदनङ्गवर्द्धनम्' । अनङ्ग, अर्थात् कामदेव का ही बलवर्द्धक था यह सङ्गीत । किन्तु इस सङ्गीत से सङ्गीत सुनने वाली गोपियों का मन मनोज की ओर आकर्षित न हो कर आकर्षित हो पड़ा कृष्ण के प्रति, जो मनोज का दर्पदलन करने के लिए आज समराङ्गण में उपस्थित हैं । मानो सेना ने अपने सेनापति के प्रति विद्रोह ही कर दिया हो । और यों बिना ही युद्ध के सेनापति परास्त हो रहे हैं युद्धारम्भ से ही पहिले । ऐसा ही कुछ भाव व्यक्त हुआ है उक्त पद्य से । भगवान् कृष्ण भगवान् हैं, आत्मस्वरूप हैं । इनकी ओर आकर्षित होना तो कामदेव का पराभूत ही होना है । कामरूपा कामनाओं से आकर्षित हो कर ही नर-नारी लोकानुबन्धों में अनुरक्त रहते हैं । जब इस जीवभाव पर ईश्वर का अनुग्रह हो जाता है, तो नर-नारियों के लोककामनात्मक सम्पूर्ण बन्धन विच्छिन्न हो जाते हैं । एवं वे सम्पूर्ण लोकानुबन्धों को विस्मृत कर ईश्वरभाव के प्रति आकर्षित हो पड़ते हैं । इसी भाव को लक्ष्य बना कर शुकमुनि कहते हैं—

> दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद्दोहं हित्वा समुत्सुकाः ॥
> पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः ॥१॥

> परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून्पय ॥
> शुश्रूषन्त्य पतीन्काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम् ॥२॥

> लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्य' काश्च लोचने ॥
> व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित्कृष्णान्तिकं ययुः ॥३॥

> ता वार्य्यमाणा पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभि' ॥
> 'गोविन्दापहृतात्मानो' न न्यवर्त्तन्त मोहिता ॥४॥

अन्तर्गृहगता काश्चिद्गोप्योऽलब्धविनिर्गमा ॥
कृष्ण तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचना ॥५॥
दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभा ॥
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गला ॥६॥
तमेव परमात्मानं लोकबुद्ध्यापि सङ्गता ॥
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः ॥७॥

तात्पर्य स्पष्ट है उक्त पद्यों का। गायों का दोहना छोड़ा, उबलते दूध को छोड़ा, परिपक्व होते अन्न को छोड़ा, बच्चों को दूध पिलाना छोड़ा, तात्पर्य जो जिस गृहकार्य में रत थी उसने तत्क्षण उसका परित्याग कर कृष्ण के प्रति अनुगमन कर लिया। जिन्हें बलात्कार से रोक लिया गया वे इस तीव्र-ताप के प्रज्ज्वलित अनल से अपने पाप-पुण्य-बन्धों को भस्म कर—'उभे पापपुण्ये विधूय' इस श्रौत सिद्धान्त को अक्षरशः चरितार्थ करतीं हुई विलीन होगईं भगवत्स्वरूप' में। और शापग्रस्त, अतएव भ्रष्टमति परीक्षित इस आध्यात्मिक मर्म को न समझ कर अपने लोकानुबन्धी ऐन्द्रियक भाव के निग्रह से शुकमुनि से ऐसा प्रश्न कर बैठने की धृष्टता कर ही तो बैठे कि—

कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने !
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम् ? ॥

परीक्षित सम्भवतः ऐसा ही समझ रहे थे, जैसाकि आज भी सर्वसामान्य कुछ ऐसा सा ही समझ बैठने की भ्रान्ति करते रहते हैं कि, गोपियों का प्रेम तो एक प्रकार का नर-नारी का वैसा लौकिक प्रेम ही है जिससे भगवान् की भगवत्ता अभिभूत ही हो रही है। इसी दृष्टि को आगे कर परीक्षित भी यह भ्रान्त प्रश्न कर बैठते हैं कि, "मुने ! गोपियाँ कृष्ण को ब्रह्म थोड़े ही मानती थीं। वे तो 'कान्त भाव से, इस गुणभाव से ही आकर्षित हो रही थीं। फिर अन्तर्गृहगता गोपियाँ इस गुणभाव के रहते भी निर्गुण ब्रह्मस्थिति में कैसे परिणत होगईं ?'। शुकदेव बड़े विस्तार से परीक्षित की इन कुशङ्काओं का निराकरण करने वाले हैं। किन्तु यहाँ सहसा आविष्ट हो पड़ते हैं शुकमुनि परीक्षित की इस भ्रान्त कल्पना पर, और कृष्ण के योगेश्वरात्मक ब्रह्मभाव की ओर इस लोकमानव-अभिशप्त परीक्षित

का ध्यान आकर्षित करते हुए एकप्रकार से मानो इसकी भर्त्सना करते हुए ही। कहने लगते हैं—

उक्त पुरस्तादेतत्ते चैद्य सिद्धि यथा गत ।
द्विषन्नपि हृषीकेशं, किमुताधोक्षजप्रिया ॥
नृणा नि श्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप । ---
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मन ॥
काम क्रोध भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च ।
नित्य हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥
न चैवं विस्मय कार्यो भवता भगवत्यजे ।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद्विमुच्यते ॥

राजन ! सावधान !! तुम पुनः लक्ष्यच्युत बन रहे हो। हमनें पूर्वकथाओं में बतला दिया है कि, कृष्ण मनुष्य नहीं हैं । अपितु साक्षात् योगेश्वर ब्रह्म हैं। पहिले तो यह मानना ही भूल है कि, गोपियाँ किसी लोकभावना से-कान्तभाव से-कृष्ण के प्रति आकर्षित हो रही हैं जैसा कि आगे के रासप्रकरण से स्वय तुम अनुभव कर लोगे। यदि थोड़ी देर के लिए ऐसा मान भी लिया जाय, तो भी तुम्हारा प्रश्न इसलिए निर्मूल है कि, शिशुपाल यदि भगवान के साथ शत्रुता करता हुआ भी मुक्त हो जाता है पूतना यदि विषपान कराती हुई भी धात्री-पद प्राप्त करती हुई मुक्त हो जाती है, तो क्या गोपियाँ प्रेम करतीं हुई भी मुक्त न होंगी ? । यह मत भूलो कि मानवमात्र के बन्धनविमोक के लिए यह तो साक्षात् परात्परेश्वर-अव्ययब्रह्म का पूर्णावतार है, जिसके साथ काम-क्रोध-भय-स्नेह-ऐक्य-मैत्री-जिस किसी भाव से सम्बन्ध स्थापित कर लेने मात्र से 'आत्मरति व्याप्त हो पड़ती है और निःश्रेयसपद प्राप्त हो जाता है। अतएव कदापि योगेश्वरेश्वरात्मक भगवान के इस अव्ययस्वरूप के प्रति तुम्हें अपनी मानुषी-लोकबुद्धि से कभी विचार नहीं करना चाहिए। हाँ, तो छोड़ो इस भ्रान्त प्रश्न को, और सुनो ! आगे हुआ क्या !—

ता दृष्ट्वान्तिकमायाता भगवान् व्रजयोषित ।
अवदत्-वदतां श्रेष्ठो वाच पेशैर्विमोहयन् ॥

अन्तर्गृहगताः काश्चिद्गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः ॥
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः ॥५॥
दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः ॥
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः ॥६॥
तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः ॥
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः ॥७॥

तात्पर्य्य स्पष्ट है उक्त पद्यों का। गायों का दोहना छोड़ा, उबलते दूध को छोड़ा, परिवेषण होते अन्न को छोड़ा, बच्चों को दूध पिलाना छोड़ा, तात्पर्य्य जो जिस गृहकार्य्य में रत थी उसने तत्क्षण उसका परित्याग कर कृष्ण के प्रति अनुगमन कर लिया। जिन्हें बलात्कार से रोक लिया गया, वे इस क्षोभ-ताप के प्रज्वलित अग्नि से अपने पाप-पुण्य-द्वन्द्वों को भस्म कर-'उभे पापपुण्ये विधूय' इस श्रौत सिद्धान्त को अक्षरशः चरितार्थ करती हुई विलीन होगईं 'भगवत्स्वरूप' में। और शापग्रस्त, अतएव भ्रष्टमति परीक्षित इस आध्यात्मिक मर्म्म को न समझ कर अपने लोकानुबन्धी ऐन्द्रियक भाव के निग्रह से शुकमुनि से ऐसा प्रश्न कर बैठने की धृष्टता कर ही तो बैठे कि—

कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने!
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम्? ॥

परीक्षित सम्भवतः ऐसा ही समझ रहे थे, जैसाकि आज भी सर्वसामान्य कुछ ऐसा सा ही समझ बैठने की भ्रान्ति करते रहते हैं कि गोपियों का प्रेम तो एक प्रकार का नर-नारी का वैसा लौकिक प्रेम ही है जिससे भगवान् की भगवत्ता अभिभूत ही हो रही है। इसी दृष्टि को आगे कर परीक्षित भी यह भ्रान्त प्रश्न कर बैठते हैं कि, "मुने! गोपियाँ कृष्ण को ब्रह्म थोड़े ही मानती थीं। वे तो 'कान्त' भाव से इस गुणभाव से ही आकर्षित हो रही थीं। फिर अन्तर्गृहगता गोपियाँ इस गुणभाव के रहते भी निर्गुण ब्रह्मस्थिति में कैसे परिणत होगई?"। शुकदेव बड़े विस्तार से परीक्षित की इन कुशङ्काओं का निराकरण करने वाले हैं। किन्तु यहाँ सहसा आविष्ट हो पड़ते हैं शुकमुनि परीक्षित की इस भ्रान्त कल्पना पर, और कृष्ण के योगेश्वरात्मक ब्रह्मभाव की ओर इस लोकमानव-अभिशप्त परीक्षित

का ध्यान आकर्षित करते हुए एकप्रकार से मानो इसकी भर्त्सना करते हुए ही कहने लगते हैं—

उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः ।
द्विषन्नपि हृषीकेशं, किमुताधोक्षजप्रियाः ॥
नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप ! —
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च ।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥
न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे ।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद्विमुच्यते ॥

राजन् ! सावधान !! तुम पुनः सन्देहग्रस्त बन रहे हो। हमने पूर्वकथाओं में बतला दिया है कि, कृष्ण मनुष्य नहीं हैं। अपितु साक्षात् योगेश्वर ब्रह्म हैं। पहिले तो यह मानना ही भूल है कि, गोपियाँ किसी लोकभावना से-कान्तभाव से-कृष्ण के प्रति आकर्षित हो रही हैं जैसा कि आगे के रासप्रकरण से स्वयं तुम अनुभव कर लोगे। यदि थोड़ी देर के लिए ऐसा मान भी लिया जाय तो भी तुम्हारा प्रश्न इसलिए निर्मूल है कि, शिशुपाल यदि भगवान के साथ शत्रुता करता हुआ भी मुक्त हो जाता है, पूतना यदि विषपान कराती हुई भी धात्री-पद प्राप्त करती हुई मुक्त हो जाती है, तो क्या गोपियाँ प्रेम करतीं हुई भी मुक्त न होंगी ?। यह मत भूलो कि मानवमात्र के बन्धनविमोक के लिए यह तो साक्षात् अश्वत्थेश्वर-अव्ययब्रह्म का पूर्णावतार है, जिसके साथ काम-क्रोध-भय-स्नेह-ऐक्य-मैत्री-जिस किसी भाव से सम्बन्ध स्थापित कर लेने मात्र से 'आत्मरति' व्यक्त हो पड़ती है और निःश्रेयस्पद प्राप्त हो जाता है। अतएव कदापि योगेश्वरेश्वरात्मक भगवान् के इस अव्ययस्वरूप के प्रति तुम्हें अपनी मानुषी-लोक बुद्धि से कभी विचार नहीं करना चाहिए। हाँ, तो छोड़ो इस भ्रान्त प्रश्न को, और सुनो। आगे हुआ क्या ?—

ता दृष्ट्वान्तिकमायाता भगवान् व्रजयोषितः ।
अवदद्-वदतां श्रेष्ठो वाचः पेशैर्विमोहयन् ॥

अन्तर्गृहगता काश्चिद्गोप्योऽलब्धविनिर्गमा ॥
कृष्ण तद्भावनायुक्ता दध्युर्म्मीलितलोचना ॥५॥
दु सहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभा ॥
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गला ॥६॥
तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गता ॥
जहुर्गुणमयं देहं सद्य प्रक्षीणबन्धना: ॥७॥

तात्पर्य्य स्पष्ट है उक्त पद्यों का। गायों का दोहना छोड़ा, उबलते दूध का छोड़ा, परिपक्व होते अन्न को छोड़ा, बच्चों को दूध पिलाना छोड़ा, तात्पर्य्य कि जिस एश्वर्य्य में रस भी उसने तत्क्षण उसका परित्याग कर कृष्ण के प्रति अनुगमन कर लिया। जिन्हें बलात्कार से रोक लिया गया, वे इस तीव्र-ताप के प्रज्वलित मन से अपने पाप-पुण्य-द्वन्द्वों को भस्म कर-'उभे पापपुण्ये विधूय' इस श्रौत सिद्धान्त को अक्षरश: चरितार्थ करती हुई विलीन होगई भगवत्स्वरूप' में। और शापग्रस्त, अतएव भ्रष्टमति परीक्षित इस आध्यात्मिक मर्म्म को न समझ कर अपने लोकानुबन्धी ऐन्द्रियक भाव के निग्रह से शुकमुनि से ऐसा प्रश्न कर बैठने की धृष्टता कर ही तो बैठे कि—

कृष्णं विदु परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने !
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम् ? ॥

परीक्षित सम्भवत ऐसा ही समझ रहे थे, जैसाकि आज भी सर्वसामान्य कुछ ऐसा सा ही समझ बैठने की भ्रान्ति करते रहते हैं कि गोपियों का प्रेम तो एक प्रकार का नर-नारी का वैसा लौकिक प्रेम ही है जिससे भगवान् की भगवत्ता अभिभूत ही हो रही है। इसी दृष्टि को आगे कर परीक्षित भी यह भ्रान्त प्रश्न कर बैठते हैं कि, "मुने ! गोपियां कृष्ण को ब्रह्म थोड़े ही मानती थीं। वे तो 'कान्त' भाव से, इस गुणभाव से ही आकर्षित हो रहीं थीं। फिर अस्तत्' इगता गोपियां इस गुणभाव के रहते भी निर्गुण ब्रह्मस्थिति में कैसे परिणत होगई !"। शुकदेव बड़े विस्तार से परीक्षित की इन कुशङ्काओं का निराकरण करने वाले हैं। किन्तु यहाँ सहसा आविष्ट हो पड़ते हैं शुकमुनि परीक्षित की इस भ्रान्त कल्पना पर, और कृष्ण के योगेश्वरात्मक ब्रह्मभाव की ओर इस लोकमानव-अभिलाप्य परीक्षित

नी अबलाओं पर कोई विपत्ति-आपत्ति आई है, गोप-गोपियाँ सवत्र ही इस विपत्ति से सन्त्राण प्राप्त करने के लिए गोप-गोपियाँ आते रहे हैं। भगवान की दृष्टि में यही शिष्टाचार है, यही दृष्टिकोण है, जिसमें कामप्रेम का प्रवेश भी निषिद्ध माना गया है। और इसप्रकार की अनुरागशून्या-विधिविधानात्मिका-केवल लोकाचारपथानुगामिनी-स्वागत-आतिथ्य-कुशलक्षेम-प्रदर्शन-प्रश्नात्मिका इस वेशसभाषा से मानो कामदेव का पुनः दर्पदलन ही कर रहे हैं भगवान 'स्वागतं वो महाभागा' यह कहते हुए। क्या अब भी सन्देह है कुछ ?। तो लीजिए, स्थिति का और अधिक स्पष्टीकरण कर लीजिए!—

रजन्येषा घोररूपा घोरसत्त्वनिषेविता।
प्रतियात व्रजं, नेह स्त्रीभिः सुमध्यमाः॥
मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः।
विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृढ्वं बन्धुसाध्वसम्॥

दृष्टिपात करो यमुनातट के इस शान्त निर्जन प्रान्त पर, कैसी शून्या-मानव-प्राणिविहीना घोर रात्रि है, जिसमें घोरघोरतम हिंसक प्राणी इतस्ततः स्वच्छन्द विचरण कर रहे हैं। क्षणमात्र भी विलम्ब किए बिना लौट जाओ गोपियो व्रज की ओर। क्योंकि इसप्रकार के भीषण-एकान्त वातावरण में वयस्क स्त्रियों को नहीं ठहरना चाहिए। (हम अभी यही नहीं समझ पा रहे कि, तुम ऐसी घोररात्रि में चली ही कैसे आई!, क्या उद्देश्य था तुम्हारा यहाँ आने का!)—

दृष्टं वनं कुसुमितं राकेशकररञ्जितम्।
यमुनानिललीलैजत्तरुपल्लवशोभितम्॥

"अच्छा! समझे! सम्भवतः तुम शरच्चन्द्रिका से सुशोभित इस यमुनातट की शोभा देखने आई हो। (ठीक है, सभी को समानाधिकार प्राप्त है इन प्राकृतिक सुन्दर दृश्यों के दर्शन का)। किन्तु-अब तो तुम्हारी यह इच्छा भी पूरी होली। चान्द्र-किरणों से रञ्जिता, मल्लिका के खिले हुए पुष्पों से सुरभिता एवं यमुनातट-वर्त्ती-शीतल-मन्द-सुगन्ध-पवन से विकम्पित होने वाले तरुपल्लवों से सुशोभिता वनश्री का भी अब तो तुमने दर्शन-विहार कर लिया'। ध्यान दीजिए पद्य की मार्मिक व्यञ्जना पर!। कामदेव समझ रहे हैं-सब साधन-परिग्रह प्राप्त हमारे

वंशीवादन से कृष्ण के प्रति आकर्षितमना व्रजाङ्गनाएँ अन्योऽन्य अलक्षितोपमा बनती हुई यमुनातट पर समवेत होगईं निरतिशय उल्लास के साथ। चारों ओर गोपियाँ, बीच में कृष्ण। आरम्भ से ही तिरस्कृत कामदेव को इस स्थिति में मानो पुन एकबार कुछ कहने का सुअवसर मिल गया हो। और स्खलित-चरित्र कामदेव इस प्रत्यक्षप्रमाणमूला मादुकता की स्थिति से अनुचित लाभ उठाते हुए मानो मूकभाषा में भगवान् से यह कह पड़े हों कि-क्यों!, देख लिया न कामदेव का प्रभाव!। निर्जन यमुना का तट, निर्मल चाँदनी रातें, और लोकोत्तर सुन्दरियों के मध्य में आपका सुमधुर वंशीवादन। इस प्रत्यक्ष स्थिति को देख-सुन-कर कौन विचारशील! यह न कह डालेगा कि, यह तो कामदेव का ही विजय है। ठीक है न!। यों कह कर कामदेव ने मानो पुनः अपने आपको दर्पपूर्वक व्यक्त किया भगवान् के सम्मुख। भगवान् ने भी मानो कामदेव के इन-दर्पभावों को तत्काल लक्ष्य बना लिया। और कामदेव के इस प्रत्यक्ष-प्रमाणोत्पादक काल्पनिक अभियोग का दलन करते हुए ही भगवान् इसप्रकार पेशल-वाणी से कहने लगे गोपियों को आया देख कर कि—

> स्वागतं वो महाभागाः! प्रियं किं करवाणि व ?।
> व्रजस्यानामयं कच्चित् ?-ब्रूतागमनकारणम् ?॥

"आओ! आओ गोपियो! स्वागत कर रहे हैं आज हम तुम्हारा (सम्मान-पूर्वक)। कहो! आपकी हम क्या सेवा करें! क्या फिर व्रज पर कोई आपत्ति तो नहीं आगई!। कहिए! कहिए! कैसे आज यहाँ यों सहसा पधारना हुआ!"। ध्यान दीजिए 'स्वागतं वो महाभागा' वाक्य पर, 'प्रियं किं करवाणि वः' की मार्मिक व्यञ्जना पर, एवं 'व्रजस्यानामयं कच्चित्' की ध्वनि पर। कैसे विचित्र शिष्टाचार हैं, जिनमें प्रेमभाव का सम्भवतः सस्पर्श भी नहीं है, मानसिक रसानुभूति का संस्मरण भी नहीं है। जिन व्यक्तियों से हम मनसा किसी भी प्रकार का विशेषतः मनोज-मूलक प्रेम करते हैं वहाँ हमें आत्मविस्मृत हो जाना पड़ता है। ऐसे प्रेमी को सम्मुख देख कर तो हम स्वरूप विस्मृत बन कर तन्मय बन जाने के लिए ही दौड़ पड़ते हैं। किन्तु जहाँ ऐसा भावात्मक अनुराग नहीं रहता, वहाँ हमें लोकप्रदर्शनरूप लोकसम्मत उस शिष्टाचार का ही अनुगमन करना पड़ता है, जिसमें केवल विधि-विधान-सम्मता नैधानिकी-भाषा ही प्रमुख बनती है। गोपियाँ कोई आज पहिली बार हीं नहीं आई हैं कृष्ण के समीप। बचपन

ी ब्रजवासियों पर कोई विपत्ति–आपत्ति आई है, गोप–गोपियाँ सर्वत्र ही इस विपत्ति से सन्त्राण प्राप्त करने के लिए गोप–गोपियाँ आते रहे हैं। भगवान की दृष्टि में यही शिष्टाचार है, यही दृष्टिकोण है, जिसमें कामप्रेम का प्रवेश भी निषिद्ध माना गया है। और इसप्रकार की अनुरागशून्या–विधिविधानात्मिका–केवल लोकाचारपथानुगामिनी–स्वागत–आतिथ्य–कुशलक्षेम–प्रदर्शन–प्रश्नात्मिका इस पेशलभाषा से मानो कामदेव का पुनः दर्पदलन ही कर रहे हैं भगवान 'स्वागतं वो महाभागा' यह कहते हुए। क्या अब भी सन्देह है कुछ ?। तो लीजिए, स्थिति का और अधिक स्पष्टीकरण कर लीजिए।—

रजन्येषा घोररूपा घोरसत्त्वनिषेविता ।
प्रतियात व्रजं, नेह स्त्रीभिः सुमध्यमा ॥
मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः ।
विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृद्ध्वं बन्धुसाध्वसम् ॥

दृष्टिपात करो यमुनातट के इस शान्त निर्जन प्रान्त पर, कैसी शून्या–मानव–प्राणिविहीना घोरा रात्रि है, जिसमें घोरघोरतम हिंसक प्राणी इतस्ततः स्वच्छन्द विचरण कर रहे हैं। क्षणमात्र भी विलम्ब किए बिना लौट जाओ गोपियो व्रज की ओर। क्योंकि इसप्रकार के भीषण–एकान्त वातावरण में सयत्न स्त्रियों का नहीं ठहरना चाहिए। (हम अभी यही नहीं समझ पा रहे कि तुम ऐसी घोररात्रि में चली ही कैसे आई !, क्या उद्देश्य था तुम्हारा यहाँ आने का !)—

दृष्टं वनं कुसुमितं राकेशकररञ्जितम् ।
यमुनानिललीलैजत्तरुपल्लवशोभितम् ॥

"अच्छा ! समझे ! सम्भवतः तुम शरच्चन्द्रिका से सुशोभित इस यमुनातट की शोभा देखने आई हो। (ठीक है, सभी को समानाधिकार प्राप्त है इन प्राकृतिक सुन्दर दृश्यों के दर्शन का)। किन्तु–अब तो तुम्हारी यह इच्छा भी पूरी होली। चान्द्र–किरणों से रञ्जिता, मल्लिका के खिले हुए पुष्पों से सुरभिता एवं यमुनातट–वर्ती–शीतल–मन्द–सुगन्ध–पवन से विकम्पित होने वाले तरुपल्लवों से सुशोभिता वनश्री का भी अब तो तुमने दर्शन–विहार कर लिया'। ध्यान दीजिए पद्य की मार्मिक व्यञ्जना पर।। कामदेव समझ रहे हैं–सब साधन–परिग्रह आज हमारे

वंशीवादन से कृष्ण के प्रति आकर्षितमना व्रजाङ्गनायें अन्योन्य आलिङ्गि-
तथा बनती हुई यमुनातट पर सवेग दौड़ीं निरतिशय उन्माद के साथ । चारों
ओर गोपियाँ, बीच में कृष्ण । आरम्भ से ही तिरस्कृत कामदेव को इस स्थिति
में मानो पुनः पञ्चशर युद्ध करने का सुअवसर मिल गया हो । और स्मित-
मदिर कामदेव इस मदविह्वलतानुमा मधुरता की स्थिति में अनुचित लाभ
उठाते हुए मानो मूकभाषा में भगवान् से यह कह पड़े हों कि—क्यों !,
देख लिया न कामदेव का प्रभाव !। निर्जन यमुना का तट, निर्मल चाँदनी रातें,
और लावण्यवती सुन्दरियों के मध्य में आपका सुमधुर वंशीवादन । इस प्रत्यक्ष
स्थिति को देख-सुन-कर कौन निर्विकार ! यह न कह डालेगा कि, यह तो
कामदेव का ही विजय है । ठीक है न !। यों कह कर कामदेव ने मानो पुनः अपने
आपको दर्पपूर्वक व्यक्त किया भगवान् के सम्मुख । भगवान् ने भी मानो कामदेव
के इन-दर्पभावों को तत्काल लक्ष्य बना लिया । और कामदेव के इस प्रत्यक्ष-
प्रमाणाभावात्मक काल्पनिक अभियोग का दलन करते हुए ही भगवान् इसप्रकार
मधुर-वाणी से कहने लगे गोपियों को आया देख कर कि—

स्वागतं वो महाभागाः ! प्रियं किं करवाणि वः ?।
व्रजस्यानामयं कच्चिद् ?—ब्रूतागमनकारणम् ? ॥

"आओ ! आओ गोपियो ! स्वागत कर रहे हैं आज हम तुम्हारा (सम्मान-
पूर्वक) । कहो ! आपकी हम क्या सेवा करें ! क्या फिर व्रज पर कोई आपत्ति तो
नहीं आगई ?। कहिए ! कहिए ! कैसे आज यहाँ यों सहसा पधारना हुआ ?" ।
ध्यान दीजिए 'स्वागतं वो महाभागा' वाक्य पर, 'प्रियं किं करवाणि वः'
की मार्मिक व्यञ्जना पर, एवं 'व्रजस्यानामयं कच्चिद्' की ध्वनि पर । कैसे
विशिष्ट शिष्टाचार हैं, जिनमें प्रेमभाव का सम्भवतः संस्पर्श भी नहीं है, मानसिक
रसानुभूति का संस्मरण भी नहीं है । जिन व्यक्तियों से हम मनसा किसी भी प्रकार
का विशेषतः मनोज-मूलक प्रेम करते हैं वहाँ हमें आत्मविस्मृत हो जाना
पड़ता है । ऐसे प्रेमी को सम्मुख देख कर तो हम स्वरूप-विस्मृत बन कर तन्मय बन
जाने के लिए ही दौड़ पड़ते हैं । किन्तु जहाँ ऐसा कामात्मक अनुराग नहीं रहता,
वहाँ हमें लोकप्रदर्शनरूप लोकसम्मत उस शिष्टाचार का ही अनुगमन करना
पड़ता है, जिसमें केवल विधि-विधान-सम्मता वैधानिकी-भाषा ही प्रमुख बनती
है । गोपियाँ कोई आज पहिली बार ही नहीं आई हैं कृष्ण के समीप । बचपन

। ब्रजवासियों पर कोई विपत्ति-आपत्ति आई है, गोप-गोपियाँ तत्तत् हो इस पत्ति से त्राण प्राप्त करने के लिए गोप-गोपियाँ आते रहे हैं । भगवान की दृष्टि में यही शिष्टाचार है, यही दृष्टिकोण है, जिसमें कामप्रेम का प्रवेश भी निषिद्ध माना गया है । और इसप्रकार की अनुरागशून्या-विधिविधानात्मिका-लस लोकाचारपथानुगामिनी-स्वागत-आतिथ्य-कुशलक्षेम-प्रदर्शन-प्रश्नात्मिका इस पेशलभाषा से मानो कामदेव का पुन दर्पदलन ही कर रहे हैं भगवान 'स्वागत वो महाभागाः' यह कहते हुए । क्या अब भी सन्देह है पुत्र ! । तो जीजिए, स्थिति का और अधिक स्पष्टीकरण कर लीजिए !—

रजन्येपा घोररूपा घोरसत्त्वनिपेविता ।
प्रतियात व्रज, नेह स्त्रीभि सुमध्यमा ॥
मातर पितर पुत्रा भ्रातर' पतयश्च च ।
विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृढ्व बन्धुसाध्वसम् ॥

दृष्टिपात करो यमुनातट के इस शान्त निर्जन प्रान्त पर, कैसी शून्या-मानव-मात्रविहीना घोरा रात्रि है, जिसमें घोरघोरतम हिंसक प्राणी इतस्ततः स्वच्छन्द विचरण कर रहे हैं । क्षणमात्र भी विलम्ब किए बिना लौट जाओ गोपियो ब्रज की ओर ! कदापि इसप्रकार के भीषण-एकान्त वातावरण में यवस्क स्त्रियों का नहीं ठहरना चाहिए । (हम अभी यही नहीं समझ पा रहे कि, तुम ऐसी घोररात्रि में यहाँ ही कैसे आई !, क्या उद्देश्य था तुम्हारा यहाँ आने का !)—

दृष्ट वन कुसुमित राकेशकररञ्जितम् ।
यमुनानिललीलैजत्तरुपल्लवशोभितम् ॥

"अच्छा ! समझे ! सम्भवत तुम शरच्चन्द्रिका से सुशोभित इस यमुनातट की शोभा देखने आई हो । (ठीक है, सभी को समानाधिकार प्राप्त है इन प्राकृतिक सुन्दर दृश्यों के दर्शन का) । किन्तु-अब तो तुम्हारी यह इच्छा भी पूरी होली । चान्द्र-किरणों से रञ्जिता, मल्लिका के खिले हुए पुष्पों से सुरभिता एवं यमुनातट-वर्ती-सलिल-मन्द-सुगन्ध-पवन से विकम्पित होने वाले तरुपल्लवों से सुशोभिता वनभी का भी अब तो तुमने दर्शन-विहार कर लिया' । ध्यान दीजिए पद्य की मार्मिक व्यञ्जना पर ! । कामदेव समझ रहे हैं-सब साधन-परिग्रह आज हमारे

अब भी निर्म्मलरूप से क्षत-विक्षत न हो पड़े होंगे ? । जो माताएँ इसप्रकार के महान् उत्तरदायित्व से समन्वित हैं, उनका यों स्वच्छन्दरूप से केवल मानसिक अनुरञ्जनों के व्यामोह से इतस्ततः द्वन्द्वस्यमाना बने रहना कदापि कम से कम भारतीय नारी का तो आदर्श नहीं माना जायगा, नहीं माना गया । ऐसा करने पर तो आज भी उसके लिए— 'तद्यात मा चिरं गोष्ठम्' ही विधान जागरूक है ।

तो क्या गोपियों की ओर के सभी पक्ष निर्बल प्रमाणित होगए 'यद्दर्ताभेष्ठ' भगवान् के इस वाक्पेशल से ? । नहीं । अभी एक पक्ष और शेष रह गया है । नारी माता बन कर आमोद प्रमोद-प्रधान मानसिक व्यासङ्गों से तटस्थ बन जाती है, बन जाना चाहिए । और यहाँ तक भगवान् के—'तद्यात मा चिरं गोष्ठम्' का अर्थ समझ में भी आ रहा है । किन्तु क्या मातृ-पदारूढा नारी 'भगवद्भक्ति' भी नहीं कर सकती ?, जैसे कि वर्त्तमान युग के भक्तिसम्प्रदाय में आज भारतीय नारी ही विशेषरूप से भगवद्भक्ति-व्यासङ्गों में इतस्ततः चङ्क्रमणा करती रहती है । इस पक्ष का भी आमूलचूल मथन करते हुए, इस दृष्टि से जो मानवधर्म्मशास्त्र-सम्मत सिद्धान्त है, उसी का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

अथवा मदभिस्नेहाद्भवत्यो यन्त्रिताशयाः ।
आगता, ह्युपपन्नं वः-प्रीयन्ते मयि जन्तवः ॥
भर्त्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्म्मो ह्यमायया ।
तद्बन्धूनाञ्च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम् ॥
दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा ।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी ॥

मानते हैं, तुम्हारा हमारे साथ सहज स्नेह है । और यह भी जान रहे हैं कि उस आत्ममूलक सहज विशुद्ध स्नेह से मन्त्रवत् आकर्षित हो कर ही तुम यहाँ आई हो । अर्थात्-तुम किसी लोकबुद्धि से-कामभाव से नहीं आई । अपितु मातृपद से अनुप्राणित भगवद्भक्ति-भावना से आज तुम्हें यहाँ आ जाना पड़ा है । ठीक ही है । लोक-मानव-मानवियाँ इसी प्रकार भगवत्स्वरूप से स्नेह प्रकट किया ही करते हैं । किन्तु जानती हो-भगवान् से प्रेम क्यों किया जाता है ?, कभी उस शास्त्र से पूँछा है-तुमने इस प्रश्न के सम्बन्ध में, जिसके बल पर तुमनें

अनुरूप है। यद्यपि कोई भी मनोधर्मा मानव ऐसे मादन-उन्माद एकान्त-वातावरण में अपना मन-संयम सुरक्षित नहीं रख सकता। उधर भगवान् कामदेव के इन सम्पूर्ण अनुकूल-साधनभूत शस्त्रास्त्र-प्रहारों को मानो सर्वथा व्यर्थ ही प्रमाणित करते हुए उपहास ही कर रहे हैं कामदेव का। जिस प्रकार एक ख्यात योद्धा एक निर्बल प्रतिद्वन्द्वी के साथ युद्ध करता हुआ मध्ये मध्ये उसे उठा उठा कर पटक लगाता रहता है, ऐसा ही युद्ध हो रहा है आज कामदेव के साथ। वनश्री का ऐसा आकर्षक वर्णन मानो कामदेव को थोड़ा जीवन प्रदान करने लगा, तो दरअसल भगवान् ने ऐसी पछाड़ लगा डाली इन मनोज महानुभाव के कि, वे भूल गए वनश्रीरूप अपने साधन-परिकरों को। क्या स्वरूप था उस पछाड़ का ?। सुनिए।

वयात ! मा चिरं गोष्ठं—
शुश्रूषध्वं पतीन्सती ॥
क्रन्दन्ति वत्सा, बालाश्च—
तान्पाययत, दुह्यत ॥

चली जाओ यहाँ से! लौट जाओ क्षणमात्र भी विलम्ब किए बिना गोपियो! देख ली वन की शोभा! (तृप्त हो गया तुम्हारा मन इस वनश्री के दर्शन से)। जाओ! और शीघ्र जाओ!। (अरे! तुम वनश्री के लिए ऐसी आतुर हो गईं कि) तुम्हें अपनी गोमाताओं के बछड़ों का एवं अपने दूध पीते बच्चों का भी ध्यान न रहा! अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यम्!! जाओ! जाओ! बिना दूध निकाले बछड़े रँभा रहे होंगे। बच्चे क्रन्दन कर रहे होंगे। गायों का दूध निकालो! बच्चों को स्तन्य-पान कराओ!

वर्णन की व्यञ्जना को लक्ष्य बनाइए। होती है नारी के जीवन की भी अमुक विशेष अवस्था जिसमें नारी को भी इसप्रकार वनश्री-दर्शन एवं अन्यान्य लोकानुरञ्जन-दर्शन-विहार का अधिकार प्राप्त है। किन्तु जब भारतीय नारी मातृपद पर आरूढ हो जाती है, तो गृहस्थ के उत्तरदायित्व से तथा सन्तति के उत्तरदायित्व से अनुप्राणिता बनती हुई मातृपद की मर्य्यादा के अनुरूप वे इसप्रकार के प्रदर्शन भ्रमणात्मक मानसिक व्यासङ्गों से स्वतएव उपरत हो जाती है। गोपियाँ माता' हैं नारी नहीं। इस 'मातृ' पद की व्यञ्जना से क्या कामदेव

अब भी निर्म्मलरूप से क्षत-विक्षत न हो पड़े होंगे ?। जो माताएँ इसप्रकार के महान् उत्तरदायित्व से समन्वित हैं, उनका यों स्वच्छन्दरूप से केवल मानसिक अनुरञ्जनों के व्यामङ्ग में इतस्ततः दन्द्रम्यमाणा बने रहना कदापि कम से कम भारतीय नारी का तो आदर्श नहीं माना जायगा, नहीं माना गया। ऐसा करने पर तो आज भी उसके लिए— 'तद्यात मा चिरं गाष्ठम्' ही विधान जागरूक है।

तो क्या गोपियों की ओर के सभी पक्ष निर्बल प्रमाणित होगए 'यद्दताभेष्ठ' भगवान् के इस वाक्छल से ?। नहीं। अभी एक पक्ष और शेष रह गया है। नारी माता बन कर आमोद प्रमोद-प्रधान मानसिक व्यासङ्गों से तटस्थ बन जाती है, बन जाना चाहिए। और यहाँ तक भगवान् के—'तद्यात मा चिरं गोष्ठम्' का अर्थ समझ में भी आ रहा है। किन्तु क्या मातृ-पदारूढ़ा नारी 'भगवद्भक्ति' भी नहीं कर सकती ?, जैसे कि वर्त्तमान युग के भक्तिसम्प्रदाय में आज भारतीय नारी ही विशेषरूप से भगवद्भक्ति व्यासङ्गों में इतस्ततः चङ्क्रमण करती रहती है। इस पक्ष का भी आमूलचूड़ खण्डन करते हुए, इस दृष्टि से जो मानवधर्म्मशास्त्र-सम्मत सिद्धान्त है, उसी का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

> अथवा मदभिस्नेहाद्भवत्यो यन्त्रिताशयाः।
> आगताः, ह्युपपन्नं वः प्रीयन्ते मयि जन्तवः ॥
> भर्त्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्म्मो ह्यमायया।
> तद्बन्धूनाञ्च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम् ॥
> दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा।
> पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी ॥

मानते हैं, तुम्हारा हमारे साथ सहज स्नेह है। और यह भी जान रहे हैं कि उस आत्ममूलक सहज विशुद्ध स्नेह से यन्त्रवत् आकर्षित हो कर ही तुम यहाँ आई हो। अर्थात्-तुम किसी लोकबुद्धि से-काममाव से नहीं आई। अपितु मातृपद से अनुप्राणित भगवद्भक्ति-भावना से आज तुम्हें यहाँ आ जाना पड़ा है। ठीक ही है। लोक-मानव-मानवियाँ इसी प्रकार भगवत्स्वरूप से स्नेह प्रकट किया ही करते हैं। किन्तु जानती हो-भगवान् से प्रेम क्यों किया जाता है ?, कभी उस शास्त्र से पूँछा है-तुमने इस प्रश्न के सम्बन्ध में, जिसके बल पर तुमने

अपने मनोभाव का परित्याग करने के लिए यहाँ तक आ जाने का साहस, किस दुस्साहस कर लिया है ? । यदि नहीं, तो सुनो हम बतलाते हैं कि, इस सम्बन्ध में शास्त्र नारीशरीर के लिए क्या विधान निश्चित करता है ? ।

शास्त्र का इस सम्बन्ध में एकमात्र यही निरपवाद सिद्धान्त है कि, नारी अपने दाम्पत्यजीवन में अनुगत रहती हुई—'पतिरेव गुरुः स्त्रीणाम्' सिद्धान्त के अनुसार पति के अनुराग-माध्यम से ही अपने धार्मिक विधि-विधानों का अनुगमन करती रहे। 'सहधर्म्मं चरताम्' के अनुसार पति की उपासना का साहचर्य्य ही इसका उपासनापथ है। पति को पृथक् कर स्वतन्त्ररूप से पत्नी के लिए कोई विधि-विधान नहीं है। पति के सहयोग से धर्मपथ का अनुष्ठान, पारिवारिक व्यक्तियों की स्वस्तिकामना, स्व-सन्तति का पालन-पोषण, आदि आदि मर्य्यादाएँ ही भारतीय नारी का एकमात्र निश्छल आर्यधर्म्म है (बिना ऐसे मानवधर्म्म में भगवद्भक्ति के नाम से इन कुलधर्म्मों की उपेक्षा कर इतस्ततः घूमते रहना कदापि शास्त्रीय धर्म्म नहीं माना जा सकता) । इसलिए-सत्वर ! मा चिरं गोष्ठम्। लौट जाओ ! हो गया तुम्हारा यह भगवद्भक्ति-भाव भी पूरा ! अब क्या शेष रह गया जानना, सुनना। हाँ, अभी तक है तुम्हारे मनःक्षेत्र में एक प्रश्न शेष, वो लो ! सुनलो ! उसके सम्बन्ध में भी हमारा निर्णय —

> श्रवणाद्दर्शनाद्ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्त्तनात् ।
> न तथा सन्निकर्षेण, प्रतियात ततो गृहान् ॥

तुम कह सकती हो कि जबतक भगवान् का सगुण स्वरूप किसी को प्रत्यक्ष-रूप से उपलब्ध न हो तो तबतक गार्हस्थ्यधर्म्म का पालन करते हुए पति के माध्यम से ही भगवदाराधन किया जाना चाहिए। किन्तु जब महद्भाग्य से सगुण भगवान सामने ही आ जायें, तो ऐसी दशा में तो यह प्रतिबन्ध कोई महत्त्व नहीं रख रहा। इस विप्रतिपत्ति पर हमें 'भक्ति' का यही तत्त्व तुम्हारे सम्मुख रखना पड़ेगा कि, भगवद्गुणश्रवण, भावप्रतिमानरूप से भगवद्दर्शन चिन्तन संस्मरण से जिस सरलता से ईश्वरभाव जीव के सन्निकट आ जाता है, वैसे सगुण स्वरूप के सान्निध्य से नहीं। (अर्जुन का व्यामोहन प्रसिद्ध है, दुर्य्योधन-कंस-आदि की भ्रान्ति का इतिहास विद्यमान है)। इसीलिए अन्तिम बार हम तुम्हें यही आदेश दे रहे हैं कि—'प्रतियात गृहान्' ! लौट जाओ इसी क्षण अपने अपने निवास-स्थानों को ! । क्या हुआ आगे, और गोपियों ने क्या कहा, तथा क्या किया ?,

इत्यादि रहस्यपूर्ण प्रश्नों के लिए तो रासपञ्चाध्यायी का आस्था-श्रद्धापूर्वक मनन ही करना चाहिए। समय अतिक्रान्त है। अत पर्यन्त में दो चार माङ्गलिक सस्मरण निवेदन कर आज का वक्तव्य उपरत हो रहा है। श्रूयन्ताम्!

> इति विप्रियमाकर्ण्य गोप्यो गोविन्दभाषितम् ।
> विषण्णा भग्नसङ्कल्पाश्चिन्तामापुर्दुरत्ययाम् ॥

गोपियों को यह कहाँ विदित था कि, भगवान् आज कामदेव के दर्पदलन करने के लिए सन्नद्ध हैं, जिसके लिए उन्हें इसप्रकार की प्रियेतरवाणी का अनुगमन करना पड़ा है। सर्वथा खिन्न-उदास होगई गोपियाँ। छिन्न भिन्न होगए उनके मानस संकल्प। मर्म्मोत्पीडन करी नि सीमा चिन्ता से समाकुलिता बन गईं गोपियाँ इसप्रकार अपने एकमात्र प्रिय आराध्य कृष्ण से यों धारणा से सर्वथा विपरीत प्रतारित होकर।

और—

> कृत्वा मुखान्यवशुचः श्वसनेन शुष्यद्-
> बिम्बाधराणि चरणेन भुवं लिखन्त्यः ।
> अस्रैरुपात्तमषिभिः कुचकुङ्कुमानि-
> तस्थुर्मृजन्त्य उरुदुःखभराः स्म तूष्णीम् ॥

अवनत होगए गोपियों के मस्तक इस असह्य वेदना-तिरस्कार-चिन्ता-से। अत्यन्त शोकसविघ्नमानसा बन गई आज गोपियाँ। प्रचण्डरूप से श्वास-प्रश्वास चलने लगा। तापाग्नि-मिश्रित इस शोकोष्णश्वास से गोपियों के कण्ठ ओष्ठ सूख गए। इस भयावहा चिन्तासमाकुलिता स्थिति से निष्प्राणसमा बन जाने वाली गोपियाँ नीची दृष्टि कर अपनी पादाङ्गुलियों से भूमि-विलेखन करने लग पड़ीं। उनके नेत्रों का अञ्जन शोकाश्रुप्रवाह से प्रवाहित होकर वक्षस्थल पर 'उर बिच बहत पनारे' को चरितार्थ करने लग पड़ा। वक्षस्थल में समालिप्त कुङ्कुमराग कज्जल-मिश्रित इन अश्रुधाराओं से धुल पुँछ कर कृष्णरूप में परिणत हो गया। दुःखात्यन्तवेग से हिचकियाँ बँध गईं गोपियों के। और यों सर्वात्मना अत्यन्त कातर अवस्था में आ जाने वाली ये गोपियाँ अपने हाथों से अश्रुप्रोञ्छन करती हुई स्तम्भ-काष्ठ-पाषाणवत् भित्तिचित्रवत् जहाँ की खड़ी रह गईं, (और यों

अपने भक्तिभाव को चरितार्थ करने के लिए यहाँ तक आ जाने का साहस, किंवा दुस्साहस कर लिया है ! । यदि नहीं, तो सुनो हम बतलाते हैं कि, इस सम्बन्ध में शास्त्र नारीशरीर के लिए क्या विधान निश्चित करता है ! ।

शास्त्र का इस सम्बन्ध में एकमात्र यही निरपवाद सिद्धान्त है कि, नारी अपने दाम्पत्यजीवन से अनुगत रहती हुई—'पतिरेव गुरुः स्त्रीणाम्' सिद्धान्त के अनुसार पति के अनुराग-माध्यम से ही अपने धार्मिक विधि-विधानों का अनुगमन करती रहे । 'सहधर्म्म चरताम्' के अनुसार पति की उपासना का सहचर्य्य ही इसका उपासनापथ है । पति को पृथक् कर स्वतन्त्ररूप से पत्नी के लिए कोई विधि-विधान नहीं है । पति के सहयोग से धर्म्मपथ का अनुष्ठान, पारिवारिक व्यक्तियों की स्वस्तिकामना, स्व-सन्तति का पालन-पोषण, आदि आदि मर्य्यादाएँ ही भारतीय नारी का एकमात्र निश्छल आर्षधर्म्म है (बिन ऐसे मानवधर्म्म में भगवद्भक्ति के नाम से इन कुलधर्म्मों की उपेक्षा कर इतस्ततः घूमते रहना कदापि शास्त्रीय धर्म्म नहीं माना जा सकता) । इसलिए-तथास्तु । मा चिरं गोष्ठम् । लौट-जाओ । हो गया तुम्हारा यह भगवद्भक्ति-भाव भी पूरा । अब क्या शेष रह गया जानना, सुनना । हाँ, अभी तक है तुम्हारे प्रज्ञाक्षेत्र में एक प्रश्न शेष, सो लो ! सुनलो ! उसके सम्बन्ध में भी हमारा निर्णय —

> श्रवणाद्दर्शनाद्ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्त्तनात् ।
> न तथा सन्निकर्षेण, प्रतियात ततो गृहान् ॥

तुम कह सकती हो कि, जबतक भगवान् का सगुण स्वरूप किसी को प्रत्यक्ष-रूप से उपलब्ध न हो, तो तबतक गृहस्थधर्म्म का पालन करते हुए पति के माध्यम से ही भगवदाराधन किया जाना चाहिए । किन्तु जब महद्भाग्य से सगुण भगवान सामने ही आ जायें तो ऐसी दशा में तो यह प्रतिबन्ध कोई महत्त्व नहीं रख रहा । इस विप्रतिपत्ति पर हमें 'भक्ति' का यही तत्त्व तुम्हारे सम्मुख रखना पड़ेगा कि भगवद्गुणश्रवण, भावप्रतिमानरूप से भगवद्दर्शन चिन्तन, संस्मरण से जिस सरलता से ईश्वरभाव जीव के सन्निकट आ जाता है, वैसे सगुण स्वरूप के सान्निध्य से नहीं । (अर्जुन का व्यामोहन प्रसिद्ध है, दुर्य्योधन-कंस-आदि की भ्रान्ति का इतिहास विद्यमान है) । इसीलिए अन्तिम बार हम तुम्हें यही आदेश दे रहे हैं कि—'प्रतियात गृहान्' ! लौट जाओ इसी क्षण अपने अपने निवास-स्थानों को ! । क्या हुआ आगे, और गोपियों ने क्या कहा, तथा क्या किया ?,

इत्यादि रहस्यपूर्ण प्रश्नों के लिए तो रासपञ्चाध्यायी का आस्था-श्रद्धापूर्वक मनन ही करना चाहिए। समय अतिक्रान्त है। अतः सर्वान्त में दो चार माङ्गलिक संस्मरण निवेदन कर आज का वक्तव्य उपरत हो रहा है। श्रूयन्ताम्।

> इति विप्रियमाकर्ण्य गोप्यो गोविन्दभाषितम् ।
> विषण्णा भग्नसङ्कल्पाश्चिन्तामापुर्दुरत्ययाम् ॥

गोपियों को यह कहाँ विदित था कि, भगवान् आज कामदेव के दर्पदलन करने के लिए सन्नद्ध हैं, जिसके लिए उन्हें इसप्रकार की प्रियेतरवाणी का अनुगमन करना पड़ा है। सर्वथा खिन्न-उदास होगई गोपियाँ। छिन्न भिन्न होगए उनके मानस संकल्प। मर्म्मोत्पीड़न करी निःसीमा चिन्ता से समाकुलिता बन गईं गोपियाँ इसप्रकार अपने एकमात्र प्रिय आराध्य कृष्ण से यों धारणा में सर्वथा विपरीत प्रतारित होकर।

और—

> कृत्वामुखान्यवशुचः श्वसनेन शुष्यद्-
> बिम्बाधराणि चरणेन भुवं लिखन्त्यः ।
> अस्रैरुपात्तमषिभिः कुचकुङ्कुमानि-
> तस्थुर्मृजन्त्य उरु दुःखभराः स्म तूष्णीम् ॥

अवनत होगए गोपियों के मस्तक इस असह्य वेदना-तिरस्कार-चिन्ता-से। अत्यन्त शोकसंविग्नमानसा बन गईं आज गोपियाँ। प्रचण्डक्रम से श्वास-प्रश्वास चलने लगा। तापाग्नि-मिश्रित इस शोकोच्छ्वास से गोपियों के कण्ठ ओष्ठ सूख गए। इस भयावहा चिन्तासमाकुलिता स्थिति से निष्प्राणसमा बन जाने वाली गोपियाँ नीची दृष्टि कर अपनी पादाङ्गुलियों से भूमि-विलेखन करने लग पड़ीं। उनके नेत्रों का अञ्जन शोकाश्रुप्रवाह में प्रवाहित होकर वक्षस्थल पर 'उर बिच बहत पनारे' को चरितार्थ करने लग पड़ा। वक्षस्थल में समालिप्त कुङ्कुमराग कज्जल-मिश्रित इन अश्रुधाराओं से धुल पुँछ कर कृष्णरूप में परिणत हो गया। दुःखात्यन्तवेग से हिचकियाँ बँध गईं गोपियों के। और यों सर्वात्मना अत्यन्त कातर अवस्था में आ जाने वाली ये गोपियाँ अपने हाथों से अश्रुप्रोञ्छन करतीं हुईं स्तब्ध-जड़-पाषाणवत् भित्तिचित्रवत् खड़ी की खड़ी रह गईं, (और यों

मानो मनोज को सर्वथा ही तो पराभूत कर दिया स्वयं उसी की सेनाङ्गभूता इन गोपियों की इस स्थिति में)।

वस्तुस्थिति वास्तव में यथार्थ है। अनुरागात्मक रागभाव के आकर्षण से केवल चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा कदापि भगवान् कृष्ण के आत्मभूमिनिबन्धन अनुपास्यरूप कृष्णतत्त्व के दर्शन नहीं हो सकते। गोपियोंने कृष्ण को आँखों से देखने की चेष्टा की मानसिक हृदयस्थ राग के द्वारा। इस दृष्टि से तो कृष्ण का केवल नन्दनन्दन-स्वरूप ही गोपियाँ देख सकीं, जिसका मन-शरीरमात्र-निबन्धन मानुषभाव से ही सम्बन्ध है। और इसी सीमाभाव के कारण सम्भवतः भगवान् का विभुस्वरूप-व्यापक स्वरूप-गोपियों के सम्मुख प्रत्यक्ष उपस्थित नहीं हुआ। जब कृष्ण आँखों से उतर कर वक्षस्थलानुबन्धी हृदय-प्रदेश पर-आ गया, तो वहाँ की 'अनुरागात्मिका' रागासक्ति तो हो गई पलायित, एवं कृष्णभाव हो पड़ा व्यक्त, और इस स्थिति के आते ही गोपियों का उद्बोधन हो पड़ा। 'मर्त्यैरुपासमपिमि'-कुचकुङ्कुमानि' वाक्य इसी भाव को प्रतिध्वनित कर रहा है। दुःखवेग से नेत्र निमीलित करते ही गोपियों के हृदय में मानो भगवान् का व्यापक-वासुदेव-स्वरूप ही उद्बुद्ध हो पड़ा, एवं इस उद्बोधन से महान् बल प्राप्त करतीं हुईं हीं मानो गोपियाँ आवेश-पूर्वक यों कहने लग पड़ीं कि—

प्रेष्ठं प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं—
कृष्णं तदर्थ—'विनिवर्तित—सर्वकामाः'।
नेत्रे विमृज्य रुदितोपहते स्म किञ्चि—
त्संरम्भ-गद्गदगिरोऽब्रुवतानुरक्ताः॥

आरम्भ से ही जो कृष्ण गोपियों के प्रिय-आराध्य बने हुए थे, उन्हें आज यों सहसा एक प्रियेतर की भाँति, क्रूर शत्रु की भाँति कर्कशरूप से बोलते देख कर गोपियों पर तो मानों वज्र ही आ गिरा। (क्या पता था गोपियों को कि, आज भगवान् रासलीला के माध्यम से कन्दर्पदर्पदलनात्मिका उस लीला की भूमिका स्थापित करने जा रहे हैं जिसके आदर्श को लक्ष्य में रखते हुए भविष्य के मानव कामशक्ति का दमन करते हुए ही दाम्पत्य-जीवन का अनुगमन करेंगे)। यदि गोपियाँ किसी कामवासना से, लौकिक प्रेम से प्रेरित होकर आईं होतीं, तो कोई बात ही न थी। उस अवस्था में तो कृष्ण के सभी अभियोग इन्हें

मान ही लेने पड़ते। किन्तु यहाँ तो स्थिति सर्वथा विपरीत थी। जानते हैं आप गोपियाँ किस भाव से यहाँ आई थीं ? क्या जानना चाहेंगे हमारे आजकल के नवशिक्षा-दीक्षित सुसभ्य वे भारतीय मानव !, जो अपने प्रज्ञाऽऽरम्भ में आकर भगवान् की इत्थंभूता लोकोत्तरा लीलाओं की आलोचना करते हुए अपने आपको प्रायश्चित्त का भागी बनाते रहते हैं, एवं जो अभिनव-प्रेमात्मक सल्लीला प्रतिपादक पुराणशास्त्र को निरी गप्प मानने-मनवाने के जघन्य प्रयत्नों से अपना सर्वनाश करा रहे हैं कि-गोपियाँ क्यों, किस लिए आई थीं ?, तो उन्हें 'कृष्ण-सदर्थविनिर्वासितसर्वकामा' वाक्य के रहस्यार्थ को नहीं, तो कम से कम अक्षरार्थ को ही लक्ष्य बना लेने का नि सीम अनुग्रह कर लेना चाहिए।

जिन गोपियों ने कृष्ण की भक्ति प्राप्त करने के लिए सम्पूर्ण लौकिक कामनाओं-वासनाओं का एकान्तत परित्याग कर दिया है ऐसी निष्काम-भावात्मिका * परानुरक्तिलक्षणा पराभक्ति के लोकोत्तर-पथ की अनुगामिनी गोपियों ने जब इसप्रकार अपने भक्तिक्षेत्र प्रिय कृष्ण को यों प्रियेतर की भाँति बोलते सुना, तो सन्न रह गई वे अर्घाघभूतियाँ उसी प्रकार, जैसे कि ब्रह्म से अभिन्ना भी प्रकृति विश्वरूप में परिणत होकर ब्रह्माभावात्मक स्वरूपरूप में परिणत हो जाती है। शनै शनै चकता छाने लगी। क्योंकि नेत्रस्थ कृष्ण इस उद्बोधन से हृदयस्थ बन कर अपने व्यापक वासुदेव-स्वरूप से व्यक्त हो पड़े थे गोपियों के हृदय में। उस हृदय में जहाँ मनोमय कामदेव प्रतिष्ठित माने गए हैं। आज मानो शत्रु को उसी उसके घर में ही भगवान् उपमर्दित कर रहे हैं अपने उस पूर्णावतारस्य व्यापक-विभु-स्वरूप से जिसके प्रति कामदेव आक्रमण कर बैठे थे-अपनी मूर्खता से। हाँ, तो यों शनैः शनैः उद्बोधन प्राप्त करने वाली, दोनों हाथों से नेत्रकमलों के आँसुओं को पोंछती हुई शोकोच्छ्वास-जनित रुदन के आवेग से बीच बीच में रुक रुक कर-गद्गद्भाव से कण्ठोपरोध वृत्ति से क्या कहने लगीं परमभक्तिपथानुगामिनी वे गोपियाँ !, तो सुनिए उन्हीं के श्रीमुख से—

---

* सा परानुरक्तिरीश्वरे (सा भक्ति-ईश्वरे निष्काम भावात्मिका अनुरक्तिरूप)।

—शाण्डिल्यदर्शन

मैवं विभो ! ऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं !
सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम् ।
भक्ता, भजस्व ! दुरवग्रह मा त्यजास्मान् !
देवो यथाधिपुरुषो भजते मुमुक्षून् ॥

भागवतीय-रामलीला पर आक्षेप करने वाले अरे ओ बुद्धिमानो ! दृष्टिपात का अनुग्रह तो करो गोपियों के इस मार्मिक वचन पर। अरे तर्कधुरन्धरो ! कुछ तो शिक्षा ग्रहण करो इस उद्बोधनग्रन्थ से। छोड़ने का अनुग्रह तो करो अपने इस सर्वविनाशक उस अभिनिवेश को, जो अभिनिवेश मानव को तत्त्वपूर्णा ज्ञानविज्ञाननिष्ठा से पराङ्मुख कर अन्ततोगत्वा उसकी 'मानव' अभिधा को ही विस्मृति के गर्भ में विलीन कर दिया करता है।

क्या कह रही हैं गोपियाँ ?, अवधान पूर्वक-अक्षरों पर ध्यान दीजिए ! । हे विभो ! अर्थात् हे व्यापक ! हे सर्वव्यापक सर्वेश्वर पूर्णब्रह्म ! क्या आपने ऐसा कुछ समझ लिया है कि, हम आपको केवल सुन्दर-सलौना-आकर्षक मानवमात्र समझ कर आप से प्रेम करने चलीं आईं हैं अपनी गृहस्थ-मर्य्यादाओं का परित्याग कर ? मैवम् ! छोड़ दीजिए आप अपनी इस कल्पना को ! यदि आपने इसी को लक्ष्य बना कर हमारी यों प्रताड़ना की है, तो। स्मरण रखिए ! हम आई हैं संसार की पचपचायमान् लौकिक-काम वासनाओं का परित्याग कर आपके चरणारविन्दों की पराभक्ति करने। हम प्रेमिकाएँ-नहीं हैं आपकी, अपितु 'भक्ता' हैं-'भक्ता-भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्'। आप हमारा यों परित्याग न कीजिए ! अवहेलना न कीजिए ! (क्योंकि आप कर ही न सकेंगे हमारी अवहेलना)। क्या और भी अधिक स्पष्टीकरण चाहते हैं आप हमसे इस सम्बन्ध में ! । तो-'देवो यथाधिपुरुषो-पुरुषो भजते मुमुक्षून्' ही पर्य्याप्त मान लिया जायगा इस दिशा में। अर्थात्-जिस प्रकार आप ही का पारमेष्ठ्य गोलोक-निवासी अव्यय-लक्षण-पूर्णरूप जिस प्रकार तदुपासक-तन्निष्ठ मुमुक्षु योगियों पर अनुग्रह करता रहता है, एवमेव उसी भावना से

आपको हम पर अनुग्रह करना चाहिए। क्योंकि हम उसी मुमुक्षा-भावना से यहाँ उपस्थित हुई हैं।

आगे चल कर गोपियोंने– 'प्रेष्ठो भवाँस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा'–
'तन्न प्रसीद परमेश्वर! मा स्म छिन्द्या'–
'ध्यानेन याम पदयो पदवीं सखे ते'—
'तद्वद्वय च तव पादरज प्रपन्ना '—
'प्राप्ता विसृज्य–वसतीस्त्वदुपासनाशा '—
'तृप्तात्मनां पुरुषभूषण! देहि दास्यम्'—

इसप्रकार अपना विशुद्ध आध्यात्मिक स्वरूप व्यक्त किया। और परिणाम–स्वरूप कन्दर्पदर्पदलनात्मक महारास आरम्भ हुआ, जिसके स्मरणमात्र से भी मानव के दुरित विनष्ट होजाते हैं। स्मरण रहे–यह रासलीला उसी उदपति आधिदैविक कृष्णचन्द्र की लीला का भौतिक प्रतीक है, जैसाकि नाक्षत्रिक वैदिक रासप्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है। इसी अभिप्राय से रास का उपक्रम करते हुए शुकमुनि ने कहा है—

ताभि समेताभिरुदारचेष्टित —
प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युत ।
उदारहास-द्विजकुन्ददीधिति–
र्व्यरोचतैणाङ्क इवोडुभिर्वृत ॥

रास क्या आरम्भ हुआ! अब मानो कामदेव का मत्सरूप से दर्पदलन आरम्भ हुआ। अथवा यों कह लीजिए कि, स्वयं भगवान् ने इस रासनत न–तायब्ध से मानो रतिपति को उद्दिश्य कर करके ही पराजित करना आरम्भ किया। कैसे ?, तो सुनिए।

बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरु–
नीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः ।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणा–
मुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार ॥

मैवं विभो ! ऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं !
सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम् ।
भक्ता, भजस्व ! दुरवग्रह मा त्यजास्मान् !
देवो यथादिपुरुषो भजते मुमुक्षून् ॥

भागवतीय-रामलीला पर आक्षेप करने वाले अरे ओ बुद्धिमानो ! दृष्टिपात का अनुग्रह तो करो गोपियों के इस मार्मिक वचन पर । अरे तर्कधुरन्धरो ! कुछ तो शिक्षा ग्रहण करो इस उद्बोधनमन्त्र से । छोड़ने का अनुग्रह तो करो अपने इस सर्वविनाशक उस अभिनिवेश को, जो अभिनिवेश मानव को तत्त्वपूर्ण ज्ञानविज्ञाननिष्ठा से पराङ्मुख कर अन्ततोगत्वा उसकी 'मानव' अभिधा को ही विस्मृति के गर्भ में विलीन कर दिया करता है ।

क्या कह रही हैं गोपियाँ ?, अवधान पूर्वक-अक्षरों पर ध्यान दीजिए ।। हे विभो ! अर्थात् हे व्यापक ! हे सर्वव्यापक सर्वेश्वर पूर्णब्रह्म ! क्या आपने ऐसा कुछ समझ लिया है कि, हम आपको केवल सुन्दर-सलोना-आकर्षक मानवमात्र समझ कर आप से प्रेम करने वाली आई हैं अपनी रहस्य-मर्य्यादाओं का परित्याग कर ! मैवम् ! छोड़ दीजिए आप अपनी इस कल्पना को ! यदि आपने इसी को लक्ष्य बना कर हमारी यों अवहेलना की है, तो । स्मरण रखिए ! हम आई हैं संसार की यच्चयावत् लौकिक-काम वासनाओं का परित्याग कर आपके चरणारविन्दों की पराभक्ति करने । हम प्रेमिकाएँ नहीं हैं आपकी, अपितु 'भक्ता' हैं-'भक्ता-भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्' । आप हमारा यों परित्याग न कीजिए ! अवहेलना न कीजिए ! (क्योंकि आप कर ही न सकेंगे हमारी अवहेलना) । क्या और भी अधिक स्पष्टीकरण चाहते हैं आप हमसे इस सम्बन्ध में ! । तो-'देवो यथादिपुरुषो-पुरुषो भजते मुमुक्षून्' ही पर्य्याप्त मान लिया जायगा इस दिशा में । अर्थात्-जिस प्रकार आप ही का पारमेष्ठ्य गोलोक-निवासी अव्यय-लक्षण-पूर्णरूप जिस प्रकार तदुपासक-चिन्तक मुमुक्षु योगियों पर अनुग्रह करता रहता है, एवमेव उसी भावना से

आपको हम पर अनुग्रह करना चाहिए। क्योंकि हम उसी मुमुक्षा-भावना से यहाँ उपस्थित हुई हैं।

आगे चल कर गोपियोंने— 'प्रेष्ठो भवाँस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा'—
'तन्नः प्रसीद परमेश्वर ! मा स्म छिन्द्या'—
'ध्यानेन याम पदयो पदवीं सखे ते'—
'तद्वयं च तव पादरज प्रपन्ना,'—
'प्राप्ता विसृज्य-वसतीस्त्वदुपासनाशा '—
'तृप्तात्मनां पुरुषभूषण ! देहि दास्यम्'—

इसप्रकार अपना विशुद्ध आध्यात्मिक स्वरूप व्यक्त किया। और परिणाम-स्वरूप कन्दर्पदर्पदलनात्मक महारास आरम्भ हुआ, जिसके स्मरणमात्र से भी मानव के दुरित विनष्ट होजाते हैं। स्मरण रहे—यह रासलीला उसी उत्पत्ति आधिदैविक कृष्णचन्द्र की लीला का मौलिक प्रतीक है जैसाकि नाद्यन्तिक वैदिक रासप्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है। इसी अभिप्राय से रास का उपक्रम करते हुए शुकमुनि ने कहा है—

ताभिः समेताभिरुदारचेष्टित —
प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युत ।
उदारहास-द्विजकुन्ददीधिति-
र्व्यरोचतैणाङ्क इवोडुभिर्वृत ॥

रास क्या आरम्भ हुआ ! अब मानो कामदेव का प्रत्यक्षरूप से दर्पदलन आरम्भ हुआ। अथवा यों कह लीजिए कि, स्वयं भगवान् ने इस रासनर्तन-तारडव से मानो रतिपति को उद्दीप्त कर करके ही पराजित करना आरम्भ किया। जैसे ?, तो सुनिए !

बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरु-
नीवीस्तनालमननर्म्मनखाग्रपातैः ।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणा-
मुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार ॥

मैवं विभो ! ऽर्हति भवान् गदितुं नृशंस !
सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम् ।
भक्ता, भजस्व ! दुरवग्रह मा त्यजास्मान् !
देवो यथादिपुरुषो भजते मुमुक्षून् ॥

भागवतीय-रासलीला पर आक्षेप करने वाले अरे ओ बुद्धिमानो ! दृष्टिपात का अनुग्रह तो करो गोपियों के इस मार्म्मिक वचन पर । अरे तर्कधुरन्धरो ! कुछ तो शिक्षा ग्रहण करो इस उद्बोधनसूत्र से । छोड़ने का अनुग्रह तो करो अपने इस सर्वविनाशक उस अभिनिवेश को, जो अभिनिवेश मानव को तत्त्वपूर्णा ज्ञानविज्ञाननिष्ठा से पराङ्मुख कर अन्ततोगत्वा उसकी 'मानव' अभिधा को ही विस्मृति के गर्भ में विलीन कर दिया करता है ।

क्या कह रही हैं गोपियाँ ?, अवधान पूर्वक-अक्षरों पर ध्यान दीजिए ! । हे विभो ! अर्थात् हे व्यापक ! हे सर्वव्यापक सर्वेश्वर पूर्णब्रह्म ! क्या आपने ऐसा कुछ समझ लिया है कि, हम आपको केवल सुन्दर-सलोना-आकर्षक मानवमात्र समझ कर आप से प्रेम करने वाली आर्त हैं अपनी पारस्य-मर्य्यादाओं का परित्याग कर ? नैवम् ! छोड़ दीजिए आप अपनी इस कल्पना को ! यदि आपने इसी का लक्ष्य बना कर हमारी भी प्रतारणा की है, तो । स्मरण रखिए ! हम आई हैं संसार की यच्चयावत् लौकिक-काम वासनाओं का परित्याग कर आपके चरणारविन्दों की पराभक्ति करने । हम प्रेमिकाएँ नहीं हैं आपकी अपितु 'भक्ता' हैं-'भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्' । आप हमारा भी परित्याग न कीजिए ! अवहेलना न कीजिए ! (क्योंकि आप कर ही न सकेंगे हमारी अवहेलना) । क्या और भी अधिक स्पष्टीकरण चाहते हैं आप हमसे इस सम्बन्ध में ? । तो-'देवो यथादिपुरुषो-पुरुषो भजते मुमुक्षून्' ही पर्य्याप्त मान लिया जायगा इस दिशा में । अर्थात्-जिस प्रकार आप ही का पारमेष्ठ्य गोलोक-निवासी अव्यय-अक्षर-पूर्णरूप जिस प्रकार उपासक-तपस्वी मुमुक्षु योगियों पर अनुग्रह करता रहता है, एवमेव उसी भावना से

शून्य-शून्यं ही एकमात्र जागरूक बना हुआ है। सापेक्ष है-'त्याग' शब्द, जो अनिवार्य्यरूप से संग्रह की ही अपेक्षा रख रहा है। संग्रह हो जायगा, तब न त्याग होगा। नहीं तो बिना संग्रह के त्याग का अर्थ होगा-कायक्लेशमात्र का अनुगमन करते हुए, राष्ट्र में एक प्रकार की श्रीविहीनता-शून्यता-अभागता-सर्वथा रिक्तता की शुष्क-उद्वेगकारी घोषणाओं से प्रत्यक्षप्रभावापन्न संस्कृतिसत्त्वशून्य गतानुगतिक भ्रान्त भावुक मानवों को आकर्षित करते हुए अन्ततोगत्वा इनके साथ साथ अपने आपको भी कीनाशनिकेतन (यमसदन) का सम्मान्य अतिथि बना लेना।

ऐसा ही तो कुछ घटित-विघटित हुआ है विगत १ सहस्र वर्षों से सर्वसमृद्धि शाली अध्यात्मनिष्ठ इस भारतराष्ट्र में, जिसके दुष्परिणामस्वरूप जगन्मिथ्यात्व-मूलक इस 'त्याग' ने हमें अपने ज्ञानसहकृत विज्ञानकोश से वञ्चित किया, हमारा राज्य-साम्राज्य सार्वभौम वैराज्य पद धूलिधूसरित किया और अन्ततोगत्वा हम, और हमारा राष्ट्र इस कल्पित त्याग-तपस्या से रह गया शून्य शून्य-मात्र। महद्भाग्य से आज पुनः हमारे राष्ट्र ने वह विलुप्त वैभव प्राप्त किया है। अतएव अत्यन्त सावधानी से निष्ठापूर्वक अपने राष्ट्र की चिरन्तना वैदिक-अध्यात्मनिष्ठा को मूलाधार बनाते हुए ही हमें अपने इस साम्राज्यवैभव को इस सर्वहित लोकवैभव को *'आमृत्योः श्रियमन्विच्छेत्-नैना मन्येत दुर्लभाम्' (मनु) 'अजितु जेतुं मनुचिन्तयेत्-न क्वचिदप्यसंबुद्धिमाद्ध्यात्' (श्रुति) इस श्रौत-स्मार्त आदेश को शिरोधार्य्य कर अपने सम्मिलित राष्ट्रीय प्रयास से राष्ट्र को उत्तरोत्तर पुष्पित-पल्लवित ही करते जाना है। कहीं ऐसा न हो कि, गन्धर्वनगरलेखा से समतुलिता प्रत्यक्षप्रभावमूला भावुकता से प्रभावित हो कर हमारा यह अभिनव स्वतन्त्र राष्ट्र पुनः अपनी उसी भूल को दोहरा बैठे, जिस भूलने आज तक भारत राष्ट्र को राष्ट्रसमृद्धि से तो बनाए रक्खा था वञ्चित, एवं आत्म-बुद्धि-मन-शरीर-निष्कम्पना परतन्त्रता से कर रक्खा था समन्वित। यही रासपञ्चाध्यायी के इन पावन-संस्मरणों से सम्बन्ध रखने वाले 'मारविजय' का वह लोकशिक्षात्मक पक्ष है जिसका यह प्रासङ्गिक विश्लेषण हो पड़ा है।

भगवान् के इस मारविजयात्मक रासप्रकरण से आगे चल कर एकबार पुन गोपियों में 'मद'-'मान व्यक्त हो पड़ता है, और उसी क्षण सर्वेश्वर भगवान्-

---

*-दुर्भाग्यवश विगत कुछ एक शताब्दियों से भारतीय प्रज्ञा जगन्मिथ्यात्ववादमूला कल्पिता सर्वथा भ्रान्ता वेदान्तभावना से

क्या समस्त विश्व में 'मारविजय' का ऐसा कोई दूसरा उदाहरण मिल सकेगा ?, असम्भव। अशीति ८ वर्ष में आकर तो सभी अपने आपको मारविजेता उद्घोषित कर सकते हैं। केलपत्र-रसपान के द्वारा तो अपनी कामशक्ति को नष्ट कर युवापुरुष भी 'कामारि' बन सकते हैं, प्रकृति-विरुद्ध कायक्लेश-कल्पित तप-संयम के द्वारा अपने मानव-जीवन को-'अव्यक्ता हि-गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते' के अनुसार बाह्य-प्रदर्शनमात्र के लिए अपने आपको कामविजेता वीतराग प्रमाणित कर सकते हैं। किन्तु कामसाधक सम्पूर्ण साधन-परिग्रहों के विद्यमान रहते विश्व के प्राकृतिक सौन्दर्य्य को अपने दाम्पत्य-गृहस्थ-जीवन से सुव्यवस्थित बनाए रखते हुए संयमपूर्वक जीवनपथ पर संघर्ष-द्वारा चलते हुए कामविजय करना ही तो वास्तविक कामविजय है। कामासक्ति के परित्याग का ही नाम ऋषिदृष्टि में कामविजय है, न कि कम्मपरित्याग का नाम कामविजय।

'काम्यानां कर्म्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः' ही यहाँ के सन्यास की, तपस्वी संन्यासी वीतराग की सहज परिभाषा है, जिसका आदर्श स्थापित हुआ है भगवान् के इस रासक्रीड़न से। सर्वसंग्रहात्मक लोकसौन्दर्य्य में निष्काम-भाव से प्रतिष्ठित रहना ही भारतीय वेदशास्त्र के 'त्याग' की वह मौलिक परिभाषा है, जो वैदिक-तत्त्ववाद की विलुप्ति के कारण दुर्भाग्यवश आज विलुप्त हो चली है। एवं तत्स्थान में गृहस्थधर्म्म-प्रतिबन्धिका वैसी कल्पित वेदान्तनिष्ठा जागरूक हो पड़ी है जिसने प्रकृति विरुद्ध 'त्याग' का डिण्डिम घोष कर वैदिक आर्ष मानवधर्म्म का अभ्युदय-निःश्रेयस्-संग्राहक समस्त लौकिक ऐश्वर्य्य, तथा आत्मिक शान्तिभाव सर्वात्मना ही अभिभूत कर दिया है। संग्रह ही यहाँ के त्याग की प्रतिष्ठा है। संग्रह करते हुए निष्काम-भाव से एक ओर जहाँ राष्ट्र का मौलिक बाह्य सौन्दर्य्य पुष्पित पल्लवित होता रहता है, वहाँ इस भूतैश्वर्य्य के साथ साथ प्रक्रान्त रहने वाली निष्कामभावना से राष्ट्र का आभ्यन्तर-आध्यात्मिक विकास भी उत्तरोत्तर सुविकसित होता रहता है। यही है यहाँ के त्याग और तपश्चर्य्या का चिरन्तन इतिहास। जीवन के उदीयमान क्षणों में ही त्याग-तपश्चर्य्या की उच्च घोषणा करना तो वैसा एक सर्वपरिग्रहशून्य जैसे त्यागी-तपस्वी की निरर्थक घोषणा ही मानी जायगी, जिसके लौकिक आध्यात्मिक-दोनों क्षेत्र अभी संग्रह से वञ्चित रहते हुए प्रकृत्या ही त्यागी बने हुए हैं।

ऐसे त्यागीजी और तपस्वीजी कदापि 'त्याग' शब्द के उच्चारणमात्र के भी अधिकारी नहीं माने जा सकते हैं, जिनके इस प्रारम्भिक कोश में नास्तिकार

ईश्वरानुग्रह से प्राप्त ऐश्वर्य्य, तथा (प्राप्त) आत्मनिष्ठा के प्रति मानव को दुर्भाग्यवश यदि मद और अतिमानात्मक अभिमान हो पड़ता है, तो यह ऐश्वर्य्य, यह ईश्वरता, यह साम्राज्यवैभव व्यष्टि-समष्टिरूप से पुनः विलीन हो जाया करता है उक्त वचन से यह लोकशिक्षा भी हमें मिल रही है। भगवान् फिर मिलते हैं गोपियों को, किन्तु अत्यन्त तपश्चर्या के साथ। यही स्थिति मानव की समृद्धियों में विवक्षित है। मद-मान-दम्भ-छल-कपट-ईर्ष्या-आदि से जब मानव प्राप्त ईश्वरीय वैभव से वञ्चित हो पड़ता है, तो इसे उसी प्रकार रोना पड़ता है, जैसे कि-'रुरुदुः सुस्वरम्' रूप से इसी मद-मान से अन्तर्हित ईश्वर के लिए पुनः रोना पड़ा था गोपियों को, एवं अत्यन्त कष्टसाध्य प्रयासों के अनन्तर जब गोपियों का यह सौभाग्यैश्वर्य्य-मद उपशान्त हो गया था, तो तदनन्तर ही भगवान् अभिव्यक्त हो सके थे। किस उपाय से गोपियोंने पुनः किस रूप से पूर्णेश्वर को प्राप्त कर अपना भक्तिरैश्वर्य्य सुरक्षित किया, प्रश्न का उत्तर भी श्रीशुकमुनि से ही सुनिए।

* इति-गोप्यः प्रगायन्त्य प्रलपन्त्यश्च चित्रधा।
रुरुदुः सुस्वरं राजन् ! कृष्णदर्शनलालसाः ॥
तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरस्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥

साथ ही इनके सहजसिद्ध आत्मानुगत प्रसादगुण की अभिव्यक्ति के लिए ही भगवान् कृष्ण गोपियों के मध्य में से सहसा अन्तर्विलीन (परोक्ष) ही हो गए"।

*—इसप्रकार गोपियाँ कृष्णगुणगान करतीं हुई, अनेक प्रकार के करुणापूर्ण विलाप करतीं हुई सम्मिलितरूप से स्वरसन्धान-पूर्वक रोनें ही लग पड़ीं (जो कि स्वन 'गोपीगीत' नाम से प्रसिद्ध है)। कृष्ण के पुनः दर्शन की लालसा से ही गोपियों का यह करुण-गान उपक्रान्त बना। (प्रार्थनात्मक इस विलाप से शुद्धसत्त्व-भाव में परिणत हो जाने वाली गोपियों के मध्यम में) सहसा शूरसेन के पौत्र अतएव 'शौरि' नाम से प्रसिद्ध वे भगवान् प्रकट हो पड़े, जो मृदु-मन्द हास कर रहे थे, जिनके गले में विजयमाला पड़ी

— तासां तत्सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशव ।
प्रशमाय, प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत ॥

आत्यन्तिकरूप से भावुक प्रमाणित होती हुई सर्वविनाशक 'सन्तोष' पथ की अनुगामिनी बन रही है, जो कि 'सन्तोष' सर्व-समृद्धि मोक्ष आर्य-मानव के लिए अभिशाप ही माना है श्रुति-स्मृति-शास्त्र ने । इसी सम्बन्ध में उद्बोधन कराते हुए राजर्षि मनु ने कहा है—

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ।
आमृत्योः श्रियमन्विच्छेत्, नैनां मन्येत दुर्लभाम् ॥
—मनुः ४।१३७

तात्पर्य्य यही है कि, "मानव अपने गत-मुक्त-जीवन की असफल धार्मों-असमृद्धियों-दरिद्रताओं-से कदापि अपने आपकी भर्त्सना न करे कभी इन असफलताओं से किसी भी अंश में निराश न बने । अपितु मृत्युक्षण-पर्य्यन्त श्रीसम्पत्ति-ऐश्वर्य्य-की ही निरन्तर कामना करता रहे । और अपने (नैष्ठिक पुरुषार्थ के समतुलन में) कभी इन समृद्धियों को दुर्लभ-असम्भव-न माने" ।

इसी स्मा र्तवचन का-'अजितं जेतुमनुचिन्तयेत्०' इत्यादि मौत-वचन से समर्थन हुआ है, जिसका तात्पर्य्य यही है कि,-मानव जिस भी लौकिक-तथा वैदिक-आत्मिक सम्पत्ति से वञ्चित है, जो भी कुछ अजित-अप्राप्त है उसे प्राप्त करने के लिए मानव को निरन्तर अध्यव-सायपूर्वक-निष्ठापूर्वक प्रवृत्त रहना ही चाहिए । कदापि इसे किसी भी क्षेत्र में 'अलम्' बुद्धि (अर्थात्-बस-बस-अब हमें कुछ नहीं करना है, इस प्रकार की निराशा) नहीं रखनी चाहिए" ।

— जब गोपियों में यह समझने की भूल कर बासी कि हमनें तो अपने भक्ति-बल पर आज सगुणब्रह्म को अपने वश में कर लिया है, तो इस अभिमान से गोपियों का अन्तस्तल सहसा उस मान-दम्भ का ही अनुगामी बन गया, जो मानाविमान आत्मस्वरूप का महान् प्रतिबन्धक माना गया है । इसी को नष्ट करने के लिए-"गोपियों के इस सौभाग्य-मद को लक्ष्य बना कर ही इस मदमान के उपशमन के लिए,

ईश्वरानुग्रह से प्राप्त ऐश्वर्य्य, तथा (प्राप्त) आत्मनिष्ठा के प्रति मानव को दुर्भाग्यवश यदि मद और आत्ममानात्मक अभिमान हो पड़ता है, तो यह ऐश्वर्य्य, यह ईश्वरता, यह साम्राज्यवैभव व्यष्टि-समष्टिरूप से पुनः विलीन हो जाया करता है, उक्त वचन से यह लोकशिक्षा भी हमें मिल रही है। भगवान् फिर मिलते हैं गोपियों को, किन्तु अत्यन्त तपश्चर्य्या के साथ। यही स्थिति मानव की समृद्धियों में विघटित है। मद-मान-दम्भ-छल-कपट-ईर्ष्या-आदि से जब मानव प्राप्त ईश्वरीय वैभव से वञ्चित हो पड़ता है, तो इसे उसी प्रकार रोना पड़ता है, जैसे कि-'रुरुदुः सुस्वरम्' रूप से इसी मद-मान से अन्तर्हित ईश्वर के लिए पुनः रोना पड़ा था गोपियों को, एवं अत्यन्त कष्टसाध्य प्रयासों के अनन्तर जब गोपियों का यह सौभाग्यैश्वर्य्य-मद उपशान्त हो गया था तो तदनन्तर ही भगवान् अभिव्यक्त हो सके थे। किस उपाय से गोपियोंने पुनः किस रूप से पूर्णेश्वर को प्राप्त कर अपना भक्तिरैश्वर्य्य सुरक्षित किया, प्रश्न का उत्तर भी श्रीशुकमुनि से ही सुनिए।

* इति-गोप्य प्रगायन्त्य प्रलपन्त्यश्च चित्रधा।
रुरुदु सुस्वरं राजन्! कृष्णादर्शनलालसाः॥
तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरस्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः॥

साथ ही इनके सहजसिद्ध आत्मानुगत प्रसादगुण की अभिव्यक्ति के लिए ही भगवान् कृष्ण गोपियों के मध्य में से सहसा अन्तर्विलीन (परोक्ष) ही हो गए"।

*-इसप्रकार गोपियाँ कृष्णगुणगान करती हुई, अनेक प्रकार के करुणापूर्ण विलाप करती हुई सम्मिलितरूप से स्वरस गान-पूर्वक रोने ही लग पड़ीं (जो कि रुदन 'गोपीगीत' नाम से प्रसिद्ध है)। कृष्ण के पुन दर्शन की लालसा से ही गोपियों का यह करुण-गान उपक्रान्त बना। (प्रायश्चित्तात्मक इस विलाप से शुद्धसत्त्व-भाव में परिणत हो जाने वाली गोपियों के मध्यम में) सहसा शूरसेन के पौत्र अतएव 'शौरि' नाम से प्रसिद्ध वे भगवान् प्रकट हो पड़े, जो मृदु-मन्द हास कर रहे थे, जिनके गले में विजयमाला पड़ी

यहाँ आकर परास्त हो गए हैं कामदेव सर्वात्मना। भगवान् का पूर्णावतारत्व अवनतशिरस्क बन कर कामदेव ने भी स्वीकार कर लिया है। क्योंकि 'आत्मन्यवरुद्धसौरतः' रूप से कामदेव भगवान् की आत्मसीमा में ही विलीन हो गए थे। आज के इस नवीनरूप से प्रकटीभूत भगवान् न तो नन्दनन्दन हैं, न वसुदेवनन्दन हैं। अपितु आज तो ये 'शौरि' भगवान् हैं। महान् पौरुष में विश्वपराम करने के अनन्तर योद्धा भारतीय यशःख्यापन-मर्य्यादा में पिता के नाम से प्रसिद्ध न हो कर अपने यशस्वी पितामहादि के 'यशोनामों' से ही व्यवहृत होता है। अतएव इस दृष्टि से भगवान् राम रघुवंशी कहलाए हैं। अर्वाचीन भारत में भी भारतीय संस्कृतिरक्षक क्षत्रियकुलकमलदिवाकर महाराणा प्रताप बाप्पारावल के ही वंशज माने गए हैं। आज भगवान् ने मानो वैसा पौरुष व्यक्त किया है, जो विश्व के इतिहास में प्रत्यक्ष इतिहास की इदमा सम्भवतः प्रमुख घटना है। इस कामविजयोपलक्ष में ही पराजित स्वयं कामदेव ने मानो इनके गले में विजयमाल डाल दी है। और नतमस्तक होकर प्रणतभाव से कहा है कि, भगवन् सचमुच आप शौरि हैं। अर्थात् शूरसेन जैसे महान् शूरवीर बाबा के शूरवीर ही पौत्र हैं, जिन्होंने मुझ जैसे विश्वविजयी मन्मथ कामदेव के मद का मन्थन कर आज 'मन्मथमन्मथ' उपाधि प्राप्त करली है। भगवन्! इस कामदेव ने आज तक सभी का विमोहन किया है। किन्तु आज आपने इस काम का भी विमोहन कर लिया है। और यों आज मुझ कन्दर्प का दर्पदलन करते हुए आप 'मदनमोहन' नाम से प्रसिद्ध हो गए हैं विश्व में, जो पद निश्चयेन कामारि भगवान् शङ्कर से भी अतिक्रान्त प्रमाणित हो रहा है। उन्होंने मुझे भस्म कर 'कामारि' उपाधि अवश्य प्राप्त करली। किन्तु उसी के व्यामोहनानुग्रह से वे मेरा विमोहन न कर सके। सचमुच आज अपने उसी हिरण्मयतेजोरूपा हैमवती उमा नाम की चिन्मयि जगन्माता पीताम्बरा से अभिन्न प्रमाणित होते हुए अपने पारमेष्ठ्य-पीताम्बर स्वरूप को अक्षरशः चरितार्थ करने वाले आप अणोरणीयान्-महतोमहीयान् अक्षरब्रह्मात्मक पूर्णेश्वर ही हैं।

हुई थी, जिन्होंने पीताम्बर-धारण कर रक्खी थी। एवं जो आज (इन-बाह्य प्रतीकों से) 'मन्मथमन्मथ' ही (कामदेव के दर्प को विगलित करने वाले ही) प्रमाणित हो रहे थे'।

क्या अब भी कुछ सन्देह रह गया है रासपञ्चाध्यायी के सम्बन्ध में ? । यदि हाँ, तो निम्न लिखित कतिपय वचनों का मननानुग्रह कीजिए । अवश्य ही शेष सन्देह भी शरदभ्रवत् विलीन हो जायँगे —

न खलु गोपिकानन्दनो भवान् —
अखिल-देहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये—
सख उदेयिवान्सात्वतां कुले ॥
तत्रोपविष्टो भगवान् स ईश्वरो—
योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासन ।
चकास गोपीपरिषद्गतोऽर्चित—
स्त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर्दधत् ॥
एवं परिष्वङ्गकराभिमर्श—
स्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः ।
रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभि—
र्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः ॥
एवं शशाङ्कांशुविराजिता निशा —
स सत्यकामोऽनुरताबलागणः ।
सिषेव 'आत्मन्यवरुद्धसौरत'—
सर्वा—'शरत्काव्यकथारसाश्रया' ॥ *

---

*—(भगवान् कृष्ण के सर्वेश्वरात्मक ब्रह्मस्वरूप को अभिव्यक्त करती हुई गोपियाँ करुणास्वर से यों कहने लगीं कि) हे भगवन् । यह हम सर्वथा सर्वात्मना निश्चयरूप से जानती हैं कि, आप केवल गोपिका-नन्दन ही नहीं हैं यशोदानन्दन ही नहीं हैं । अपितु भगवन् ! आप तो हम सब जीवों के (भोक्ता सुपर्णों के) साक्षी (सुपर्ण) रूप अन्तर्यामी आत्मा हैं । भोक्ता-जीवसुपर्णों के 'सखा' रूप हे साक्षी सुपर्ण ! ("द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया"-श्रुति) आपने तो सर्वलोकस्रष्टा (आदि प्रकृतिरूप)

सर्वज्ञ शुकमुनि ने परीक्षित के इस सशय का जैसा मूलोत्पाटन किया है, उसके विश्लेषण के लिए अब आज समय शेष नहीं है। प्रसङ्गवश में केवल यह समाधान-वचन श्रवण ही पर्याप्त मान लेना चाहिए कि—

> यत् पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ता—
> योगप्रभावविधुताखिलकर्म्मबन्धा।
> स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमाना—
> स्तस्येच्छयात्तवपुषः कुत एव बन्धः॥

राजन्! सावधान! फिर भूल कर रहे हो। अरे! जिनके चरणकमल की रजमात्र के स्मरणमात्र से स्वयोगानुष्ठान में प्रवृत्त योगी अपने कर्म-बन्धनों को क्षणमात्र में काट फैंकते हैं, जिनके कृपा-बल पर सम्पूर्ण विधि-निषेधों के बन्धन से मुनिजन विमुक्त होकर स्वच्छन्द विचरण करने लग पड़ते हैं उन लीलामय, किन्तु तत्वतः अलीला भगवान् के इस ऐच्छिक मानवशरीर से भगवान् बन्धन में आ जायँगे, यह कल्पना भी करना महापाप है। सुन! अवधानपूर्वक सुन! श्रद्धायुक्त आस्था के आधार पर निष्ठापूर्वक निदिध्यासन का अनुगामी बन। अवश्य तेरे सभी सन्देह दूर हो जायँगे। एवं शापमुक्त बन कर अवश्य ही तू शान्तिलाभ कर लेगा—

> ≟ गोपीनां तत्पतीनाञ्च सर्वेषामेव देहिनाम्।
> योऽन्तश्चरति, सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्॥

कैसे और क्यों कर डाला ? । ब्रह्मन्! सचमुच आप्तकाम (आत्मकाम-निष्काम) भी भगवान् कृष्ण ने ऐसा लोकदुष्पा जो निन्दनीय कर्म्म कर डाला क्या रहस्य है इस कर्म्म का ? । कृपा कर आप मेरे इस सहज सन्देह को दूर कर दिए'॥

≟—जो कृष्णाऽव्ययतत्त्व गोपियों उनके पतियों एवं सम्पूर्ण जीव-धारियों के अन्तःकरणावच्छिन्न 'महान्' के गर्भ में 'चिदाभास' रूप से प्रतिष्ठित है, उस अव्ययेश्वर ने ही ('लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'—इस व्याससिद्धान्त के अनुसार-धर्म्म संस्थापन के लिए) क्रीड़ा से ही भूलोक में मानुषावतार लिया है।

*-अनुग्रहाय भूताना मानुष देहमास्थित ।
भजते तादृशी क्रीडा या श्रुत्वा तत्परो भवेत ॥
नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया ।
मन्यमाना स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकस ॥
ब्रह्मरात्र उपावृत्ते वासुदेवानुमोदिता ।
अनिच्छन्त्यो ययुर्गोप्य, स्वगृहान् भगवत्प्रिया ॥

श्रद्धा-समन्विता आस्था के अनुगामी बन जाते हैं हम शुकमुनि के इस स्पष्टीकरण से। किन्तु इस सम्बन्ध में हम केवल एक प्रश्न और करने की धृष्टता कर सकते हैं महामुनि शुकदेव से ? । अवश्य। यही तो निगमागमपुराणमूला भारतीय संस्कृति की यह महती विशेषता है, जिसके सम्बन्ध में कहा गया कि-'यस्तर्केणा-नुसंधत्ते, स धर्मं वेद, नेतर' (मनु) । जो तर्क-प्रमाण-युक्ति-ज्ञान, सर्वोपरि विज्ञान की कसौटी से प्रमाणित हो, उसी सिद्धान्त के प्रति हमें आस्था-श्रद्धा करनी चाहिए । इसीलिए तो नास्तिकमत के व्याख्याता श्रीजाबालि के प्रति सनातन की सकारण व्याख्या करते हुए अन्त में भगवान् रामचन्द्र ने जाबालि को यों उद्बोधन प्रदान किया है कि—

*—वे अव्ययेश्वर भगवान् प्राकृतिक जीवभावों पर अनुग्रह करने के लिए ही मानव-स्वरूप धारण कर तद्द्वारा वैसी) मानुषी लीलायें करते रहते हैं, जिनका स्मरण कर लोकमानव ईश्वरपरायण बन जायें।

क्या तुम ऐसा समझते हो कि, गोपियों के बिना इनके पति-पुत्र-बन्धु-आदि चिन्ताकुल बने रहे ? । भूलते हो। विदित होता है, अभीतक 'शाप' के प्रभाव से तुम ईश्वरता के समिकट पहुंचे ही नहीं । सुनो। योगमायी भगवान की योगमाया से समन्वित हो जाने वाले उन व्रजगोपों ने अपनी अपनी पत्नियों को अपने सान्निध्य में ही देखा। (फलत· तुम्हारी लोकसम्मता अमर्य्यादा का तो यहाँ कोई प्रश्न ही शेष नहीं रह जाता)।

इस ईश्वराव्यय-अक्षरानुगता रासविहाररात्रि के उपरत होते ही भगवान् की आज्ञा से सभी व्रजाङ्गनायें स्व-स्व गृहों की ओर परावर्तित हो गई ।

सर्वज्ञ शुकमुनि ने परीक्षित के इस संशय का जैसा मूलोत्पाटन किया है, उसके विश्लेषण के लिए अब शास्त्र समय शेष नहीं है। अन्ततः में केवल यह समाधान-वचन श्रवण ही पर्याप्त मान लेना चाहिए कि—

यत् पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ता—
योगप्रभावविधुताखिलकर्म्मबन्धा।
स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमाना—
स्तस्येच्छयात्तवपुषः कुत एव बन्धः॥

राजन्! सावधान! फिर भूल कर रहे हो। अरे! जिनके चरणकमल की रजमात्र के स्मरणमात्र से सयोगानुष्ठान में प्रवृत्त योगी अपने कर्म-बन्धनों को क्षणमात्र में काट फेंकते हैं, जिनके कृपा-बल पर सम्पूर्ण विधि-निषेधों के बन्धन से मुनिजन विमुक्त होकर स्वच्छन्द विचरण करने लग पड़ते हैं उन लीलामय, किन्तु तत्त्वतः अलिप्त भगवान् के इस ऐच्छिक मानवशरीर से भगवान् बन्धन में आ जायेंगे, यह कल्पना भी करना महापाप है। सुन! अवधानपूर्वक सुन! श्रद्धायुक्त आस्था के आधार पर निष्ठापूर्वक निर्दिष्टमार्ग का अनुगामी बन। अवश्य तेरे सभी सन्देह दूर हो जायेंगे। एवं शापमुक्त बन कर अवश्य ही तू शान्तिलाभ कर लेगा—

ॠ गोपीनां तत्पतीनाञ्च सर्वेषामेव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति, सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्॥

कैसे, और क्यों कर डाला? । ब्रह्मन्! सर्वथा आप्तकाम (आत्मकाम-निष्काम) भी भगवान् कृष्ण ने ऐसा लोकदृष्ट्या जो निन्दनीय कर्म्म कर डाला क्या रहस्य है इस कर्म्म का? । कृपा कर आप मेरे इस सहज सन्देह को दूर कर दिजिए!॥

ॠ—जो कृष्णाभयतत्त्व गोपियों उनके पतियों एवं सम्पूर्ण जीव-धारियों के अन्तःकरणावच्छिन्न 'महान्' के गर्भ में 'चिदाभास' रूप से प्रतिष्ठित है, उस अव्ययेश्वर ने ही ('लोकवत्तुलीलाकैवल्यम्'—इस व्याससिद्धान्त के अनुसार-धर्म्म संस्थापन के लिए) क्रीड़ा से ही भूलोक में मानुषावतार लिया है।

*–अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः ।
भजते तादृशीः क्रीडा या श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥
नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया ।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः ॥
ब्रह्मरात्र उपावृत्ते वासुदेवानुमोदिताः ।
अनिच्छन्त्यो ययुर्गोप्यः स्वगृहान् भगवत्प्रियाः ॥

श्रद्धा-समन्विता आस्था के अनुगामी बन जाते हैं हम शुकमुनि के इस स्पष्टीकरण से। किन्तु इस सम्बन्ध में हम केवल एक प्रश्न और करने की धृष्टता कर सकते हैं महामुनि शुकदेव से ? । अवश्य। यही तो निगमागमपुराणमूला भारतीय संस्कृति की यह महती विशेषता है, जिसके सम्बन्ध में कहा गया कि–'यस्तर्केणानुसंधत्ते, स धर्म्मं वेद, नेतरः' (मनु)। जो तर्क–प्रमाण–युक्ति–ज्ञान, सर्वोपरि विज्ञान की कसौटी से प्रमाणित हो उसी सिद्धान्त के प्रति हमें आस्था–श्रद्धा करनी चाहिए। इसीलिए तो नास्तिकमत के व्याख्याता श्रीजाबलि के प्रति सत्याग्रह की सकारण व्याख्या करते हुए अन्त में भगवान् रामचन्द्र ने जाबलि को यों उद्बोधन प्रदान किया है कि—

---

*–वे अव्ययेश्वर भगवान् प्राकृतिक जीवभावों पर अनुग्रह करने के लिए ही मानव–स्वरूप धारण कर तत्तद्भाव वैसी मानुषी लीलाएँ करते रहते हैं, जिनका स्मरण कर लोकमानव ईश्वरपरायण बन जायँ।

क्या तुम ऐसा समझते हो कि, गोपियों के बिना इनके पति–पुत्र–बन्धु–आदि चिन्ताकुल बने रहे ?। भूलते हो। विदित होता है, अभीतक 'शाप' के प्रभाव से तुम ईश्वरता के सन्निकट पहुँचे ही नहीं। सुनो! योगमायी भगवान् की योगमाया से समन्वित हो जाने वाले उन व्रजगोपों नें अपनी अपनी पत्नियों को अपने सान्निध्य में ही देखा। (फलतः तुम्हारी लोकसम्मता मर्यादा का तो यहाँ कोई प्रश्न ही शेष नहीं रह जाता)।

इस ईश्वराव्यय-अनुगता रासविहाररात्रि के उपरत होते ही भगवान् की आज्ञा से सभी व्रजाङ्गनाएँ स्व-स्व गृहों की ओर परावर्तित हो गई।

सर्वज्ञ शुकमुनि ने परीक्षित के इस संशय का ऐसा मूलोत्पाटन किया है, उसके विश्लेषण के लिए अब यहाँ समय शेष नहीं है। तत्सम्बन्ध में केवल यह समाधान-वचन श्रवण ही पर्याप्त मान लेना चाहिए कि—

> यत् पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ता—
> योगप्रभावविधुताखिलकर्म्मबन्धा ।
> स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमाना—
> स्तस्येच्छयात्तवपुषः कुत एव बन्धः ॥

राजन् ! सावधान ! फिर भूल कर रहे हो। अरे ! जिनके चरणकमल की रजमात्र के स्मरणमात्र से सयोगानुष्ठान में प्रवृत्त योगी अपने कर्म-बन्धनों को क्षणमात्र में काट फैंकते हैं, जिनके कृपा-बल पर सम्पूर्ण विधि-निषेधों के बन्धन से मुनिजन विमुक्त होकर स्वच्छन्द विचरण करने लग पड़ते हैं उन लीलामय, किन्तु तत्त्वतः असीम भगवान् के इस ऐच्छिक मानवशरीर से भगवान् बन्धन में आ जायँगे, यह कल्पना भी करना महापाप है। सुन ! अवधानपूर्वक सुन ! महाप्राज्ञ आस्था के आधार पर निष्ठापूर्वक निदिध्यासन का अनुगामी बन। अवश्य तेरे सभी सन्देह दूर हो जायँगे। एवं शापमुक्त बन कर अवश्य ही तू शान्तिलाभ कर लेगा—

> ÷ गोपीनां तत्पतीनाञ्च सर्वेषामेव देहिनाम् ।
> योऽन्तश्चरति, सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक् ॥

कैसे, और क्यों कर डाला ? । ब्रह्मन् ! सर्वथा आप्तकाम (आत्मकाम-निष्काम) भी भगवान् कृष्ण ने ऐसा लोकरुद्या जो निन्दनीय कर्म्म कर डाला क्या रहस्य है इस कर्म्म का ? । कृपा कर आप मेरे इस सहज सन्देह को दूर क दिए ! ॥

÷—जो कृष्णाख्यमहत्त्व गोपियों उनके पतियों एवं सम्पूर्ण जीवधारियों के अन्तःकरणावच्छिन्न 'महान्' के गर्भ में 'चिदाभास' रूप से प्रतिष्ठित है, उस अध्यक्षेश्वर ने ही ('लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'—इस व्याससिद्धान्त के अनुसार-धर्म्म संस्थापन के लिए) क्रीडा से ही भूलोक में मानुषावतार लिया है।

महिमा से ही सद्गति के अधिकारी बन गए हैं। अतएव आपको, और इसी सम्बन्धविधि से आपके श्वासप्रश्वासरूप वेदपुराणादि शास्त्रों को जो एक प्रकार से (मानने वालों की भी अपेक्षा कहीं अधिक आवेश से) मान रहे हैं, भद्रपुरुष की साक्षी से हे परमकारुणिक! आप की ओर से इनके उद्धार का भी अवश्य ही अनुभव होता रहेगा, यही हमारा नम्र आवेदन है। रही बात हमारी, सो हम अपने सम्बन्ध में तो—

> अस्माकन्तु निसर्गसुन्दर ! चिराच्चेतो निमग्नं त्वयी-
> त्यद्धाऽऽनन्दनिधे !, तथापि तरलं नाद्यापि सन्तृप्यते ॥
> तन्नाथ ! त्वरितं विधेहि करुणां येन त्वदेकाग्रतां—
> याते चेतसि नाप्नुयाम शतशो याम्याः पुनर्यातनाः ॥

महामहिम राष्ट्रपति महाभाग !

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र भारतराष्ट्र के सर्वोच्च सत्तापद को समलङ्कृत करने वाले आप जैसे गरिमा-महिमामय संस्कृतिनिष्ठ मानवश्रेष्ठ के आदेश को शिरोधार्य कर सुप्रसिद्ध संस्कृतिनिष्ठ सुधार माननीय श्री डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल महोदय की प्रेरणा से प्रभुसत्तासम्पन्न इस राष्ट्रपतिभवन में निरन्तर पाँच दिवस पर्यन्त भारतीय संस्कृति के आधारभूत वेद-पुराण शास्त्र की कुछ एक उन ज्ञान-विज्ञान-परिभाषाओं के सम्बन्ध में यथामति कुछ निवेदन करने का जो महद्भाग्य प्राप्त हुआ तदर्थ यह आश्रित वेदवीथी-पथिक मरुभूमिनिवासी साहित्यसेवी किन शब्दों में आपके प्रति कृतज्ञता समर्पित करे यह समझ में नहीं आरहा।

महाभाग !

किसी भी सम्प्रदायवाद, किंवा मतवाद से कोई भी सम्बन्ध न रखने वाली भारतीय संस्कृति का ज्ञान-विज्ञानात्मक कोश तो एक ऐसा महान् कोश है, जिसे भारतराष्ट्र ने विगत द्वि-त्रि-सहस्राब्दियों से प्रमत्त बने रहने वाले मानवीय कल्पनानुगत मतवादों के आवरण से विस्मृत ही कर दिया है। अत्यन्त ही नम्रता से अपने राष्ट्र के अपने ही सम्मान्य महामहिम राष्ट्रपति महाभाग के प्रति राष्ट्रीय-हितानुबन्ध से सम्भवत ही क्यों, निश्चय ही हम अपने आपको इस राष्ट्रीय महान

इसके लिए कोई उपाय न बतला सका वेदपुराणशास्त्र, तो यह इस की निर्बलता ही मानी जायगी। तो सर्वान्त में उस उपाय को भी लक्ष्य बना लीजिए!

इत्येवं श्रुति-नीति-सम्प्लवजलैर्भूयोभिराक्षालिते।
येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशया ॥
किन्तु प्रस्तुतविप्रतीपविधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तका।
काले कारुणिक! त्वयैव कृपया ते भावनीया नराः ॥
—न्यायकुसुमाञ्जलिः

ईश्वरसत्ता के अनन्य संस्थापक स्वनामधन्य प्रातःस्मरणीय श्रीउदयनाचार्य्य स्वयं ईश्वर को सम्बोधन कर उन्हीं से यह कामना कर रहे हैं कि—"भगवन्! हमने श्रुति–नीति–आगम–पुराण–युक्ति–आदि निर्म्मलीकरण तत्त्वविशेषों से समन्वित ज्ञानीय–वारिधारा से उन मानवों के हृदयों के विशोधन का भी प्रयास किया जो आपकी सत्ता न मान कर नास्तिवाद के ही अनुगामी बने हुए हैं। क्या उनका हृदय पाषाण से बना है? । नहीं। तो सम्भवतः पत्थर के भी सार से इनका हृदय बना होगा?। नहीं। तो निश्चयेन इस पत्थर के सार का भी जो सुसूक्ष्म आशय है, उसी से उनके आशयात्मक मन्तव्यों का निर्म्माण हुआ होगा। और शैलसाराशयता के कारण ही भगवन्! हमारा वेदपुराणज्ञानीय–जल इनके हृदयों का परिमार्जन नहीं कर सका होगा। तो क्या भगवन्! आप इनका उद्धार नहीं करेंगे? भगवन्! ऐसा होना तो नहीं चाहिए। आप तो विश्वम्भर हैं। आप कहेंगे, इसने हमारी सत्ता तो मानी ही नहीं?। क्षमा करेंगे भगवन्! हमें हमारी इस धृष्टता के लिए कि–प्रतीपविधि से इन्होंने भी एक प्रकार से आप की सत्ता मान ही ली है। यही नहीं। भगवन्! हमें तो यह भी निवेदन कर देने में कोई संकोच नहीं हो रहा कि, ईश्वरसत्ता पर आस्था–श्रद्धा रखने वाले आस्तिकों से भी कहीं अधिक ये आप की सत्ता मान रहे हैं। क्या प्रमाण?, भगवन्! आपकी काल–विभूति ही इसका प्रमाण है। कालपुरुष ही साक्षी प्रदान करेगा कि, अमुक नास्तिकोंने प्रचण्ड उद्घोष के साथ—'हम ईश्वर को नहीं मानते', नहीं मानेंगे ईश्वर को–व्यर्थ है ईश्वर की मान्यता' इत्यादिरूप से आपका बड़े ही आवेश के साथ संस्मरण तो कर ही लिया। सुनते आ रहे हैं भगवन्! आप ही के विरमस्त इतिहासरूप शास्त्र से ऐसा कि, पूतना, शिशुपाल रावण, कंसादि आपके साथ शत्रुता करते हुए भी आपकी इस प्रतीपविधात्मिका भाव–

महिमा से ही सद्गति के अधिकारी बन गए हैं। अतएव आपको, और इसी सरक्षणविधि से आपके श्वासप्रश्वासरूप वेदपुराणादि शास्त्रों को भी एक प्रकार से (मानने वालों की भी अपेक्षा कहीं अधिक आवेश से) मान रहे हैं, अतएव इसी पद्धति से हे परमकारुणिक! आप की ओर से इनके उद्धार का भी अवश्य ही अनुग्रह होता रहेगा, यही हमारा नम्र आवेदन है। रही बात हमारी, तो हम अपने सम्बन्ध में तो—

अस्माकन्तु निसर्गसुन्दर ! चिराच्चेतो निमग्नं त्वयी–
त्वद्धाऽऽनन्दनिधे !, तथापि तरलं नाद्यापि सन्तृप्यते ॥
तन्नाथ ! त्वरितं विधेहि करुणां येन त्वदेकाग्रतां—
याते चेतसि नाप्नुयाम शतशो याम्या पुनर्यातना ॥

महामहिम राष्ट्रपति महाभाग !

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र भारतराष्ट्र के सर्वोच्च सत्तापद को समलङ्कृत करने वाले आप जैसे गरिमा-महिमामय संस्कृतिनिष्ठ मानवश्रेष्ठ के आदेश को शिरोधार्य कर सुप्रसिद्ध संस्कृतिनिष्ठ सुधीवर माननीय श्री डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल महोदय की प्रेरणा से प्रभुसत्तासम्पन्न इस राष्ट्रपतिभवन में निरन्तर पाँच दिवस पर्य्यन्त भारतीय संस्कृति के आधारभूत वेद-पुराण शास्त्र की कुछ एक तन ज्ञान–विज्ञान–परिभाषाओं के सम्बन्ध में यथामति कुछ निवेदन करने का जो महद्भाग्य प्राप्त हुआ, तदर्थ यह आङ्गिरस वेदवीथी–पथिक मरुभूमिनिवासी साहित्यसेवी किन शब्दों में आपके प्रति कृतज्ञता समर्पित करे यह समझ में नहीं आ रहा।

महाभाग !

किसी भी सम्प्रदायवाद, किंवा मतवाद से कोई भी सम्बन्ध न रखने वाली भारतीय संस्कृति का ज्ञान-विज्ञानात्मक कोश तो एक ऐसा महान् कोश है, जिसे भारतराष्ट्र ने विगत द्वि–त्रि–सहस्राब्दियों से प्रभ्रान्त बने रहने वाले मानवीय कल्पनानुगत मतवादों के आवरण से विस्मृत ही कर दिया है। अत्यन्त ही नम्रता से अपने राष्ट्र के अपने ही सम्मान्य महामहिम राष्ट्रपति महाभाग के प्रति राष्ट्रीय-हितामर्ष से सम्भवतः ही क्यों, निश्चय ही हम अपने आपको इस राष्ट्रीय महान

उत्तरदायित्व के पावन सन्देश को पहुँचा देना अपना राष्ट्रीय कर्त्तव्य मान रहे हैं कि, आपके अनुग्रह से इस सम्प्रदायवादनिरपेक्ष मानवमात्र के लिए हितकर सांस्कृतिक कोश का शीघ्र से शीघ्र सभी भाषाओं के माध्यम से प्रचार होना ही चाहिए, जिस इस एकमात्र सांस्कृतिक बल पर ही विश्वव्यापक-'मानव' के समन्वय में मानवधर्म के व्याख्याता भगवान् मनु का यह प्रचण्ड उद्घोष पुनः स्वतन्त्र भारत में एक बार सभी दिशाओं को मुखरित करदे कि—

एतद् देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन ।
स्व स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ।

पुनः एकबार कृतज्ञतापूर्वक इस माङ्गलिक-सूक्ति—संस्मरण के साथ यह पद्मविवसीय वाङ्मय पत्रपुष्प अत्यन्त सम्मान के साथ अपने महामहिम राष्ट्रपति के प्रति समर्पित करते हुए इस रामार्थ का ही अनुभव कर रहे हैं।

इति दुरितविराम श्रीसिक्तान्ताभिराम'—
सुखुअनहृदयरामः कोऽप्यभूत् य स रामः ।
प्रकृसमनुसराम' पापपाशं सराम —
सुकृतसुधि चरामस्तस्य नाम स्मराम' ।
सर्वे भवन्तु सुखिन -सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाग्भवेत् ।

दातारो नोऽभिवर्द्धन्ताम् !
वेदा -सन्ततिरेव च !
बहुदेयं च नोऽस्तु !
अतिथींश्च लभेमहि !
श्रद्धा च मा नो व्यगमत् !
याचितारश्च नः सन्तु !
माच याचिष्म कञ्चन !

हमारे राष्ट्र में दाताओं की वृद्धि हो !
वैदिक-सत्यज्ञाननिष्ठ सुसन्ततियाँ उत्पन्न होती रहें !
हमारे राष्ट्रीय कोश में देने के लिए प्रभूत सम्पत्ति रहे !
हम सदा सम्मान्य अतिथि प्राप्त करते रहें !
हमारे राष्ट्रमानस में श्रद्धा सदा सुरक्षित रहे !
सभी राष्ट्र हमसे सदा माँगते रहें !
और
हम कभी कदापि किसी से भी कोई याचना न करें !

वेदशास्त्र के साथ पुराणशास्त्र का समन्वय
नामक
पञ्चम—वक्तव्य—उपरत
५

ओमित्येत्

मुक्तरक्तशर्म्मा आङ्गिरसो भारद्वाज
जयपत्तनाभिजन

उत्तरदायित्व के पावन सन्देश को पहुँचा देना अपना राष्ट्रीय कर्त्तव्य मान रहे हैं कि, आपके अनुग्रह से इस सम्प्रदायवादनिरपेक्ष मानवमात्र के लिए हितकर सांस्कृतिक कोश का शीघ्र से शीघ्र सभी भाषाओं के माध्यम से प्रचार होना ही चाहिए, जिस इस एकमात्र सांस्कृतिक बल पर ही विश्वव्यापक-'मानव' के सम्बन्ध में मानवधर्म्म के व्याख्याता भगवान् मनु का यह प्रचण्ड उद्घोष पुन: स्वतन्त्र भारत में एक बार सभी दिशाओं को मुखरित करदे कि—

एतद् देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन ।
स्व स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ।

पुन: एकबार कृतज्ञतापूर्वक इस माङ्गलिक-सूक्ति—संस्मरण के साथ यह पत्रादिवल्लीय वाङ्मय पत्रपुष्प अत्यन्त सम्मान के साथ अपने महामहिम राष्ट्रपति के प्रति समर्पित करते हुए हम रामहर्ष का ही अनुभव कर रहे हैं।

इति दुरितविरामः कीर्त्तिकान्ताभिरामः—
सुमुजनहृदयरामः कोऽप्यभूत् य स रामः ।
अकृतमनुसरामः पापपाशं हरामः—
सुकृतभुवि चरामस्तस्य नाम स्मरामः ॥
सर्वे भवन्तु सुखिनः-सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाग्भवेत् ।

दातारो नोऽभिवर्द्धन्ताम् !
वेदाः—सन्ततिरेव च !
श्रद्धेयं च नोऽस्तु !
अतिथींश्च लभेमहि !
श्रद्धा च मा नो व्यगमत् !
याचितारश्च नः सन्तु !
माच याचिष्म कञ्चन !

श्री

"वेदशास्त्र के साथ पुराणशास्त्र का समन्वय"

नामक

पञ्चम—वक्तव्य—उपरत

५